श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित-

श्री प्रवचनसार टीका

दूसरा खण्ड

अथवा

ज्ञेयतत्वदीपिका।

टीकाकार—

श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर

ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी,

ऑ० सम्पादक "जैनमित्र" सूरत।

प्रथमावृत्ति] वैशाख वीर सं० २४५१ [प्रति १२००

'जैनमित्र" के २५वें वर्ष के ग्राहकोंको सेठ इच्छाराम
कम्पनीवाले ला० बद्रीप्रसादजीके सुपुत्र-
सेठ चिरञ्जीलालजी जैन रईस बैंकर
पानीपत (पञ्जाब) की तरफसे भेट।

मूल्य १।।।) एक रुपया बारह आना।

प्रकाशक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
ऑ० प्रकाशक जैनमित्र व मालिक
दिगम्बर जैन पुस्तकालय, चन्दावाड़ी-सूरत।

मुद्रक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
'जैनविजय' प्रेस खपाटिया चकला
सूरत Surat

भूमिका।

इस श्री प्रवचनसार परमागमको **श्री वर्द्धमान** भगवानके समान प्रमाणीक दिगम्बर जैन पट्टावलीके अनुसार विक्रम संवत ४९ में प्रसिद्ध श्री **कुंदकुंदाचार्य**जी महाराजने प्राकृत गाथाओंमें रचकर जो धार्मिक तथा अध्यात्मीक रस भर दिया है उसका स्तवन वाणीसे होना अशक्य है।

इसकी एक संस्कृतवृत्ति दशम शताब्दीमें प्रसिद्ध श्री **अमृतचन्द्र** आचार्यने की है। उसीके पीछे प्राय उसी समयमें दूसरी संस्कृतवृत्ति परम अनुभवी श्री **जयसेनाचार्यजी**ने रची है। प्रथम वृत्तिका कुछेक अंश लेकर हिन्दी भाषाटीका श्रीयुत आगरा निवासी विद्वान पंडित हेमराजजीने की है। यद्यपि संस्कृत वृत्तिके शब्दोंके अनुसार भाषाटीका लिखनेका प्रयास जहांतक विदित है अभीतक किसी जैन विद्वानने नहीं किया है।

दूसरी संस्कृतवृत्तिकी भाषाटीका अभीतक किसी विद्वान् द्वारा देखनेमें नहीं आई। श्री जयसेनाचार्यकृत वृत्ति सरल, विस्तारयुक्त तथा विशेष अध्यात्मिक है इस लिये हमने अपनी शक्ति न होनेपर भी केवल धर्मभावनाके हेतु हिन्दी भाषा लिखनेका उद्यम किया है।

इस ग्रंथके तीन अधिकार हैं जिनमें **ज्ञानतत्वदीपिका** प्रथम अधिकार प्रकाशित हो चुका है। यह **ज्ञेयतत्वदीपिका** दूसरा अधिकार है। तीसरा **चारित्रतत्वदीपिका** भी लिखा जाचुका है। केवल मुद्रण होना शेष है। इस अधिकारको वि० संवत १९८०की वर्षातमें पानीपत जिला करनालमें ठहरकर पूर्ण किया था।

इसको प्रकट कराकर **जैनमित्र**के ग्राहकोंको उपहारमें देनेका उत्साह श्रीयुत इच्छाराम कम्पनीवाले लाला **बन्नीदासजी**के सुपुत्र लाला **चिरंजीलाल**जीने दिखलाया है। इसलिये उनकी शास्त्रभक्ति सराहनीय है। ग्रंथके पाठकोंको उचित है कि इसे रुचि व विचारके साथ पढ़ें, सुनावें तथा इसका मनन करें और यदि कहीं कोई भूल अज्ञान तथा प्रमादसे हो गई हो तो सज्जन पत्र व्यवहार करके हमें सूचित करें हम उनके अत्यन्त आभारी होंगे।

सूरत शहर चंदावाड़ी
वीर सं० २४५१
माघ सुदी ३
ता० १३-१-२५ मंगलवार

जैन धर्मकी उन्नतिका पिपासु-
ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

सूचीपत्र।

श्री ज्ञेयतत्त्वदीपिका।

श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर पूज्य—
ब्र० शीतलप्रसादजी।
(समयसार नियमसार समाधिशतक, प्रवचनसार आदिके टीकाकार
व गृहस्थधर्म, आत्मधर्म आदिके रचयिता तथा
ऑ० सम्पादक 'जैनमित्र" सूरत।)

श्रीमान स्वर्गीय—
लाला वद्रीदासजी रईस एण्ड बकर्स,
मालिक-फर्म इच्छाराम एण्ड कम्पनी, मेरठ।

Jain V iaya P ce Surat

श्रीमान् लाला चिरंजीलाल जैन रईस, पानीपत।

(सुपुत्र लाला बद्रीदासजी रईस)

संक्षिप्त परिचय।

लाला चिरंजीलालजी बैंकर पानीपत

पानीपत-यह युधिष्ठिरादि पाचो पाडवोंमेंसे किसी अन्यतम पाडवका वसाया हुआ एक अति प्राचीन ऐतिहासिक प्रसिद्ध स्थान है। यह पजाब प्रान्तमें देहलीसे ५९ मील उत्तरकी दिशामें ई० आई० आर० रेलवेकी लाइनपर स्थित है। पानीपतसे कुछ दूरपर कुरुक्षेत्रके मैदानमें कौरव और पाडवोंका महाभारत युद्ध हुआ था और इसी मैदानमें विक्रम सवत १६०० से अबतक दो तीन बादशाहोंके इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हो चुके हैं।

वर्तमानमे इस नगरकी जनसख्या अनुमान तीसहजार (३००००) के है। जिसमें तीन हिस्से मुसलमान और एक हिस्सेमें जैन तथा हिन्दू है।

यहापर अनुमान ३०० घर अग्रवाल जैनियोंके है और चार श्री जिनमदिर हैं। इनमें बडे मदिरकी बिल्डिग अति विशाल है। वृद्ध जनोंमे यह जनश्रुति चली आरही है कि पूर्व समयमें यहा पर २२ बाईस मदिर तथा चैत्यालय थे, पूर्वजनोंने उनका ह्रास देख कर सब जीर्ण मदिरोकी प्रतिमायें उठवाकर बडे मदिरजीमें विराजमान करवा दीं। यह बड़ा मदिर वर्तमान समयमें विशाल दुर्गके समान बना हुआ है। दूसरे बाजारवाले मदिरमें सुनहरी तथा मीनाकारीका काम भी दर्शनीय है। उसमें अनुयोगोंके अनुसार क्षेत्रोंके नक्शे तथा पौराणिक भावोंके चित्र बड़ी मनोहरतासे चित्रित किये गये हैं। यहाके पीतलके बर्तन और ऊनी कम्बल प्रसिद्ध हैं जो यहासे बहुत दूर देशान्तरोंको जाते है। यहाके जैनी भाई

मध्यम स्थितिके व्यवहार कुशल, उद्योगी, धर्मात्मा तथा विद्याप्रेमी है। यहाकी जैन समाजके सामाजिक सगमके प्रेम और उत्साहसे १२००) रुपये माहवारी खर्चसे चलनेवाली जैन हाईस्कूल और श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीके करकमलोंसे स्थापित संस्कृत धर्म विद्यालय नामकी संस्थायें बराबर काम कर रही है।

मदिरोंका प्रबंध भी अत्युत्तम है। गत वर्षके चौमासेकी उपस्थितिमें उक्त ब्रह्मचारीजीकी ही प्रेरणासे पानीपतके सिरनी सरायके मुहल्लेमे पचायतकी तरफसे एक चैत्यालय बन रहा है। गत साल यहाकी जैन समाजने करनाल जिलेके ग्रामवासी जैनियोंका अज्ञानरूप अधकार हटानेके लिये उपदेशकों द्वारा जैन धर्मका प्रचार भी कराया था।

इसी नगरमें अग्रवाल वशके सिंहल गोत्रमें लाला इच्छाराम-जीके घर लाला कुमुमरीरामजी उत्पन्न हुए जिनके पुत्ररत्न लाला बद्रीदासजी हुए इन्होंने अपने पुण्योदय तथा उद्योगबलसे वर्तमान गवर्नमेन्टसे-पेशावर, नौसेरा, रिसालपुर, रावलपिंडी, स्यालकोट, लाहौर, फीरोजपुर, जालधर, अम्बाला, मेरठ, मथुरा, लखनऊ, कानपुर, फैजाबाद, इलाहाबाद, दानापुर, कलकत्ता, मऊ छावनी, नसीराबाद और नीमच शहरके सेनाविभागकी कोषाध्यक्षता प्राप्त की जिससे बहुत कुछ द्रव्य और यशका उपार्जन किया। आप धर्मात्मा और दानशील भी थे। आपने विक्रम स० १९६२में बिरादरीने अनुमान साड़ेछैसौ ६५० आदमियोंको साथ लेकरके तीर्थक्षेत्र श्री गिरनारजीका सघ चलाया था और उसके कुछ वर्ष बाद सवत १९६६ में तीर्थक्षेत्र श्री हस्तिनापुरजीका भी

सघ चलाया था। उनकी स्त्री श्रीमती श्री मुन्नीबाईसे शुभ मिती आश्विन शुक्ला २ विक्रम सवत १९४८ ईस्वीको लघु पुत्र लाला चिरजीलालजीका शुभ जन्म हुआ। चिरजीलालजीके इस समय छोटी स्त्रीसे उत्पन्न १ एक पुत्री और ९ पुत्ररत्न विद्यमान हैं।

ऊपर वर्णन किये गये बाजारवाले मदिरकी विम्बप्रतिष्ठा सवत १९६९ में हुई थी। उस समय लाला बद्रीदासजीकी तरफसे प्रतिष्ठामे आये हुए अनुमान वीसहजार भाइयोंका ज्योनारादिकसे पाच दिनतक बराबर जैनधर्मके प्रभावनार्थ सत्कार किया गया था। आपने बाजारके मदिरमें सुनहरी तथा चित्रकारीका काम करानेके लिये अच्छी सहायता की थी।

वर्तमानमें चलती हुई "**जैन हाईस्कूल**" और सस्कृत धर्मविभाग नामकी सस्थाओंमें भी आप मासिकरूपमें अच्छी सहायता देरहे हैं व आपने स्कूलमें एक कमरा भी अपनी तरफसे बनवा दिया है। और यथावसर धार्मिक तथा पचायती कामोंमें द्रव्यादिककी सहायता देनेमें भी कमी नहीं करते हैं। आप पानीपतके खिरनी-सरायके मुहल्लेमें रहते हैं। वह शहरसे अनुमान एक मील दूर है।

उस मुहल्लेमे जैनियोंके दश या बारह घर हैं। वे शहरमें दर्शन करनेसे वचित रहते थे। इसलिए गत साल चौमासेकी स्थितिमें श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने प्रेरणा करके वहांपर चैत्यालय बनानेकी आवश्यकता दिखाई थी। उस समय आपने अपना असीम धर्मप्रेम प्रदर्शित कर चैत्यालय बननेके लिये २१००) रुपयेकी रकम चिट्ठेमें लिख दी थी। अब वह चैत्यालय बन रहा है।

सन् १९२१में जो संघ श्री जैनबद्री मूडबद्रीजीका लाला हुकमचन्द जगाधरमल दिल्लीवालोंने चलाया था उनके साथ आप भी दर्शनके लिये सकुटुम्ब गये थे। उस मौकेपर श्री जैनबद्रीजीमें रथयात्रा हुई थी उसमें आप ९००) सौसो रुपये देकर श्री जिनेन्द्र भगवानकी सवारीमें बैठे थे।

आप आजकल नेशनल बैंक आफ इण्डिया कानपुर तथा इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया स्यालकोटके बड़े खजानची हैं। पंजाब गवर्मेन्टने आपको स्यालकोट जिलेमें नोटेरी पबलिक भी बनाया हुवा है।

गत वर्ष ब्र० शीतलप्रसादजीके यहां (पानीपत) चौमासा करनेकी खुशीमें आपने तमाम बिरादरीको अपनी तरफसे प्रीति भोज भी दिया था।

इस साल यहां चैत्रके वार्षिक रथोत्सवके समयपर पंजाब प्रांतिक सभाका अधिवेशन हुआ था। उस समय श्रीमान् ब्रह्म चारीजीकी प्रेरणासे लाला चिम्मीलालजीने प्रवचनसारकी जैन तत्वप्रदीपिकाकी हिन्दी टीकाके प्रकाशनार्थ तथा यह "जैनमित्र" के ग्राहकोंको उपहारार्थ देनेके लिये नगदात ९००) रु० देनेकी स्वीकारता दे दी थी। उन्ही धर्मात्मा महोदयकी सहायतासे यह ग्रन्थ आप पाठक महानुभावोंके दृष्टिगोचर होरहा है। शुभमिति।

विनीत लेखक—
फुल्जारीलाल जैन ट्रेंड शास्त्री,
जैन हाई स्कूल,
पानीपत।

शुद्धाशुद्धिपत्र ।

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१८	१७	होने	होते हुए
३३	२	लायग	लेयग
४०	९	उनको	उनकी
,,	६	अवस्थामई	अवस्था भई
४२	६	जटल	अटल
४३	९	यहा अरहत	(यहा अरहत पनेमे मतलव है)
४४	१४	ध्रौव्य	व्यय ध्रौव्य
४५	१४	प्रत्यभिज्ञाम	प्रत्यभिज्ञाध
४६	३	होती है–	होता है–
४७	१३	कारण	कारण
५४	११	ऐसी	ऐसा
६१	९	पर्याव	पर्याय
७६	१४	तद् भाव	तन्भाव
,,	१५	अतद्भाव	अतद्भाव
७८	२२	सो द्रव्यकी	पर्यायकी सत्ता है–सो द्रव्यकी सत्ता
७९	९	इन द्रव्य	द्रव्य
८८	८	स्येत स्य	स्येतस्य
९०	१६	सदसदभाव	सदसद्भाव
९४	१६	शुद्धोपयीग	शुद्धोपयोग

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
१०९	२२	अभेदस्वरू	अभेद स्वरूप
११९	७	महत्व	महत्त्व
,,	९	वकार	विकार
१२३	१९	मूल	भूल
१२९	८	मवो	भवो
१२९	१२	वैसा नित्य	वैसा
१६८	२३	थिरता	जैसे शुद्ध ध्यानके मढ़ानेवालेके मनकी थिरता
१४६	१९	क्योंकि	क्योंकि एकेन्द्रिय
१४८	११	१०४	१९४
१९२	१३	आ	हुआ
१९६	१०	कारण	करण
१९८	१९	३९	३६
१९८	१७	३९	३६
१६१	२२	परिणमन	परिणाम
१६६	२२	अनत	अनत
१६७	१२	अरुलघु	अगुरुलघु
१६८	९	समुवाय	समुद्घात
१७४	१०	पुगलरस	पुग्गलरस-
१८०	२४	सयमतद्दा	सयमतदो
१८४	८	गध है	गध
१९२	७	सूक्ष्म	सूक्ष्मस्थूल
१९९	१३	पदेश	प्रदेश

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२०३	१६	जगहमिल जगहमिल	जगहमिल
२१२	१५	समव	समव
२२३	१४	इन्द्रिय	इंदिय
२२८	२	तेघा	तेघा
२३१	५	कथाय	कषाय
२३४	१७	कारिण्या	करिव्या
२३८	१९	अत्यित्त	अत्थित्तणिच्छिद
,,	२०	प	पज्जाया
२५०	१३	कलिमा	कालिमा
,,	१६	पूव	पूर्वं
२५३	१९	पुरयाका	पुरुषाकार
२५८	२२	सस्कार	ससार
२६२	१६	चित्तको	चित्त हो
२६८	१२	योग	प्रयोग
२७०	९	निणित्त	निमित्त
,,	१५	च्छुद्र	च्छुद्द
२७१	१७	सद्धो	सद्दो
२८३	१	आकर	आकार
२८४	२०	लोग	लोक
२८५	९	बाथर	बादर
२८७	४	निष्ठ	तिष्ठ
२९०	१३	वास्त	वास्तव

पृ०	ला०	अशुद्ध	शुद्ध
२९७	२१	क्षय	क्षय हो जाती
३१२	२१	कर्मबंधकी	कर्मबंधकी
३१७	९	अवगाही	अवगाही
३१८	१४	वस्तु स्वरूपके	वस्तु स्वरूपकी
४१९	१८	सम्बन्धी	सम्बन्ध
३२४	१	पारि	प
,,	१४	परमराग	शुभ राग
३३४	२३	करे	करे
३३६	९	परिणामन	परिणमन
३४७	२३	पापात्	यापान्
,,	,,	मकाशा	प्रकाश्या
३५३	२	नोकर्म	कर्म नोकर्म
३६१	१९	अपात	आपात
२६२	२३	ही	होता है यही
३६५	११	पिच्छपन	पिच्छयन
,,	१३	ज्ञाण	ज्ञाण
,,	१८	चउरे	चउरे
३६८	९	व	तब
३७७	२३	जाता ही	जाता है यही
३८२	९	हुआ हुआ	हुआ
३८३	२३	अभिलाषी	अभिलाषी
३९२	१२	हुए	हुए
,,	१४	इब्राहीम	इब्राहीम

श्री कुंदकुंदस्वामी विरचित—

श्री प्रवचनसारटीका । *

द्वितीय खण्ड अथवा

ज्ञेयतत्त्वदीपिका ।

दोहा—प्रथम नमों श्री आदिजिन, अन्त नमूं महावीर ।
तीर्थंकर चौबीस ये, वर्तमान गुणधीर ॥ १ ॥
प्रगटावो जिन धर्मको, सम्यक् सुखदातार ।
भविजन पावें सुमारग, तिरें भवोदधि पार ॥ २ ॥
तिनकी वाणी रसभरी, आतम अनुभवकार ।
बन्दों मन वच कायसे पाऊं भाव उदार ॥ ३ ॥
वृषभसेन आदिक हैं, गौतम गणधर सार ।
भद्रबाहु श्रुतकेवली, कुन्दकुन्द गुणधार ॥ ४ ॥
उमास्वामि महाराजवर, भद्र समन्त महान
पूज्यपाद इत्यादि गुरु, वंदूं उपजे ज्ञान ॥ ५ ॥
सिद्ध परम सुखके धनी, सत्य पदारथ सूर ।
परमातम पावन परम, नमूं तम हो दूर ॥ ६ ॥
श्रीमंधरको आदि ले, बीस विदेह सुनाथ ।
राजत समवसरण धरम, नमहुं जोड़ जुग हाथ ॥ ७ ॥
षोडश कारण भावना, दशलक्षण पर धर्म ।
रत्नत्रय हिंसा रहित नमहुं मर्म हर धर्म ॥ ८ ॥

---

*आगरा-[illegible] ता० ८-४-१९२३ [illegible]

ॐ

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित

श्री प्रवचनसार टीका

तृतीय खंड

अर्थात्

चारित्रतत्त्वदीपिका।
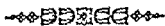
टीकाकार-

श्रीमान् जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर-

ब्रह्मचारीजी सीतलप्रसादजी.

समयसार, नियमसार, समाधिशतक, [illegible] उत्थानिका व गृहस्थधर्म, आत्मधर्म प्राचीन जैन स्मारक आदिके रचयिता तथा ऑ० सम्पादक "जैनमित्र व 'वीर'-सूरत।

प्रकाशक-

मूलचन्द किसनदास कापड़िया-सूरत।

[illegible]] फाल्गुन वीर सं० २४५२ [प्रति १३००

"जैनमित्र" के २६ वें वर्षके ग्राहकोंको इटावा निवासी लाला भगवानदासजी जैन अग्रवाल सुपुत्र लाला हुलासरायजीकी ओरसे भेंट।

मूल्य १॥।) एक रुपया बारह आना।

कथनकी मुख्यता है फिर " पाडुब्भवदि य अण्णो " इत्यादि दो गाथाओंमें द्रव्यकी पर्यायके निरूपणकी मुख्यता है। फिर " ण हवदि जदि सद्दव्वं" इत्यादि चार गाथाओंसे सत्ता और द्रव्यका अभेद है इस सम्बन्धमें युक्तिको कहते हैं। फिर "जो खलु दव्व-सहाओ" इत्यादि सत्ता और द्रव्यमें गुण गुणी सम्बन्ध है ऐसा कहते हुए पहली गाथा, द्रव्यके साथ गुण और पर्यायोंका अभेद है इस मुख्यतासे "णत्थि गुणोत्ति य कोई" इत्यादि दूसरी ऐसी दो स्वतन्त्र गाथाएं हैं। फिर द्रव्यका द्रव्यार्थिक नयसे सत्का उत्पाद होता है तथा पर्यायार्थिक नयसे असत्का उत्पाद होता है इत्यादि कथन करते हुए " एवं विह " इत्यादि गाथाएं चार हैं। फिर "अत्थित्ति य" इत्यादि एक सूत्रसे सप्तभंगीका व्याख्यान है। इस तरह समुदायसे चौबीस गाथाओंसे और आठ स्थलोंसे द्रव्यका निर्णय करते हैं।

आगे सम्यक्त्वको कहते हैं —

गाथा—

तम्हा तस्स णमाइं, किच्चा णिच्चंपि तं मणो होज्ज।
वोच्छामि संगहादो, परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ॥ १ ॥

संस्कृत छाया—

तस्मात्तस्य नमस्या, कृत्वा नित्यमपि तन्मना भूत्वा।
वक्ष्यामि संग्रहात् परमार्थविनिश्चयाधिगमं ॥ १ ॥

सामान्यार्थ—इसलिये उस साधुको नमस्कार करके तथा नित्य ही उनमें मन लगाकर संक्षेपसे परमार्थको निश्चय करानेवाले सम्यक्त ज्ञानको अथवा सम्यक्तके विषयभूत पदार्थको कहूंगा।

भूमिका।

यह श्री प्रवचनसार परमागमका तीसरा खंड है। इसके कर्ता स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य हैं जो मूलसंघके नायक व महान् प्रसिद्ध योगीश्वर होगए हैं। आप वि० सं० ४९ में अपना अस्तित्व रखते थे। इस तीसरे खण्डमें ९७ गाथाओंकी संस्कृतवृत्ति श्री जयसेनाचार्यने लिखी है जब कि दूसरे टीकाकार श्री अमृतचंद्राचार्यने केवल ७५ गाथाओंकी ही वृत्ति लिखी है। श्री अमृतचन्द्र महाराजने स्त्रीको मोक्ष नहीं होसक्ती है इस प्रकरणकी गाथाएं जो इसमें नं० २० से ४० तक हैं उनकी वृत्ति नहीं दी है। संभव हो कि ये गाथाएं श्री कुंदकुंदस्वामी रचित न हों, इसीलिये अमृतचंद्रजीने छोड़ दी हों। श्री जयसेनाचार्यकी वृत्ति भी बहुत विस्तारपूर्ण है व अध्यात्मरससे भरी हुई है। हमने पहले गाथाका मूल अर्थ देकर फिर संस्कृत वृत्तिके अनुसार विशेषार्थ दिया है। फिर अपनी बुद्धिके अनुसार जो गाथाका भाव समझमें आया सो भावार्थमें लिखा है। यदि हमारे अज्ञान व प्रमादसे कहीं भूल हो तो पाठकगण क्षमा करेंगे व मुझे सूचित करनेकी कृपा करेंगे। हमने यथासम्भव ऐसी चेष्टा की है कि साधारण बुद्धिवाले भी इस महान् शास्त्रके भावको समझकर लाभ उठा सकें। लाला भगवानदासजी इटावाने आर्थिक सहायता देकर जो ग्रन्थका प्रकाश कराया है व मित्रके पाठकोंको भेटमें अर्पण किया है उसके लिये वे सराहनाके योग्य हैं।

रोहतक
फागुन वदी ४ सं० १९८२
ता० २-२-२६

जिनवाणी भक्त—
ब्र० सीतलप्रसाद।

अपनेको भिन्न झलकता है। इस सम्यक्तके विषयभूत पदार्थमालिकाको कहते हुए आचार्यने उन साधुओंको द्रव्यभावसे नमन करके जिन्होंने सम्यक्त सहित चारित्रका यथार्थ पालन किया है उन साधुओंके द्वारा प्राप्त धर्मोपदेशको चित्तमें धारण किया है। आचार्य उसी उपदेशसे तन्मई होकर सक्षेपसे जीवादि पदार्थोंका व्याख्यान करते हैं। हम पाठकोंको भी योग्य है कि हम अपने उपयोगको सब तरफसे खींचकर इसी व्याख्यानके विचारमें तन्मय करें तब हमको भी यथार्थ बोध होगा और हमारे भीतर भी वही भाव झलकेगा जो श्री कुदकुद महाराजके अतरगमे इन सूत्रोंके व्याख्यानकालमें था। बिना एकाग्र भावके ज्ञानका विकाश नहीं होता है ॥ १ ॥

उत्थानिका—आगे पदार्थके द्रव्य गुण पर्याय स्वरूपको कहते हैं —

अत्थो खलु द व्वमओ, दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया, पज्जयमूढा हि परसमया ॥ २॥

अथ खलु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि।
तैस्तु पुन पर्याया पर्ययमूढा हि परसमया ॥ २ ॥

सामान्यार्थ—निश्चयसे पदार्थ द्रव्य स्वरूप है। द्रव्य गुण स्वरूप कहे गए हैं। उन द्रव्य व गुणोंके ही परिणमनसे पर्यायें होती हैं। जो पर्यायोंमें मोही हैं वे ही निश्चयसे परसमय रूप अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(खलु) निश्चयसे (अत्थो) ज्ञानका विषयभूत पदार्थ (दव्वमओ) द्रव्यमई होता है। क्योंकि वह पदार्थ तिर्यक् सामान्य तथा ऊर्द्धता सामान्यमई द्रव्यसे निष्पन्न होता है अर्थात् उसमें तिर्यक् सामान्य और ऊर्द्धता सामान्य

स्वरूप द्रव्य व गुणोंसे पर्यायें होती हैं । जो एक दूसरेमे भिन्न अथवा क्रमक्रममे हो उनको पर्याय कहते हैं यह पर्यायका लक्षण है । जैसे एक सिद्ध भगवानरूपी द्रव्यमे अतिम शरीरसे कुछ कम आकारमयी गति मार्गणामे विलक्षण सिद्धगति रूप पर्याय है तथा अगुरुलघु गुणमें षटगुणी वृद्धि तथा हानिरूप साधारण स्वाभाविक गुण पर्यायें हैं तैसे सर्व द्रव्योमें स्वाभाविक द्रव्य पर्यायें, स्वजातीय विभाव द्रव्य पर्यायें तसे ही स्वाभाविक और वैभाविक गुण पर्यायें होती हैं। " जेसिं अत्थिसहाओ " इत्यादि गाथामे तथा " भावा जीवादीया " इत्यादि गाथामे श्री पचास्तिकायके भीतर पहले कथन किया गया है सो यहाँमे यथासभव जान लेना योग्य है । (पज्जय मूढा) जो इस प्रकार द्रव्य गुण पर्यायका ज्ञानमे मूढ है अथवा मैं नारकी आदि पर्यायरूप नहीं हू इस भेदविज्ञानको न समझकर अज्ञानी हैं वे (हि) वास्तवमें (परसमया) परात्मवादी मिथ्यादृष्टी हैं । इसलिये यही जिनेन्द्र परमेश्वरकी कही हुई समीचीन द्रव्यगुण पर्यायकी व्याख्या कल्याणकारी है यह अभिप्राय है॥२॥

भावार्थ ज्ञानके विषयभूत पदार्थ होते हैं । पदार्थ निश्चयमे द्रव्यरूप होते हैं । द्रव्यमें सामान्यपना होता है । कालकी अपेक्षा हरएक भिन्न२ समयमे भी यह वही है ऐसी प्रतीतिको कराता है इसको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। यही द्रव्यका स्वभाव द्रव्यकी नित्यताका बनानेवाला है । तथा जो द्रव्य अनेक हैं जैसे जीव, पुद्गल और कालाणु उनमें हरएक समयमे सबको एक जाति रूपसे प्रतीति करानेवाला तिर्यक् सामान्य है । जितने जीव हैं उन सबको हम जातिकी अपेक्षा एक समझेंगे क्योंकि जीवपना उन

वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व तथा प्रमेयत्व ये सामान्य गुण हैं जो सर्व द्रव्योंमें साधारणतासे पाए जाते हैं। विशेष गुण वे हैं जो हरएक द्रव्यमें भिन्न२ होते हैं। जीवके विशेष गुण पुद्गलमें नहीं, पुद्गलके विशेष गुण जीवमें नहीं। जीवके विशेष गुण चेतना, सुख, वीर्य्य, सम्यक्त, चारित्र हैं, पुद्गलके विशेष गुण स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हैं, धर्मका विशेष गुण जीव पुद्गलको गति हेतुपना, अधर्मका स्थिति हेतुपना, आकाशका सबको अवगाह हेतुपना तथा काल द्रव्यका सबको वर्तना हेतुपना विशेष गुण हैं। यद्यपि द्रव्यमें अनंतगुण होते हैं परंतु ग्रन्थकारोंने थोड़ेसे ही गुण वर्णन किये हैं जिनसे हरएक द्रव्य भिन्न २ करके पहचाना जा सके। जब द्रव्योंकी पहचान होजाती है और उनका वर्ताव होने लगता है तब अन्य भी शक्तिया या गुण अनुभवमें आने लगते हैं। एक द्रव्यके सब गुण सब गुणोंमें परस्पर व्यापक होते हैं। जीवमें जहां चेतना है वहीं अन्य सर्व गुण हैं। जो द्रव्य अनेक हैं जैसे पुद्गल, जीव और कालाणु वे सदा अनेक रूप रहते हैं-कभी भी मिलकर एक रूप नहीं होजाते हैं। पुद्गलके परमाणुओंमें इतनी विलक्षणता है कि वे अलग भी रहते हैं तथा परस्पर स्निग्ध रूक्ष गुणके कारणसे मिल भी जाते हैं और तब वे स्कंध कहलाते हैं। ऐसे स्कंधोंमें परमाणु उद्दते भी रहते हैं और उनमें मिलते भी रहते हैं। ऐसा मिलना और बिछुडना जीवोंमें तथा कालाणुओंमें कभी न था, न है, न होगा। सर्व जीव सदासे जुदे जुदे हैं व रहेंगे-ऐसे ही सर्व कालाणु सदासे जुदे २ हैं व रहेंगे। पुद्गलका हरएक परमाणु अपने गुणोंकी समानताकी अपेक्षा

विभाव द्रव्य या व्यजन पर्याय है। तथा पुद्गलके स्कधोंका परमाणुओके मिलने या बिछुडनेसे आकारका बदलना सो विभाव व्यजन या द्रव्यपर्याय है। स्वभाव अर्थ या गुणपर्याय अगुरुलघु गुणके द्वारा सब शुद्ध द्रव्योके सब गुणोंमे होती हैं—इस स्वभाव परिणमनमें भी गुणोंका सदृशपना रहता है। जैसे सिद्ध आत्मामें जो अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य आदि है वे हरएक समय उतने ही बने रहते, कम व बढती नहीं होते। यदि कम व बढती होजावें तो उस परिणमनको विभाव परिणमन कहेंगे, स्वभाव परिणमन नहीं कह सके है। गुणोंके एक समान रहनेपर भी परिणमन इसीलिये मानना होगा कि वस्तुका स्वभाव द्रवण या परिणमन रूप है। हम अल्पज्ञानियोंको इस परिणमनका अनुभव अशुद्ध पुद्गल तथा जीवोंमें प्रत्यक्ष दीखता है। कपडा रक्खा रक्खा जीर्ण हो जाता है। ज्ञान अनुभव होते होते बढता जाता है। यदि परिणमन शक्ति गुण या द्रव्यमें न होती तो अशुद्ध द्रव्योंमे भी परिणमन न होता—जब होता है तब वह शक्ति शुद्ध द्रव्योंमें भी काम करती रहेगी। इसी अनुमानसे हम स्वभाव अर्थ या गुणपर्यायोंका अनुमान कर सक्ते हैं। विभाव अर्थ या गुणपर्यायें ससारी जीव तथा स्कधोमे होती हैं जैसे जीवके मतिज्ञान, श्रुतज्ञानादि व असयम या सयमके स्थानोंका परिणमन तथा स्कधोंमें रससे अन्य रस, गधसे अन्य गध, वर्णसे अन्य वर्ण, जैसे खट्टे आमका मीठा हो जाना। यहापर एक बात और जाननेकी है कि यद्यपि शुद्ध परमाणु जघन्य स्निग्धता रूक्षताकी अपेक्षासे अबध हैं परन्तु उसमें परिणमन होता रहता है जिससे कालांतरसे जब उसमें अधिक अश स्निग्धता या रूक्षताके

—⁂ जीवन चरित्र ⁂—

ला० भगवानदासजी अग्रवाल जैन इटावा नि० ।

यू० पी० प्रांतमें इटावा एक प्रसिद्ध बस्ती है । यहा अग्रवाल जातिकी विशेष सख्या है ।

यहा ही ला०भगवानदासजी अग्रवाल जैन गर्ग गोत्रके पूज्य पिता ला० हुलासरायजी रहते थे । आप बडे ही धीर व धर्मज्ञ थे। धर्मचर्चाकी धारणा आपकी विशेष थी। आपने श्रीगोम्मटसार, तत्वार्थसूत्र, मोक्षमार्गप्रकाश आदि जैन धर्मके रहस्यको प्रगट करनेवाले धार्मिक तात्विक ग्रन्थोंका कई बार स्वाध्याय किया था । बहुतसी चर्चा आपको कठाग्र थी । व्यापार बहुत शांति, समता व सत्यतासे स्वदेशी कपडेकी आढत व लेन देन आदिका करते थे । इटावेमें स्वदेशी कपड़ा अच्छा बनता है, जिसे आप अच्छे प्रमाणमें खरीदते थे और फिर आढतसे बाहर (अनेक शहरोंमें) व्यापारियोंको भेजा करते थे । सत्यताके कारण आपने अच्छी प्रसिद्धि इस व्यापारमे पाई थी और न्यायपूर्वक धन भी अच्छे प्रमाणमे कमाया था।

आपके ६ पुत्र व ३ पुत्रिया थीं, जिनकी और भी सतानें आज है । इन नौ पुत्र पुत्रियोंके विवाह आपने अपने सामने कर दिए थे व ६० वर्षकी आयुमें समाधिमरण किया था ।

आप अपनी मृत्युका हाल ४ दिन पहले जान गए थे अत पहले दिन धनका विभाग किया । आपने अपनी द्रव्यका ऐसा अच्छा विभाग किया कि अपनी सारी कमाईकी आधी द्रव्य तो मन्दिरजीको,

य परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्तत ।
अहमेव मयोपास्यो नान्य कश्चिदिति स्थिति ॥ ३१ ॥

अर्थात्–जो परमात्मा है सो ही मैं हूं, जो मैं हूं सो ही परमात्मा है इसलिये मेरेद्वारा मैं ही उपासनाके योग्य हूं अन्य नहीं ऐसा वस्तुका स्वभाव है।

तात्पर्य यह है कि निज स्वभावको जानकर सम्यग्दृष्टि होना चाहिये। यही हितका मार्ग है ॥ २ ॥

उत्थानिका–आगे यहां प्रसग पाकर परसमय और स्वसमय की व्यवस्था बताते हैं —

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥ ३ ॥

य पर्यायेषु निरता जीवा परसमयिका इति निर्दिष्टा ।
आत्मस्वभावे स्थितास्ते स्वकसमया मन्तव्या ॥ ३ ॥

सामान्यार्थ–जो जीव शरीर आदि अशुद्ध कर्मजनित अवस्थाओंमें लवलीन हैं वे परसमय रूप कहे गए हैं तथा जो जीव अपने शुद्ध आत्माके स्वभावमें ठहरे हुए हैं वे स्वसमयरूप जानने चाहिये।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(जे जीवा) जो जीव (पज्जयेसु णिरदा) पर्यायोंमें लवलीन हैं। अर्थात् जो अज्ञानी जीव अहकार तथा ममकार सहित हैं वे (परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा) परसमयरूप कहे गए हैं। विस्तार यह है कि मैं मनुष्य, पशु, देव, नारकी इत्यादि पर्याय रूप हूं इस भावको अहंकार कहते हैं व यह मनुष्य आदि शरीर तथा उस शरीरके आधारसे उत्पन्न पचेन्द्रियोंके विषय

द्रव्य भी खूब कमाया (जिसका ही यह परिणाम है कि आपकी इस गढाइ कमाईका उपयोग इस उत्तम मार्ग शास्त्रदानमें होरहा है।)

पश्चात् १९७१ में गल्ले वगैरहकी आढतका काम होमगज बाजारमें अपने पिताजीके नाम 'हुलासराय भगवानदास'से शुरू किया जो आज भी आप आनदके साथ कर रहे हैं व द्रव्य कमा रहे हैं।

श्रीमान जैनधर्मभूषण धर्मदिवाकर पूज्य ब्रह्मचारीजी शीतलप्रसादजी विगत वर्ष चातुर्मासके कारण आषाढ सुदी १४से कार्तिक सुदी ११तक इटावा ठहरे थे तब आपके उपदेशसे इटावाके भाई-जो धर्मसे प्राय विमुख थे-फिर धर्ममार्गमें लगगए। इटावामें जो आज कन्याशाला व पाठशाला दृष्टिगत होरही है वह आपके ही उपदेशका फल है। ला० भगवानदासजीके छोटे भाई लक्ष्मणप्रसादजीपर आपके उपदेशका भारी प्रभाव पड़ा, जिससे आपने २०)रु० मासिक पाठशालाको देनेका वचन दिया। इसके अलावा और भी बहुत दान किया व धर्ममें अच्छी रुचि हो गई है। इसी चातुर्मासमें पूज्य ब्रह्मचारीजीने चारित्रतत्वदीपिका (प्रवचनसार टीका तृतीय भाग) की सरल भाषा वचनिका अनेक ग्रन्थोंके उदाहरणपूर्ण अर्थ भावार्थ सहित लिखी थी, जो ब्रह्मचारीजीके उपदेशानुसार ला० भगवानदासजीने अपने द्रव्यसे मुद्रित कराकर जैनमित्रके २६ वें वर्षके ग्राहकोंको २८२१ने भेटकर जिनवाणी प्रचारका महान् कार्य किया है। आपकी यह धर्म व जिनवाणी भक्ति सराहनीय है।

आशा है अन्य लक्ष्मीपुत्र भी इसी प्रकार अन्य लिखी जानेवाली टीकाओंका प्रकाशन कराकर व ग्राहकोंको पहुचाकर धर्मप्रचारमें अपना कुछ द्रव्य खर्च करेंगे। प्रकाशक।

इक्को सहावसिद्धो सोह अप्पा वियप्प रिमुक्को ।
अण्णो ण मज्झ सरण सरण सो एक्क परमप्पा ॥ ३' ॥
अरस अरूव अगधो अव्वावाहो अणतणाणमओ ।
अण्णो ण मज्झ सरण सरण सो एक्क परमप्पा ॥ ३६ ॥
णाणाउ जो ण भिण्णो वियप्पभिण्णो सहावसुक्खमओ ।
अण्णो ण मज्झ सरण सरणं सो एक्क परमप्पा ॥ ४३ ॥
सुहअसुहभावविगओ सुद्धसहावेण तम्मय पत्तो ।
अण्णो ण मज्झ सरण सरण सो एक्क परमप्पा ॥ ४५ ॥

भावार्थ–मैं एक स्वभावसे सिद्ध रूप, विकल्प रहित आत्मा हूं, रस, रूप, गध, स्पर्शसे रहित, अव्याबाध तथा अनतज्ञानमई हूं, मैं अपने ज्ञानादि गुणोंसे भिन्न नहीं हूं किंतु अन्य विकल्पोंसे भिन्न हूं तथा स्वभावसे ही आनदमई हूं । मैं शुभ अशुभभावोंसे दूर हूं, तथा शुद्ध स्वभावसे तन्मय हूं । वही शुद्ध व परम आत्मा मेरे लिये शरण है, अन्य कोई शरण नहीं है । वास्तवमें स्वसमय ही सतोषप्रद है ऐसा जानकर इसी भावका ग्रहण कार्यकारी समझना चाहिये ॥ ३ ॥

उत्थानिका–आगे द्रव्यका लक्षण सत्ता आदि तीनरूप है ऐसा सूचित करते हैं—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसवद्ध ।
गुणव च सपज्जाय, जत्त दव्वत्ति वुच्चति ॥४॥
अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसबद्धम् ।
गुणवच्च सपर्याय यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवति ॥ ४ ॥

सामान्यार्थ–जो नहीं छोडेहुए अपने अस्तित्व स्वभावसे

होती हैं अर्थात् वह परमात्म द्रव्य जैसे अपनी शुद्ध सत्तासे भिन्न नहीं है एक है, पूर्वमें कहे हुए उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभावोंसे तथा गुण पर्यायोंसे संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिकी अपेक्षासे भेद रूप होनेपर भी उनके साथ सत्ता आदिके भेदको नहीं रखता है, स्वरूपसे ही उसी प्रकारपनेको धारण करता है अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप तथा गुणपर्याय स्वरूप रूप परिणमन करता है तैसे ही सर्व द्रव्य अपने अपने यथायोग्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यपनेसे तथा गुण पर्यायोंके साथ यद्यपि संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भेद रखते हैं तथापि सत्ता स्वरूपसे भेद नहीं रखते हैं, स्वभावसे ही उन प्रकार रूपपनेको आलम्बन करते हैं, अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप या गुणपर्याय स्वरूप परिणमन करते हैं।

अथवा जैसे वस्त्र जब स्वच्छ किया जाता है तब अपनी निर्मल पर्यायसे पैदा होता है, मलीन पर्यायसे नष्ट होता है और इन दोनोंके आधार रूप वस्त्र स्वभावसे ध्रुव या अविनाशी है तैसे ही अपने ही श्वेतादिगुण तथा मलीन यथा स्वच्छ पर्यायोंके साथ संज्ञा आदिकी अपेक्षा भेद होनेपर भी सत्ता रूपसे भेद नहीं रखता है, तब क्या करता है? स्वरूपसे ही उत्पाद आदि रूपसे परिणमन करता है तैसे ही सर्व द्रव्य परिणमन करते हैं यह अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने द्रव्यके तीन लक्षण बताए हैं। सतरूप, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप और गुणपर्याय रूप। अभेदकी अपेक्षा द्रव्य जैसे अपने सत् स्वभावसे एक है वैसे वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य या गुण पर्यायोंसे एक है। भेदकी अपेक्षा वह जैसे सत्पनेको रखता है वैसे वह उत्पादादिको रखता है।

श्रीमत्कुंदकुंदस्वामी विरचित—

श्रीप्रवचनसारटीका।

तृतीय खण्ड

अर्थात्

चारित्र तत्त्वदीपिका *

मङ्गलाचरण।

वन्दों पार्श्व परम पद, निज आतम रस लीन।
रत्नत्रय स्वामी महा, राग दोष मद हीन ॥ १ ॥
वृषभ आदि महावीर लौं, चौवीसों जिनराय।
भरतक्षेत्र या युग विषैं, धर्म तीर्थ प्रगटाय ॥ २ ॥
कर निर्मल निज आत्मको, हो परमातम सार।
अन्त बिना पीवत रहें, ज्ञान-सुधामृत धार ॥ ३ ॥
राम हनू सुग्रीव वर बाहुबलि इन्द्रजीत।
गौतम जम्बू आदि बहु, हुए सिद्ध मलरीत ॥ ४ ॥
जे जे पा स्वाधीनता, अरु पवित्रता सार।
हुए निरञ्जन ज्ञान धन, वन्दूं बारम्बार ॥ ५ ॥

---

* प्रारम्भ ता० १५-१-२४ मिती पौष सुदी ६ वीर सं० २४५० विक्रम [illegible] मंगलवार, कुरनो (शोलापुर)।

किसी अवस्थाकी उत्पत्तिको उत्पाद व किसी अवस्थाके नाशको व्यय तथा जिसमें ये अवस्थाएं नाश या उत्पन्न हुईं उसका सदा बना रहना सो ध्रौव्य है। ये तीन स्वभाव हरएक द्रव्यमें सदा पाए जाते हैं। ये तीन स्वभाव ही द्रव्यकी सत्ताको सिद्ध करते हैं। इसका दृष्टात यह है कि हमारे हाथमें एक सुवर्णकी मुद्रिका है। जब हम उसको तोडकर बालिया बनाते तब मुद्रिकाकी अवस्थाका नाश या व्यय होता है व बालियोंकी अवस्थाका उत्पाद या जन्म होता है परतु दोनो ही अवस्थामें वह सुवर्ण ही रहा है। गेहूंके दानोंको जब चक्कीमें पीसा जाता है तब वहा तीनो ही स्वभाव एक समयमें झलकते हैं। जब गेहूंका दाना मिटता तब ही उसका चूर्ण आटा बनता तथा जो परमाणु गेहूंके दानेमें थे वे ही परमाणु आटेमें हैं इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक समयमें सिद्ध होगया। एक आदमी सोया पड़ा था जब जागा तब उसकी निद्रा अवस्थाका नाश हुआ, जागृत अवस्थाका उत्पाद हुआ तथा मनुष्यपना बना रहा। यही उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। एक मनुष्य शातिमें बैठा था किसी स्त्रीको देखकर रागी होगया। जिस समय रागी हुआ उसकी राग अवस्थाका उत्पाद हुआ, शातिकी अवस्थाका व्यय हुआ, मनुष्यका जीवनपना ध्रौव्य है। इन तीन स्वभावोंसे हरएक वस्तु परिणमन करती है। यही परिणमन सत्ताका द्योतक है। जब हम किसी वृद्ध मनुष्यको देखते हम उसकी इस अवस्थाको देखकर यही समझते हैं कि यह वही मनुष्य है जो २० वर्ष पहले युवान था। द्रव्य उसे कहते हैं जो द्रवणशील हो अर्थात् जो कूटस्थ नित्य न रहकर सदा परिणमन करता रहे। द्रव्यमें द्रव्यत्व नामका सामान्य गुण इसी भावका द्योतक है।

प्रारम्भ ।

आगे चारित्रतत्त्वदीपिकाका व्याख्यान किया जाता है ।

उत्थानिका—इस ग्रन्थका जो कार्य था उसकी अपेक्षा विचार किया जाय तो ग्रन्थकी समाप्ति दो खडोंमे होचुकी है, क्योंकि "उपसपयामि सम्म" मे साम्यभावमें प्राप्त होता हू इस प्रतिज्ञाकी समाप्ति होचुकी है ।

तौ भी यहा क्रमसे ९७ सत्तानवें गाथाओं तक चूलिका रूपसे चारित्रके अधिकारका व्याख्यान प्रारम्भ करते है । इसमे पहले उत्सर्गरूपसे चारित्रका सक्षेप कथन है उसके पीछे अपवाद रूपसे उमी ही चारित्रका विस्तारसे व्याख्यान है । इसके पीछे श्रमणपना अथात् मोक्षमार्गका व्याख्यान है । फिर शुभोपयोगका व्याख्यान है इस तरह चार अन्तर अधिकार ह । इनमेंसे भी पहले अन्तर अधिकारमे पाच स्थल है । "एव पणमिय सिद्ध" इत्यादि सात गाथाओं तक दीक्षाके सन्मुख पुरुषका दीक्षा लेनेके विधानको कहनेकी मुख्यतासे प्रथम स्थल है । फिर "वद समिदिंदिय" इत्यादि मूलगुणको कहते हुए दूसरे स्थलमें गाथाए दो है । फिर गुरुकी व्यवस्था बतानेके लिये "लिंगग्गहणे" इत्यादि एक गाथा है । तैसे ही प्रायश्चितके कथनकी मुख्यतासे "पयदह्मि" इत्यादि गाथाए दो है इस तरह समुदायसे तीसरे स्थलमें गाथाए तीन हैं । आगे आधार आदि शास्त्रके कहे हुए क्रमसे साधुका सक्षेप समाचार कहने लिये 'अधिवासे व वि' इत्यादि चौथे स्थलमें गाथाए तीन हैं । उसके आगे हिसा द्रव्य हिंसाके त्यागके लिये "अपय-

पर्याय हो जाती है। स्थूल दृष्टिवालोंको पर्याय स्थूलरूपमें कुछ देरतक ठहरी हुई मालूम होती है। जैसे वृक्षमें एक हरे आमको मैंने देखा था फिर सध्याको देखा तब भी हरा ही दीखा परन्तु जब उसको आठ दिन पीछे देखा तब उसे पीला दीखा। वास्तवमें आमके भीतर वर्ण नामके गुणका परिणमन हर समय होता रहा है हर समय वह बदलता रहा है तब ही वह ८ दिनमें पीला हुआ है, परन्तु स्थूल दृष्टिमें सूक्ष्म परिणमन समझमें नहीं आता। सूक्ष्म ज्ञानी इस सूक्ष्म समय समयकी हरएक पर्यायको समझ सक्ते हैं द्रव्यमें गुणोंकी ही ध्रुवता या नित्यता रहती है तथा पर्यायोंका ही उत्पाद और व्यय होता है इसी बातको यह गुण पर्यायवान द्रव्यका लक्षण द्योतित करता है।

इसीसे यह सिद्ध है कि द्रव्य नित्यानित्यात्मक है। हर समय उसमें नित्यपना और अनित्यपना दोनों स्वभाव हैं। गुणोंके कारण नित्यपना और पर्यायोंके कारण अनित्यपना है। यद्यपि ये दो सभाव विरोधी मालूम पड़ते हैं परन्तु यदि द्रव्यमें ये दोनों ही न हों तो द्रव्यमें कुछ भी अर्थ सिद्ध नहीं होसक्ता है। यदि हम सुवर्णको कूटस्थ नित्य मान लें तो सुवर्णकी कोई अवस्था नहीं हो सक्ती–उसमें थाली, मुद्रिका, भुजबन्ध आदि कोई आभूषण नहीं बन सक्ते और यदि सुवर्णको सर्वथा अनित्य मान लें तो वह एक समय मात्र ही ठहरेगा। जब वह ठहर ही नहीं सक्ता तब उसमेंसे कोई पदार्थ कैसे बन सक्ता है? इसलिये एक ही स्वभाव एकान्तसे माननेपर द्रव्यकी सत्ता ही नहीं ठहर सक्ती है। वास्तवमें यही बात ठीक है कि द्रव्य कथंचित् या स्यात् नित्य है और

श्रेष्ठ ऐसे तीर्थंकर परम देवोंको तथा चैतन्य चमत्कार मात्र अपने आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्ररूप निश्चय रत्नत्रयके आचरण करनेवाले, उपदेश देनेवाले तथा साधनमें उद्यमी ऐसे श्रमण शब्दसे कहने योग्य आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओंको वार वार नमस्कार करके साधुपनेके चारित्रको स्वीकार करे। सासादन गुणस्थानसे लेकर क्षीण कषाय नामके बारहवें गुणस्थान तक एक देश जिन कहे जाते हैं तथा शेष दो गुणस्थानवाले केवली मुनि जिनवर कहे जाते हैं, उनमें मुख्य जो हैं उनको जिनवर वृषभ या तीर्थंकर परमदेव कहते हैं।

यहां कोई शंका करता है कि पहले इस प्रवचनसार ग्रन्थके प्रारम्भके समयमें यह कहा गया है कि शिवकुमार नामके महाराजा यह प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं शांतभावको या समताभावको आश्रय करता हूं। अब यहां कहा है कि महात्माने चारित्र स्वीकार किया था। इस कथनमें पूर्वापर विरोध आता है। इसका समाधान यह है कि आचार्य ग्रन्थ प्रारम्भके कालसे पूर्व ही दीक्षा ग्रहण किये हुए हैं किन्तु ग्रन्थ करनेके बहानेसे किसी भी आत्माको उस भावनामें परिणमन होते हुए आचार्य दिखाते हैं। कहीं तो शिवकुमार महाराजको व कहीं अन्य भव्य जीवको। इस कारणसे इस ग्रन्थमें किसी पुरुषका नियम नहीं है और न कालका नियम है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ–आचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य पहले भागमें आत्माके केवलज्ञान और अतींद्रिय सुखकी अद्भुत महिमा बता चुके हैं– उनका यह परिश्रम इसीलिये हुआ है कि भव्य जीवको अपने

एक है जब कि एक जीव अनेक गुणोकी अपेक्षा अनेक रूप है। जीवका लक्षण उपयोगवान है जब कि ज्ञानका लक्षण विशेषाकार जानना है। जीवका प्रयोजन स्वात्मानदका लाभ है जब कि ज्ञानका प्रयोजन ज्ञेयोंको जानना है।

द्रव्यका स्वभाव अच्छी तरह समझकर हमें निज आत्म द्रव्यको सतरूप, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप तथा गुण पर्यायरूप जानकर निज आत्माके स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान दर्शन वीर्य आनन्दादि गुणोमे तन्मय होकर निज आत्माका अनुभव करना चाहिये जिससे चारित्रका लाभ हो और सुख शातिका स्वाद आवे।

इस तरह नमस्कार गाथा, द्रव्य गुण पर्याय कथन गाथा, स्वसमय परसमय निरूपण गाथा, सत्तादि लक्षणत्रय सूचन गाथा इस तरह स्वतंत्र चार गाथाओंसे पीठिका नामका पहला स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे अस्तित्व या सतके दो प्रकार स्वरूप अस्तित्व व सादृश्य अस्तित्वमेंसे स्वरूप अस्तित्वको बताते है—

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकाल उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥ ८ ॥

सद्भावो हि स्वभावो गुणैः स्वकपर्ययैश्चित्रैः ।
द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः ॥ ८ ॥

सामान्यार्थ—अपने गुण और नाना प्रकारकी अपनी पर्यायों करके तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य करके द्रव्यका सर्व कालमें जो सद्भाव है वही निश्चय करके उसका स्वभाव है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(चित्तेहिं गुणेहिं सगपज्जएहिं) नाना प्रकारके अपने गुण और अपनी पर्यायोंके साथ अर्थात् सिद्ध

सर्व धनधान्यादि परिग्रह त्याग नग्न निर्ग्रन्थ मुनि हो भले प्रकार चारित्रका अभ्यास करना जरूरी है। यद्यपि चारित्र निश्चयसे निज शुद्ध स्वभावमें आचरणरूप व रमनरूप है तथापि इस स्वरूपाचरण चारित्रके लिये साधुपदकीसी निराकुलता तथा निरालम्बता सहकारी कारण है। जैसे बिना मसालेका सम्बन्ध मिलाए वस्त्रपर रंग नहीं चढ़ सक्ता वैसे बिना व्यवहार चारित्रका सम्बन्ध मिलाए अन्तरङ्ग साम्यभावरूप चारित्र नहीं प्राप्त होसक्ता है, इसलिये आचार्यने सम्यग्दृष्टी जीवको चारित्रवान होनेकी शिक्षा दी है।

स्वामी समंतभद्राचार्य भी अपने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका कथनकरके सम्यग्दृष्टी जीवको इस तरह चारित्र धारनेकी प्रेरणा करते हैं—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ ४७ ॥

भावार्थ—मिथ्यात्वरूप अंधकारके दूर होनेपर सम्यग्दर्शनके लाभसे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिको पहुंचा हुआ साधु रागद्वेषको दूर करनेके लिये चारित्रको स्वीकार करता है।

ये ही स्वामी स्वयम्भूस्तोत्रमें भी साधुके परिग्रहरहित चारित्रकी प्रशंसा करते हैं—

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधूं क्षांतिसखीमशिश्रयत्।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥१६॥

भावार्थ—हे अभिनन्दननाथ! आप आत्मीक गुणोंके धारण करनेसे सच्चे अभिनन्दन हैं। आपने उस दयारूपी बहूको आश्रयमें लिया है जिसकी क्षमारूपी सखी है। आपने स्वात्म-

नहीं है जो अस्तित्व है वही मुक्तात्मा द्रव्यका अपना अस्तित्व या सद्भाव है और जैसे सुवर्णके पीतपना आदि गुण और कुडल आदि पर्यायोंके साथ जो सुवर्ण अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षा अभिन्न है, उस सुवर्णका जो अस्तित्व है वही पीतपना आदि गुण तथा कुडल आदि पर्यायोंका अस्तित्व या निज भाव है तैसे ही मुक्तात्माके केवलज्ञान आदि गुण और अंतिम शरीरसे कुछ कम आकार आदि पर्यायोंके साथ जो मुक्तात्मा अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अपेक्षा अभिन्न है उस मुक्तात्माका जो अस्तित्व है वही केवलज्ञानादि गुण तथा अंतिम शरीरसे कुछ कम आकार आदि पर्यायोंका अस्तित्व या निजभाव जानना चाहिये। अब उत्पाद व्यय ध्रौव्यका भी द्रव्यके साथ जो अभिन्न अस्तित्व है उसको कहते हैं। जैसे सुवर्णके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा सुवर्णमे अभिन्न कटक पर्यायका उत्पाद और कंकण पर्यायका विनाश तथा सुवर्णपनेका ध्रौव्य इनका जो अस्तित्व है वही सुवर्णका अस्तित्व व उसका निज भाव या स्वरूप है। तैसे ही परमात्माके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा परमात्मामे अभिन्न मोक्ष पर्यायका उत्पाद और मोक्षमार्ग पर्यायका व्यय तथा इन दोनोंके आधारभूत परमात्म द्रव्यपनेका ध्रौव्य इनका जो अस्तित्व है वही मुक्तात्मा द्रव्यका अस्तित्व या उसका निजभाव या स्वरूप है। और जैसे अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा कटक पर्यायका उत्पाद और कंकण पर्यायका व्यय तथा इन दोनोंके आधारभूत सुवर्णपनेका ध्रौव्य इनके साथ अभिन्न जो सुवर्ण उसका जो अस्ति[illegible] है वही कटक [illegible] द, कंकण पर्यायका व्यय

क्षमा करो इस तरह क्षमाभाव कराता है। उसके पीछे निश्चय पंचाचारको और उसके साधक आचारादि चारित्र ग्रंथोंमें कहे हुए व्यवहार पंच प्रकार चारित्रको आश्रय करता है।

परम चैतन्य मात्र निज आत्मतत्व ही सब तरहसे ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि सो निश्चय सम्यग्दर्शन है, ऐसा ही ज्ञान सो निश्चयसे सम्यग्ज्ञान है, उसी निज स्वभावमें निश्चलतासे अनुभव करना सो निश्चय सम्यग्चारित्र है, सर्व परद्रव्योंकी इच्छासे रहित होना सो निश्चय तपश्चरण है तथा अपनी आत्मशक्तिको न छिपाना सो निश्चय वीर्याचार है इस तरह निश्चय पंचाचारका स्वरूप जानना चाहिये।

यहां जो यह व्याख्यान किया गया कि अपने बन्धु आदिके साथ क्षमा करावे सो यह कथन अति प्रसङ्ग अर्थात् अमर्यादाके निषेधके लिये है। दीक्षा लेते हुए इस बातका नियम नहीं है कि क्षमा कराए विना दीक्षा न लेवे। क्यों नियम नहीं है? उसके लिये कहते हैं कि पहले कालमें भरत, सगर, राम, पांडवादि बहुतसे राजाओंने जिनदीक्षा धारण की थी। उनके परिवारके मध्यमें जब कोई भी मिथ्यादृष्टि होता था तब धर्ममें उपसर्ग भी करता था तथा यदि कोई ऐसा माने कि बन्धुजनोंकी सम्मति करके पीछे तप करूंगा तो उसके मतमें अधिकतर तपश्चरण ही न होसकेगा, क्योंकि जब किसी तरहसे तप ग्रहण करते हुए यदि अपने सम्बधी आदिसे ममताभाव करे तब कोई तपस्वी ही नहीं होसक्ता। जैसा कि कहा है—"जो सकलणयररज्जं पुव्वं चइऊण कुणइ य ममत्तिं। सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो॥"

निष्कर्मा अष्टगुणा किंचूना चरमदेहतः सिद्धाः ।
लोकाग्रस्थिता नित्या उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः ॥

भावार्थ-जो कर्म कलंक रहित हैं-मुख्य सम्यक्त्वादि आठ गुण सहित हैं, अंतिम शरीरसे कुछ कम आकारवान हैं, लोकके अग्रभागमें विराजमान हैं तथा उत्पाद व्यय सहित हैं और नित्य या ध्रुव हैं वे सिद्ध हैं। इस तरह स्व पर द्रव्यका निरूपण समझकर तथा द्रव्यकी सत्ताको अलग२ निश्चय करके अपने आत्माको अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे सर्व रागादि व पुद्गल विकारोंसे पृथक् अपनी शुद्ध सत्तामें सदा विराजमान जानकर सर्व विकल्पोंको त्यागकर निज आत्माका ही अनुभव करना योग्य है-इसका वर्णन करनेका यह तात्पर्य है ॥ ॥

उत्थानिका-आगे सादृश्य अस्तित्व शब्दसे कहे जानेवाली महासत्ताका वर्णन करते हैं-

इह विविहलक्खणाणं, लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं
उवदिसदा खलु धम्मं, जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥५॥

इह विविधलक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम् ।
उपदिशता खलु धर्मं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ॥५॥

अन्वय सहित विशेषार्थ-(इह) इस लोकमें (विविहलक्खणाणं) नाना प्रकार भिन्न २ लक्षण रखनेवाले पदार्थोंका (एगं) एक (सव्वगयं) सर्व पदार्थोंमें व्यापक (लक्खणं) लक्षण (सदित्ति) सत् ऐसा (धम्मं) वस्तुके स्वभावको (उवदिसदा) उपदेश करनेवाले (जिणवरवसहेण) श्री वृषभ जिनेन्द्रने (खलु) प्रगटरूपसे (पण्णत्तं)
— है ।

जनोंमे कैसे होसक्ता है ? जब इस प्राणीका जीव शरीरसे अलग होजाता है तब सब बन्धुजन उस जीवको नहीं पकड सक्ते जो शरीरको छोडते ही एक, दो, तीन समयके पीछे ही अन्य शरीरमें पहुच जाता है किन्तु वे बिचारे उस शरीरको ही निर्जीव जानकर बड़े आदरसे शरीरको दग्धकर सतोष मान लेते है। उस समय सब बन्धुजनोंको लाचार हो सतोष करना ही पडता है। एक दिन मेरे शरीरके लिये भी वही समय आनेवाला है। मैं इस शरीरसे तपस्या करके व रत्नत्रयका साधन करके उसी तरह मुक्तिका उपाय करना चाहता हू जिस तरह प्राचीनकालमें श्री रिषभादि तीर्थंकरोंने व श्रीबाहुबलि भरत, सगर, राम पाडवादिकोंने किया था। इसलिये मुझे आत्म कार्यके लिये सन्मुख जानकर आपको कोई विषाद न करना चाहिये किन्तु हर्ष मानना चाहिये कि यह शरीर एक उत्तम कार्यके लिये तय्यार हुआ है। आपको मोहभाव दिलसे निकाल देना चाहिये क्योंकि मोह ससारका बीज है। मोह कर्म बन्ध करनेवाला है। वास्तवमें मैं तो आत्मा हू उससे आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। हा जिस शरीर रूपी कुटीमें मेरा आत्मा रहता है उससे आपका सम्बन्ध है—आपने उसके पोषणमें मदद दी है सो यह शरीर जड पुद्गल परमाणुओंसे बना है, उससे मोह करना मूर्खता है। यह शरीर तो सदा बनता व बिगड़ता रहता है। मेरे आत्मासे यदि आपको प्रेम है तो जिसमें मेरे आत्माका हित हो उस कार्यमें मेरेको उत्साहित करना चाहिये। मैं मुक्तिसुन्दरीके वरनेको मुनिदीक्षाके अश्वपर आरूढ हो ज्ञान सयम तपादि बरातियोंको साथ लेकर जानेवाला हू। इस समय आप सबको इस मेरी आत्माके यथार्थ विवाहके समय मगलाचरणरूप

सर्व ही पदार्थोंका बिना उनकी जातिके विशेषके एक साथ ग्रहण होजाता है, ऐसा अर्थ है।

भावार्थ-इस गाथामें श्री कुन्दकुन्दआचार्यने महासत्ताका स्वरूप बताया है। सत्ता दो प्रकारकी है, एक अवान्तर सत्ता या स्वरूपास्तित्व, दूसरी महासत्ता या सादृश्यास्तित्व। हरएक द्रव्यके भिन्न २ स्वरूपको बतानेवाली अवान्तर सत्ता है तथा सर्व द्रव्योंमें एक सतपनेका एक काल बोध करानेवाली महासत्ता है। सतपना या अस्तित्व सर्व चेतन अचेतन पदार्थोंमे पाया जाता है इसलिये सतपना सर्व पदार्थोंमें व्यापक है उसकी अपेक्षासे महासत्ता या सादृश्यास्तित्व है। जो स्वभाव बहुतमोंमे एकसा होता है उसकी अपेक्षा एक करनेका व्यवहार जगतमें है। जैसे यह सेना भाग रही है। यहा भागना स्वभाव सर्व हाथी घोड़े रथ पयादेमें व्यापक है इसलिये सेना भाग रही है इतना ही वाक्य सबके भागनेका बोध करा देता है। अथवा यह बाग फूल रहा है इतना ही वाक्य इसका बोध करा देता है कि इस बागके सर्व ही वृक्षोंमे फूल खिल रहे हैं। यहा फूलोंका खिलना यह स्वभाव सब वृक्षोंमें व्यापक है। जो स्वभाव या कार्य एक समयमें अनेकोंमें पाया जावे उनके एक साथ बोध करनेवाले ज्ञानको या बोध करानेवाले वचन प्रयोगको संग्रह नय कहते हैं। लड़के खेल रहे हैं। यह संग्रह नयका वाक्य है क्योंकि खेलना सबमें एक साथ व्याप रहा है। यद्यपि हरएक लड़केके खेलमें भिन्नता है तथापि खेलना मात्र सबमें सामान्य है। कोयलें मीठा बोलती हैं, इस वाक्यने भी मीठा बोलना अनेक कोयलोंमें व्यापक है इस बातको संग्रह नयसे बतलाया। इस ही तरह

तुम्हारे आत्माका मैं जन्मदाता नहीं–जिस शरीरके निर्माणमें मेरेसे सहायता हुई है वह शरीर जड है। यदि तुमको मेरे उपकारको स्मरणकर 'जो मैंने तुम्हारे शरीरके लालनपालनमे किया है' मेरा भी कुछ प्रत्युपकार करना है तो तुम यही कर सक्ते हो कि इस मेरे आत्मकार्यमें तुम हर्षित हो मेरेको उत्साहित करो तथा मेरी इस शिक्षाको सदा स्मरण कर उसके अनुसार चलो कि धर्म ही इस जीवका सच्चा मित्र, माता, पिता, बन्धु है। धर्मके साधनमें किसी भी व्यक्तिको प्रमाद न करना चाहिये। विषयकषायका मोह नर्क निगोदादिको लेजानेवाला है व धर्मका प्रेम स्वर्ग मोक्षका साधक है।

प्रिय कुटुम्बीजनो! तुम सबका नाता मेरे इस शरीरसे है। मेरे आत्मामे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये इस क्षणभगुर शरीरको तपस्यामें लगते हुए तुम्हें कोई शोक न करके वडा हर्ष मानना चाहिये और यह भावना भानी चाहिये कि तुम भी अपने इस देहसे तप करके निर्वाणका साधन करो।

इस तरह सर्वको समझाकर उन सबका मन शात करे। यदि वे समझाए जानेपर भी ममत्व बढानेकी बातें करें, ससारमें उलझे रहनेकी चर्चा करें तो उनपर कोई ध्यान न देकर साधु पदवी धारनेका इच्छुक हो स्वय ममताकी डोर तोडकर गृह त्यागकर चले जाना चाहिये। 'वे जबतक ममता न छोडे, मैं कैसे गृहवास तजू' इस मोहके विकल्पको कभी न करना चाहिये।

यह कुटुम्बको समझानेकी प्रथा एक मर्यादा मात्र है। इस बातका नियम नहीं है कि कुटुम्बको समझाए विना दीक्षा ही न लेवे। बहुतसे [illegible] अवसर आजाते हैं कि जहा कुटुम्ब

एक ब्रह्मस्वरूप ही नहीं है जैसा वेदान्तका कथन है। न यह एक जड रूप ही है जैसा चार्वाकका कथन है। न यह एक ब्रह्म व एक जडरूप है किन्तु यह जगत् अनन्तानंत जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश, असंख्यात कालाणुरूप होकर भी इनकी अनेक अवस्था व स्वरूप नाना प्रकारका विचित्र है। इस तत्त्वको जाननेका तात्पर्य यह है कि हम अपने आत्माको सदा ही रहनेवाला सत् रूप जानें तथा उसकी जो वर्तमान अवस्था रागद्वेष मोहरूप व अज्ञान रूप हो रही है उस अवस्थाको दूर करके इसको सिद्धकी अवस्थामें पहुंचा देवें जिससे यह सदा ही निजानंदका पान करे तथा इसी हेतुसे हमें निज आत्माका स्वरूप निश्चयसे शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा ध्यानमेंकर उसहीका विचार तथा अनुभव करना चाहिये ॥ ६ ॥

उत्थानिका–आगे यह प्रगट करते हैं कि जैसे द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है वैसे सत्ता भी स्वभावसे सिद्ध है–

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादो।
सिद्धं तध आगमदो, णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥ ७ ॥

द्रव्यं स्वभावसिद्धं सदिति जिनास्तत्त्वतः समाख्यातवन्तः।
सिद्धं तथा आगमतो नेच्छति यः स हि परसमयः ॥ ७ ॥

अन्वय सहित विशेषार्थ–(दव्वं) द्रव्य (सहावसिद्धं) स्वभावसे सिद्ध है (सदिति) सत् भी स्वभाव सिद्ध है ऐसा (जिणा) जिनेन्द्रोंने (तच्चदो) तत्त्वसे (समक्खादो) कहा है (तध) तैसे ही (आगमदो) आगमसे (सिद्धं) सिद्ध है (जो) जो कोई (णेच्छदि) नहीं मानता है (सो हि परसमओ) वही प्रगटरूपसे परसमयरूप है।

भावार्थ—वीर पुरुष गृहवासमे विरक्त होकर 'जैसे भोगे हुए फलोको नीरस समझकर छोडा जाता है' इस तरह धन सुवर्णादि सहित बन्धुजनोंका त्याग कर देते हैं ॥ २ ॥

उत्थानिका—आगे जिन दीक्षाको लेनेवाला भव्य जीव जैनाचार्यका शरण ग्रहण करता है ऐसा कहते हैं —

समण गणि गुणड्ढ कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदर ।
समणेहि तपि पणदो पडिच्छ म चेदि अणुगहिदो ॥३॥

श्रमण गणिन गुणाढ्य कुलरूपवयोविशिष्टमिष्टतरम् ।
श्रमणैस्तमपि प्रणत प्रतीच्छ मां चेत्यनुगृहीत ॥ ३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(समण) समताभावमें लीन, (गुणड्ढ) गुणोमे परिपूर्ण, (कुलरूववयोविसिट्ठम्) कुल, रूप तथा अवस्थामे उत्कृष्ट, (समणेहि इट्ठतर) महामुनियोसे अत्यन्त मान्य (त गणिं) ऐसे उस आचार्यके पास प्राप्त होकर (पणदो) उनको नमस्कार करता हुआ (च अपि) और निश्चय करके (मा पडिच्छ) मेरेको अगीकार कीजिये (इदि) ऐसी प्रार्थना करता हुआ (अणुगहिदो) आचार्य द्वारा अगीकार किया जाता है ॥ ३ ॥

विशेषार्थ—जिनदीक्षाका अर्थी जिस आचार्यके पास जाकर दीक्षाकी प्रार्थना करता है उसका स्वरूप बताते हैं कि वह निन्दा व प्रशसा आदिमे समताभावको रखके पूर्व सूत्रमें कहे गए निश्चय और व्यवहार पञ्च प्रकार आचारके पालनेमें प्रवीण हो, चौरासीलाख गुण और अठारह हजार शीलके सहकारी कारणरूप जो अपने शुद्धात्माका [illegible] ऐसे गुण उसमे परिपूर्ण हो। लोक

गुण ही द्रव्यमे भिन्न है ।

भावार्थ–आचार्यने पूर्वमे त्रिलक्षणमई द्रव्यको बतलाया था। इस गाथामें पहला जो लक्षण सत् किया था उसके सम्बन्धमें कहा है कि वह सत् या अस्तित्व, या सत्ता द्रव्यमें सदा पाई जाती है। गुण और गुणी प्रदेशोंकी अपेक्षा एक है परन्तु नाम आदि भेदसे विचारने हुए भिन्न२ झलकते हैं। सत्ता गुण है द्रव्य गुणी है। दोनो सदासे साथ है इसलिये जैसे द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है और अनादि अनत है वैसे उसकी सत्ता स्वभावसे सिद्ध है और अनादि अनत है। यद्यपि इस जगतमें अवस्थाएं बनती और बिगडती दिखलाई पडती है परतु जिसमें ये अवस्थाए होती है वह द्रव्य न बनता दिखलाई पडता है न नष्ट होता मालूम होता है । परमाणुओसे स्कंध बनते हैं, स्कंधसे परमाणु बन जाते हैं । अकस्मात् कोई नहीं बनता है। मनुष्य शरीरमें जीव आता है तब मनुष्य जीव कहलाता है, वही जीव देव पर्यायमे जाता है तब देव जीव कहलाता है । वास्तवमें इस लोकमें जीव पुद्गल आदि छहो द्रव्य अनादि अनत हैं इसीसे स्वभावसिद्ध हैं, किसीने बनाए नहीं है। किसीका किसीसे बनना तब ही माना जासक्ता है जब किसी समय या क्षेत्रमें पहले उसका अभाव या न होना सिद्ध हो जावे । यदि हम विचारते हुए चले जायेंगे तब किसी भी द्रव्यका कभी या कहीं अभाव था ऐसा सिद्ध नहीं होगा। जगतमे यही देखा जाता है कि पानीसे मेघ बनते हैं, मेघसे पानी बनता है, वृक्षसे बीज होता है बीजसे वृक्ष होता है–कभी भी बिना बीजके वृक्षका होना व बिना वृक्षके बीजका होना सिद्ध नहीं होसक्ता। मनुष्य माता पिताके

हों, सर्व प्राणी मात्रमें समताभावके धारी हों, निज आत्माके स्वभावके चिन्तवन करनेवाले हों तथा गार्हस्थ्य सम्बन्धी व्यापारसे मुक्त हों वे ही श्रमण साधु होते हैं।

तीसरा विशेषण यह है कि वे कुल रूप तथा वयमें श्रेष्ठ हों। जिसका भाव यह है कि उनका कुल निष्कलंक हो अर्थात् जिस कुलमें कुत्सित आचरणसे लोक निंदा होरही हो उस कुलका धारी आचार्य न हो क्योंकि उसका प्रभाव अन्य साधुओंपर नहीं पड़ सक्ता है तथा रूप उनका परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ, शांत व भव्य जीवोंके मनको आकर्षण करनेवाला हो और आयु ऐसी हो जिससे दर्शकोंको यह प्रगट हो कि यह आचार्य बड़े अनुभवी हैं व बड़े सावधान तथा गुणी और गंभीर हैं—अति अल्प आयु व वृद्ध आयु व उद्धतता सहित युवा आयु आचार्यपदकी शोभाको नहीं देसक्ती है। वास्तवमें आचार्यका कुल, रूप तथा अवस्था अन्य साधुओंके मनमें उनके शरीरके दर्शन मात्रसे प्रभावको उत्पन्न करनेवाले हों।

चौथा विशेषण यह है कि वे आचार्य अन्य आचार्य तथा साधुओंके द्वारा माननीय हों। अर्थात् आचार्य ऐसे गुणी, तपस्वी, आत्मानुभवी तथा शांतस्वभावी हों कि सर्व ही अन्य आचार्य व साधु उनके गुणोंकी प्रशंसाकर्त्ता व स्तुतिकर्त्ता हों।

ऐसे चार विशेषण सहित आचार्यके पास जाकर वैराग्यवान दीक्षाके उत्सुक भव्यजीवको उचित है कि नमस्कार, पूजा व भक्तिके करके अत्यन्त विनयसे हाथ जोड यह प्रार्थना करे कि महाराज, मुझे वह जिनेश्वरी दीक्षा प्रदान कीजिये जिसके प्रतापसे अनेक तीर्थंकरादि [illegible] शिवसुन्दरीको वरा है व जिसपर

सदा पाए जाते हैं इसीसे इनको भेद करके समझानेसे अग्निका बोध अज्ञानीको होजाता है। द्रव्य और उसकी सत्ता सदासे हैं यह कथन उन सब मिथ्या भ्रमोंको दूर करता है जो किसी समय जीव और अजीवकी सत्ताका अभाव मानते हैं या इनको ब्रह्मसे पैदा हुआ व ब्रह्ममें लय होना मानते हैं। हरएक द्रव्य जीव हो या पुद्गल अपने स्वरूपके अस्तित्वको सदासे रखता है–सदासे ही जीवमें जीवपना है, सदासे ही पुद्गलमें स्पर्श, रस, गंध, वर्णपना है। न किसी एकसे ये अनेक हुए न जीवसे पुद्गल हुए न पुद्गलसे जीव हुए–सब ही द्रव्य सदासे परिणमन करते हुए बने रहते हैं। यह बिल्कुल अकाट्य सिद्धांत है कि सत्‌का नाश नहीं व असत्‌का उत्पाद नहीं। सत रूप द्रव्यमें ही पर्यायका उत्पाद या विनाश होता है, असत्‌में नहीं हो सक्ता। स्वामी समन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें यही कहा है कि सत पदार्थमें ही विधि निषेध या अस्तिनास्तिकी कल्पना हो सक्ती है–

> द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः ।
> असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥४७॥

भावार्थ–सत् पदार्थमें ही अपने स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा विधि या अस्तित्व तथा परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा निषेध या नास्तित्व कहा जा सक्ता है। जो पदार्थ अभावरूप है या असत् है उसमें अस्तित्व या नास्तित्वकी कल्पना हो ही नहीं सक्ती है इस लिये जगतमें सर्व ही द्रव्य सतरूप हैं।

द्रव्य और उसकी सत्ता स्वभावसिद्ध अनादि है यह बात तीर्थंकरोंने अपनीर दिव्यवाणीसे प्रकाशित की है तथा यही बात आगममें भी प्रगट है।

है। जब आचार्यको उसके सम्बन्धमें पूर्ण निश्चय हो जाता है तब वे दयावान हो उसको स्वीकार करते हुए यह वचन कहते हैं-

हे भव्य! तुमने बहुत अच्छा विचार किया है। जिस मुनिव्रत लेनेकी आकांक्षामे इन्द्रादि देव अपने मनमें यह भावना करते हैं कि कब यह मेरी देवगति समाप्त हो व कब मैं उत्तम मनुष्य जन्मू और संयमको धारु, उसी मुनिव्रतके धारनेको तुम तय्यार हुए हो। तुमने इस नरजन्मको सफल करनेका विचार किया है। वास्तवमें उच्च तथा निर्विकल्प आत्मध्यानके बिना कर्मके पुद्गल 'जिनकी स्थिति कोडाकोडि सागरके अनुमान होती है' अपनी स्थिति घटाकर आत्मासे दूर नहीं होसक्ते हैं। जिस उच्च धर्म-ध्यान तथा शुक्लध्यानसे आत्मा शुद्ध होता है उसके अन्तरंगमें लाभ बिना बाहरी मुनि पदके योग्य आचरणरूपी सामग्रीका सम्बन्ध मिलाए नहीं होसक्ता है अतएव तुमने जो परिग्रह त्याग निर्ग्रंथ होनेका भाव अपने मनमें जागृत किया है, यह भाव अवश्य तुम्हारी मंगलकामनाको पूर्ण करनेवाला है।

जब तुम इस शरीरके सर्व कुटुम्बके ममत्वको त्यागकर निज आत्माके ज्ञान, दर्शन सुख, वीर्य आदि रूप अमिट कुटुम्बियोंके प्रेमी हुए हो, इससे तुम्हें अवश्य वह मुक्तिरूपी अखंड लक्ष्मी प्राप्त होगी जो निरंतर सुख व शांति देती हुई आत्माको परम कृतकृत्य तथा परम पावन और परमानंदित रखती है। इस तरह आत्मरस-गर्भित उपदेश देकर आचार्य अनुग्रहकर उस शिष्यको स्वीकार करते हैं ॥ ३ ॥

उत्थानिका-आगे गुरु द्वारा स्वीकार किये जानेपर वह

अन्वय सहित विशेषार्थ-(सहावे) स्वभावमें (अवट्ठिय) रहा हुआ (सत्) सत् (दव्व) द्रव्य है । (दव्वस्स) द्रव्यका (अत्थेसु) गुण पर्यायोंमें (जो) जो (ठिदिसंभवणाससंबद्धो) ध्रौव्य, उत्पाद व्यय सहित (परिणामो) परिणाम है (सो) वह (हि) ही (सहावो) स्वभाव है ।

विशेषार्थ–यहां टीकाकार परमात्मा द्रव्यपर प्रथम घटाकर समझाते हैं। स्वभावमें तिष्ठा हुआ शुद्ध चेतनाका अन्वयरूप (बराबर) अस्तित्व परमात्मा द्रव्य है । उस परमात्मा द्रव्यका अपने केवलज्ञानादि गुण और सिद्धत्व यहा अरहंतपनेसे मतलब (है) आदि पर्यायोंमें अपने आत्माकी प्राप्ति रूप उत्पाद उसी ही समयमें परमागमकी भाषामें एकत्ववितर्क अवीचार रूप दूसरे शुक्ल ध्यानका या शुद्ध उपादानरूप सर्व रागादिके विकल्पकी उपाधिसे रहित स्वसंवेदन ज्ञानपर्यायका नाश तथा उसी ही समय इन दोनों उत्पाद व्ययके आधाररूप परमात्म द्रव्यकी स्थिति इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य सम्बन्धी जो परिणाम है वही निश्चयसे उस परमात्म द्रव्यका केवलज्ञानादि गुण वा सिद्धत्व आदि पर्यायरूप स्वभाव है । गुण पर्याय द्रव्यके स्वभाव हैं इस लिये उनको अर्थ कहते हैं। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीन स्वभावसे एक समयमें यद्यपि पर्यायार्थिक नयसे परमात्म द्रव्य परिणमन करते हैं तथापि द्रव्यार्थिक नयसे सत्ता लक्षण रूप ही है । तीन लक्षण रूप होते हुए भी सत्ता लक्षण क्यों कहते हैं, इसका समाधान यह है कि सत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप है। जैसा कहा है " उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् " जैसे यह परमात्म द्रव्य एक

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने भावलिंग और द्रव्यलिंग दोनोंका सकेत किया है और साधुपद धारनेवालेके लिये तीन विशेषण बताए ह। अर्थात् निर्ममत्त्व हो, जितेन्द्रिय और यथाजात रूपधारी हो।

निर्ममत्त्व विशेषणसे यह झलकता है कि उसका किसी प्रकारका ममत्त्व किसी भी परद्रव्यमे न रहना चाहिये। स्त्री, पुत्र, माता, पिता, मित्र, कुटुम्बी, पशु आदि चेतन पदार्थ, ग्राम, नगर, देश राज्य, घर, वस्त्र, आभूषण, बर्तन, शरीर आदि अचेतन पदार्थ इन सबसे जिसका बिलकुल ममत्व न रहा हो। न जिसका ममत्व आठ कर्मोंके बने हुए कार्मण शरीरसे हो, न तैजस वर्गणासे निर्मित तैजस शरीरसे हो, न उन रागद्वेषादि नैमित्तिक भावोंसे हो जो मोहनीय कर्मके उदयके निमित्तसे आत्माके अशुद्ध उपभोगमें झलकते हैं, न शुभोपभोग रूप दान पूजा, जप, तप आदिसे जिसका मोह हो-उसने ऐसा निश्चय कर लिया हो कि शुभभाव बन्धके कारण हैं इसमे त्यागने योग्य ह। वह ऐसा निर्मोही हो जावे कि अपने शुद्ध निर्विकार ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणधारी आत्मस्वभावके सिवाय किसी भी परद्रव्यको अपना नही जाने, यहातक कि अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पाचो परमेष्टियोसे और अन्य आत्माओसे भी मोह नहीं रखे। स्याद्वाद नयका ज्ञाता होकर यह ज्ञानी साधु ऐसा समझे कि अपना शुद्ध अखड आत्मद्रव्य अपने ही शुद्ध असख्यात प्रदेशरूप क्षेत्र, अपने ही शुद्ध समयर के पर्याय तथा अपने ही शुद्ध गुण तथा गुणाश ऐसे स्वद्रव्य क्षेत्रकाल भावकी अपेक्षा मेरा अस्तित्त्व मेरे ही मे है

दोष होगा इसके लिये स्वामी समंतभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है—

नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम्॥ ३७॥

भावार्थ यदि पदार्थमें मात्र नित्यपना ही है, अनित्यपना नहीं है ऐसा एकान्त पक्ष माना जायगा तो उसमें एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें पलटना नहीं होगा वस्तु सदा एक रूप ही बनी रहेगी उसमें कोई विकार नहीं होगा, तब कर्ता कर्म करण आदि कारकोंका पहले ही अभाव होनेसे उसमें प्रमाण और उसके फलकी कल्पना नहीं हो सकेगी।

और यदि वस्तुको सर्वथा अनित्य माना जावेगा तो क्या दोष होगा उसके लिये भी स्वामी वहीं कहते हैं—

क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भवः।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम्॥ ४१॥

भावार्थ—यदि वस्तुको सर्वथा क्षणिक माना जायगा कि पदार्थ क्षणक्षणमें बिलकुल नष्ट होता है तो यह दोष आएगा कि जीवके परलोककी व संसार व मोक्षकी सिद्धि न होगी तथा प्रत्यभिज्ञान न होगा कि यह वही वस्तु है जिसको पहले देखा था न किसी पदार्थके लिये विचार या तर्क हो सकेगा और न घट पट बनानेके कार्यका आरंभ हो सकेगा न कार्य बनके उससे कोई फलकी साधना की जा सकेगी। परन्तु यदि वस्तुको गुणोंकि सदा स्थिर रहनेकी अपेक्षासे नित्य माना जावे और उन गुणोंमें समय समय पर्याय विनशती उपजती है इससे अनित्य माना जावे तब ही

शिष्टे दुष्टे सदसि विपिने काचने लोष्ठवर्गे।
सौख्ये दुःखे शुनि नरवरे सगमे यो वियोगे ॥
शश्वद्धीरो भवति सदृशो द्वेषरागव्यपोढ ।
प्रौढा स्त्रीव पृथितमहसस्तस्य सिद्धि करस्था ॥३५॥

भावार्थ–जो सज्जन व दुर्जनमे, सभा व वनमें, सुवर्ण व कंकड पत्थरमे, सुख व दुःखमें, कुत्ते व श्रेष्ठ मनुष्यमे, सयोग व वियोगमे सदा समान बुद्धिधारी, धीरवीर, रागद्वेषसे शून्य वीतरागी रहता है उसी तेजस्वी पुरुषके हाथको मुक्तिरूपी स्त्री नवीन स्त्रीके समान ग्रहण कर लेती है।

दूसरा विशेषण जितेन्द्रियपना है। साधुको अपनी पाचो इन्द्रियो और मनके ऊपर ऐसा स्वामीपना रखना चाहिये जिस तरह एक घुडस्वार अपने घोडोपर स्वामित्त्व रखता है। वह कभी भी इन्द्रिय व मनकी इच्छाओंके आधीन नहीं होता है क्योकि सम्यग्दर्शनके प्रभावसे उसकी रुचि इद्रियसुखसे दूर होकर आत्मजन्य अतीन्द्रिय आनन्दकी ओर तन्मय होगई है। इन्द्रियसुख अतृप्तकारी तथा ससारमें जीवोको लुब्ध रखकर क्लेशित करनेवाला है जब कि अतीन्द्रिय सुख आत्माको सतोषित करके मुक्तिके मनोहर सदनमें ले जानेवाला है। ऐसा विश्वासधारी ज्ञानी भाव स्वभावसे ही जितेन्द्रिय होजाता है। वह इद्रिय विजयी साधु अपनी इद्रियोसे व मनसे आत्मानुभवमें सहकारी स्वाध्याय आदि कार्योंसे लेता है–वह उनकी इच्छाओंके अनुकूल विषयोंके वनोमें दौडकर आकुलित नहीं होता है। श्री मूलाचारजीमे कहा है—

जो रसेन्दिय फासे य कामे वज्जदि णिच्चसा ।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे ॥ २६ ॥

उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी परस्पर अपेक्षाको बताते है–निर्दोष परमात्माकी रुचिरूप सम्यक्त अवस्थाका उत्पाद सम्यक्त्तसे विपरीत मिथ्यात्त्व पर्यायके नाशके विना नहीं होता है क्योंकि उपादान कारणके अभावसे कार्य नहीं बन सकेगा। जब उपादान कारण होगा तब ही कार्य होसक्ता है। जैसे मिट्टीके पिंडका नाश हुए विना घडा नहीं पैदा होसक्ता है। मिट्टीका पिंड उपादान कारण है। दूसरा कारण यह है कि जो मिथ्यात्व पर्यायका नाश है वही सम्यक्तकी पर्यायका प्रतिभास है क्योंकि ऐसा सिद्धातका वचन है कि "भावान्तरस्वभावरूपो भवत्यभाव " अन्य भाव रूप स्वभाव ही अभाव होता है अर्थात् सर्वथा अभाव नहीं होता–अन्य अवस्थारूप परिणमना ही अभाव है जैसे घटका उत्पन्न होना ही मिट्टीके पिंडका भग है। यदि मिथ्यात्व पर्यायके भग रूप सम्यक्तके उपादान करणके अभावमें भी शुद्धात्माकी अनुभूतिकी रुचिरूप सम्यक्तका उत्पाद हो जावे तब तो उपादान कारणसे रहित आकाशके पुष्पोंका भी उत्पाद हो जावे सो ऐसा नहीं हो सक्ता है। इसी तरह पर द्रव्य उपादेय है–ग्रहण योग्य है ऐसे मिथ्यात्वका नाश पूर्वमें कहे हुए सम्यक्त पर्यायके उत्पाद विना नहीं होता है क्योंकि भगके कारणका अभाव होनेसे भग नहीं बनेगा जैसे घटकी उत्पत्तिके अभावमें मिट्टीके पिंडका नाश नहीं बनेगा। दूसरा कारण यह है कि सम्यक्त रूप पर्यायकी उत्पत्ति मिथ्यात्त्व रूप पर्यायके अभाव रूपसे ही देखनेमें आती है क्योंकि एक पर्यायका अन्य पर्यायमें पलटना होता है। जैसे घट पर्यायकी उत्पत्ति मिट्टीके पिंडके अभाव रूपसे ही होती है। यदि सम्यक्तकी उत्पत्तिकी

आनन्द है उसको बुद्धिमानोंने सुख कहा है—जो इंद्रियाधीन पराधीन सुख है यह दुःख ही है सुख नहीं है।

स्वामी समन्तभद्रने स्वयम्भूस्तोत्रमें इंद्रियसुखको इस तरह हेय बताया है—

स्वास्थ्य यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ॥३०॥

भावार्थ—श्री सुपार्श्वनाथ भगवानने कहा है कि जीवोंका सच्चा स्वार्थ अपने आत्मामें स्थित होना है, क्षणभंगुर भोगोंका भोगना नहीं है क्योंकि इंद्रियोंका भोग करनेसे तृष्णाकी वृद्धि हो जाती है तथा विषयभोगकी ताप कभी शान्त नहीं होसक्ती।

इस तरह सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे वस्तुस्वरूपको विचारते हुए साधु महात्माको जितेंद्रियपना प्राप्त होता है।

तीसरा विशेषण यथाजातरूपधारी है। इससे यह प्रयोजन है कि साधुका आत्मा पूर्ण शांत होकर अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें रमण करता हुआ उसके साथ एकरूप—तन्मय हो जाता है। साधु वारवार छठे सातवें गुणस्थानमें आता जाता है। छठेमें यद्यपि कुछ ध्याता, ध्येय व ध्यानका भेद बुद्धिमें झलकता है तथापि सातवें गुणस्थानमें आत्मामें ऐसी एकाग्रता रहती है कि ध्याता ध्यान ध्येयके विकल्प भी मिट जाते हैं। जिस स्वभावमें स्वानुभवके समय द्वैतताका अभाव हो जाता है—मात्र अद्वैत रूप आप ही अकेला अनुभवमें आता है, वही ही यथाजातरूपपना भाव लिंग है। इसी भावमें ही निश्चय मोक्षमार्ग है। यही रत्नत्रयकी एकता,

व्यय न माने तो उत्पाद न होगा। ध्रौव्य न माने तो उत्पाद व्यय किसमें होगा। इसलिये यह बात बिलकुल यथार्थ है कि एक समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनोंको ही किसी भी सत पदार्थमें मानना होगा। अन्यथा कोई कार्य नहीं होसक्ता। जैसे जब एक काठकी चौकी बनी है तब काठके तखतेकी दशाको बिगाडकर बनी है। जब तखतेका नाश हुआ तब ही चौकीकी उत्पत्ति हुई तथा तखते और चौकी दोनोंका आधारभूत लकडी ध्रौव्य रूपसे मोजूद है ही। गोरसको बिलोकर जब मक्खन बना तब मक्खनका उत्पाद हुआ सो दूधकी दशाको नाशकर हुआ है और गोरस दूधमें भी था और इस मक्खनमें भी है। वृत्तिकारने सम्यक्तकी उत्पत्तिका उदाहरण दिया है कि जब सम्यग्दर्शन गुण आत्मामें प्रगट होता है तब मिथ्यात्वके उदयका अभाव अवश्य होता है और आत्मा दोनो अवस्थाओंमें विद्यमान रहता है। इस कथनमे यह बात दिखलाई है कि किसी पदार्थका सर्वथा नाश या अभाव नहीं होसक्ता है और न कोई पदार्थ अकस्मात् विना कारणके उत्पन्न होसक्ता है तथा जिसमे नाशपना और उत्पाद होता है वह पदार्थ बना रहता है। मूल पदार्थ यदि न बना रहे तो कोई भी अवस्था उसमें हो नहीं सक्ती। इस कथासे और भी स्पष्टकर दिया गया है कि यह जगत् अनादिअनन्त और अकृत्रिम है। कारण यही है कि सत् पदार्थ सदा ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूपसे रहता है। जिन पदार्थोंका जगतमें समावेश है वे सब पदार्थ सत् हैं और उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप हैं। यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यका कथन परस्पर सापेक्ष है इसी बातको स्वामी समंतभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें इस भांति दर्शाया है—

श्री देवसेन आचार्य श्री तत्त्वसारमें कहते हैं —

झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो सम्वेय णियअप्पाणं ।
तो ण लहइ त सुद्धं भग्गविहीणो जहा रयणं ॥४६॥

भावार्थ-जो योगी ध्यानमें स्थित होकर भी यदि निज आत्माका अनुभव नहीं करता है तो वह शुद्ध आत्मस्वभावको नहीं पाता है। जैसे भाग्यरहितको रत्न मिलना कठिन है।

श्री नागसेन मुनिने तत्त्वानुशासनमें भावमुनिके स्वरूपको इसतरह दिखलाया है —

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावान् मोह एव स ॥ १६६ ॥
आत्मानमन्यसंपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति ।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्य पश्यत्यात्मानमद्वयं ॥ १७७ ॥
पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यार्जितान्मलान् ।
निरस्ताहं ममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ॥ १७८ ॥

भावार्थ-समाधिमें स्थित योगी द्वारा यदि ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव नहीं किया जाता है तो उसके आत्मध्यान नहीं है। वह केवल मूर्छावान है अर्थात् मोह स्वरूप ही है। आत्माको अन्यसे संयुक्त देखता हुआ योगी द्वैतभावका विचार करता है, परन्तु उसीको अन्योंसे भिन्न अनुभव करता हुआ एक अद्वैत शुद्ध आत्माहीको देखता है।

आत्माको एकाग्रभावसे अनुभव करता हुआ योगी पूर्व बद्ध कर्ममलोंका क्षय करता है तथा अहंकार ममकार भावको दूर रखता हुआ आगामी कर्मके आश्रवका संवर भी करता है। वास्तव

णकी अपेक्षा तीनों भिन्न २ हैं परन्तु एक द्रव्यमें एक समयमें पाए जाते हैं इससे भिन्न नहीं है। इस कारण ये कथंचित् भिन्न व कथंचित अभिन्न हैं। दूसरा दृष्टांत देते हैं—

पयो व्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रत ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

भावार्थ–जिसको यह व्रत है कि मैं दूधको खाऊगा दही न खाऊगा वह दहीको नहीं खाता है और जिसको दही खानेका व्रत है वह दही खाता है दूधको नहीं खाता है परन्तु जिसको यह व्रत है कि मैं गोरसको नहीं खाऊगा वह न दहीको खाता है न दूधको पीता है इसलिये यह सिद्ध है कि पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। जब दूधका दही बनता हो तब दूध चाहनेवालेको खेद, दही चाहनेवालेको हर्ष व दोनों न चाहनेवालेको माध्यस्थ भाव रहेगा। ऐसा वस्तुका स्वभाव जानकर अपने आत्माको सत् पदार्थ निश्चय करके अपनी संसार अवस्थाको नाशकर मुक्तावस्थाके उत्पादका दृढ उद्योग हमको करना चाहिये और वह उद्योग एक साम्यभाव है जो रत्नत्रयकी एकतारूप आत्माकी परिणतिमें झलकना है इसलिये साम्य या स्वात्मानुभवका लाभ करना चाहिये ॥ ९ ॥

उत्थानिका–आगे यह बताते हैं कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यका द्रव्यके साथ परस्पर आधार आधेय भाव है इसलिये अन्वयरूप द्रव्यार्थिक नयमें वे द्रव्य ही हैं—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ॥
दव्वं हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥१०॥
उत्पादस्थितिभङ्गा विद्यन्ते पर्यायेषु पर्यायाः ।
द्रव्यं हि सन्ति [illegible] तस्माद्द्रव्यं भवति सर्वम् ॥१०॥

बड़े २ कष्ट सहजमें सहे जासक्ते हैं। एक लोभी मजूर ज्येष्ठकी उष्णतामें नंगे पैर काष्ठका बोझा लिये चला जाता है उस समय पैसेके लोभने उसके मनको दृढ़ कर दिया है। एक व्यापारी वणिक धन कमानेकी लालसासे उष्णकालमें मालको उठाना धरता, दीनता सवारता कुछ भी कष्ट नहीं अनुभव करता है क्योंकि लोभ कषायने उस समय उसके मनको दृढ़ कर दिया है। इसी तरह आत्मरसिक साधु आत्मानन्दकी भावनासे प्रेरित हो तपस्या करते हुए तथा शीत, घाम, वर्षा, डांस मच्छर आदि बाईस परीसहोंको सहते हुए भी कुछ भी कष्ट न मालूम करके आत्मानन्दका स्वाद लेरहे हैं, क्योंकि आत्मलाभके प्रेमने उनके मनको दृढ़ कर दिया है।

जो कायर हैं वे नग्नपना धार नहीं सक्ते। वीरोंके लिये युद्धमें जाना, शत्रु द्वारा प्रेरित बाण-वर्षाका सहना तथा शत्रुका विजयपाना एक कर्तव्य कर्म है वैसे ही वीरोंके लिये कर्म शत्रुओंके साथ लड़नेको मुनिपदके युद्धमें जाना, अनेक परीसह व उपसर्गोंका सहना, तथा कर्म शत्रुको जीतना एक कर्तव्य कर्म है। दोनों ही वीर अपने २ कार्यमें उत्साही व आनन्दित रहते हैं।

नग्नपना धरना कोई कठिन बात भी नहीं है। हरएक कार्य अभ्याससे सुगम होजाता है। श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका जो अभ्यास करते हैं उनको धीरे २ वस्त्र कम करते हुए ग्यारहवें पदमें एक चद्दर और एक लंगोटी ही धारनेका अभ्यास हो जाता है। बस फिर साधु पदमें लंगोटीका भी छोड़ देना सहज होजाता है। जहां तक शरीरमें शीत उष्ण डांस मच्छर आदिके सहनेकी शक्ति न हो व लज्जा व कामभावका नाश न होगया हो वहांतक

भेद कहे गए तैसे ही सर्व द्रव्यकी पर्यायोंमें यथासंभव ... चाहिये यह अभिप्राय है ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्यसे भिन्न नहीं है । ये तीनों ही द्रव्यमें होते हैं । इनके बिना द्रव्य नहीं और द्रव्यके विना ये नहीं । जैसे बीजका नाश अंकुरका फटना तथा वृक्षत्वका ध्रौव्य वृक्षके बिना नहीं और वृक्ष इनके विना नहीं होता है । मिट्टीके पिंडका नाश, घटकी उत्पत्ति तथा मिट्टीपनेका ध्रौव्य मिट्टी द्रव्यके विना नहीं और मिट्टी इनके बिना नहीं । दूधका नाश घीका उत्पाद, गोरसपनेका ध्रौव्य गोरस द्रव्यके बिना नहीं और गोरस इन तीनके बिना नहीं है । इसी तरह वृत्तिकारके अनुसार मिथ्यात्वका नाश, सम्यक्तकी उत्पत्ति, आत्मापनेका ध्रौव्य आत्म द्रव्यके विना नहीं और आत्मा इन विना नहीं। ऐसा हरएक द्रव्यका अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यके साथ आधार आधेय भाव है। पर्यायार्थिक नयसे अर्थात् अंश भेद या अंश कल्पनाकी दृष्टिसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य दिखते हैं परन्तु द्रव्यार्थिक नयसे ये भेद नहीं दिखते—द्रव्य अखंड एकरूप बराबर झलकता है। जो अनेक समयोंमें एकसा चला आवे उसको अन्वय कहते हैं। अभिप्राय कहनेका यह है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्य ही निश्चयसे है द्रव्यसे किसी तरह बिल्कुल भिन्न नहीं है। भेद दृष्टिमें संज्ञा, संख्या, लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा भेद है परन्तु प्रदेशोंकी अपेक्षा भेद नहीं है । श्री आप्तमीमांसामें श्री समंतभद्राचार्यने इसी बातको बतलाया है—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति ... *सदैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥*

भावार्थ-प्राणियोंकी हिंसा न करना जगतमें एक परमब्रह्म भाव है, जिस आश्रममें थोड़ा भी आरम्भ है वहा यह अहिंसा नहीं है इसीसे उस अहिंसाकी सिद्धिके लिये आप परम करुणाधारीने अतरङ्ग बहिरंग दोनों ही प्रकारकी परिग्रहका त्याग कर दिया और किसी प्रकारके जटा मुकुट भस्मधारी आदि वेषोंमें व वस्त्राभरणादि परिग्रहमें रञ्चमात्र रति नहीं रक्खी अर्थात् आप यथाजातरूपधारी होगए। श्री विद्यानन्दीस्वामी पात्रकेशरी स्तोत्रमें कहते हैं—

जिनेश्वर न ते मत पटकवस्त्रपात्रग्रहो ।
विमृज्य सुखकारण स्वयमशक्तकै कल्पित ॥
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद् वृथा नग्नता ।
न हस्तसुलभे फले सति तरु समारुह्यते ॥४१॥

भावार्थ—हे जिनेंद्र ! आपके मतमें साधुओंके लिये ऊन कपासादिके वस्त्र रखना व भिक्षा लेनेका पात्र रखना नहीं कहा गया है। इनको सुखका कारण जानके स्वय असमर्थ साधुओंने इनका विधान किया है। यदि परिग्रह सहित मुनिपना भी मोक्षमार्ग हो जाव तो आपका नग्न होना वृथा होजावे, क्योंकि यदि वृक्षका फल हाथमें ही मिलना सहज हो तो कौन बुद्धिमान वृक्षपर चढ़ेगा।

श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं —

षट्खण्डाधिपतिश्चक्री परित्यज्य वसुन्धराम् ।
तृणवत् सर्वभोगांश्च दीक्षा दैगम्बरी स्थिता ॥ १८ ॥

भावार्थ—छ खडका स्वामी चक्रवर्ती भी सर्व पृथ्वीको और सर्व भोगोंको तिनकेके समान त्यागकर दिगम्बरी दीक्षाको धारण करते हैं।

समनेत खलु द्रव्य सभवस्थितिनाशसज्ञितार्थे ।
एकस्मिन् चैव समये तस्माद्द्रव्य खलु तत्रितयम् ॥११॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(दव्व) द्रव्य (खलु) निश्चयसे (एकम्मि चेव समये) एक ही समयमें परिणमन करनेवाले (सभव-ठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं) उत्पाद स्थिति व नाश नामके भावोंसे (समवेद) एक रूप है अर्थात् अभिन्न है (तम्हा) इसलिये (दव्व) द्रव्य (खु) प्रगट रूपमे (तत्तिदय) उन तीन रूप है।

विशेषार्थ–यहा वृत्तिकार उत्पाद व्यय ध्रौव्यको आत्मा द्रव्यके साथ लगाकर स्थापित करते है। आत्मा नामा द्रव्य जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक निश्चल और विकार रहित अपने आत्माके अनुभवमई लक्षणवाले वीतराग चारित्रकी अवस्थासे उत्पन्न होता है अर्थात् जब सम्यग्दृष्टी और ज्ञानी आत्मामे वीतराग चारित्रकी पर्यायका उत्पाद होता है तब ही रागादिरूप पर्यायका जो परद्रव्योंके साथ एकता करके परिणमन कररहा था–नाश होता है और उसी वक्त इन दोनों उत्पाद और व्ययका आधाररूप आत्म द्रव्यकी अवस्थारूप पर्यायसे ध्रौव्यपना है। इस तरह वह आत्म-द्रव्य अपने ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी पर्यायोंसे एक रूप है या अभिन्न है। यही बात निश्चयसे है। ये तीनो पर्यायें बौद्धमत की तरह भिन्न २ समयमे नही होती है किन्तु एक ही समयमे होती है। जैसे जब अगुलीको टेढा किया जावे तब एक ही समयमें टेढेपनेकी उत्पत्ति और सीधेपनका नाश तथा अगुलीपनेका ध्रौव्य है। इसी तरह जब कोई ससारी जीव मरण करके ऋजु-गतिसे एक ही समयमें जाता है तब जो समय मरणका है वही

होता है वैसा होता है (उप्पाडिदकेसमसुग) जिसमें सिर और डाढ़ीके बालोंका लोच किया जाता है (सुद्ध) जो निर्मल और (हिंसादीदो रहिदं) हिंसादि पापोंसे रहित तथा (अप्पडिकम्म) श्रृंगार रहित (हवदि) होता है। तथा (लिंग) मुनिका भाव चिन्ह (मुच्छारम्भविजुत्तं) ममता आरम्भ करनेके भावके रहित तथा (उवजोगजोगसुद्धीहिं जुत्त) उपयोग और व्यानकी शुद्धि सहित (परावेक्ख ण) परद्रव्यकी अपेक्षा न करनेवाला (अपुणब्भवकारण) मोक्षका कारण और (जोण्ह) जिन सम्बन्धी होता है।

विशेषार्थः—जैन साधुका द्रव्यलिंग या शरीरका चिन्ह पाच विशेषण सहित जानना चाहिये–(१) पूर्व गाथामें कहे प्रमाण निर्ग्रन्थ परिग्रह रहित नग्न होता है (२) मस्तकके और डाढ़ी मूछोंके शृंगार सम्बन्धी रागादि दोषोंके हटानेके लिये सिर व डाढ़ी मूछोंके केशोंको उपाडे हुए होता है (३) पाप रहित चैतन्य चमत्कारके विरोधी सर्व पाप सहित योगोंसे रहित शुद्ध होता है (४) शुद्ध चैतन्यमई निश्चय प्राणकी हिंसाके कारणभूत रागादि परिणतिरूप निश्चय हिंसाके अभावसे हिंसादि रहित होता है (५) परम उपेक्षा संयमके बलसे देहके संस्कार रहित होनेसे शृंगार रहित होता है। इसी तरह जैन साधुका भाव लिंग भी पाच विशेषण सहित होता है। (१) परद्रव्यकी इच्छा रहित व मोह रहित परमात्माकी ज्ञान ज्योतिसे विरुद्ध बाहरी द्रव्योंमें ममताबुद्धिको मूर्छा कहते हैं तथा मन वचन कायके व्यापार रहित चैतन्यके चमत्कारसे प्रतिपक्षी व्यापारको आरम्भ कहते हैं। इन दोनोंसे मूर्छा और आरम्भसे रहित है (२) विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण भर्म

अथवा जिस समय व्यय होता उस समय उत्पाद और ध्रौव्य नहीं होते अथवा जब ध्रौव्य होता तब उत्पाद व्यय नहीं होते । किन्तु वस्तुका स्वभाव यह है कि ये तीनों द्रव्यमें एक ही समयमें होते हैं । द्रव्य अपने सामान्य द्रवण या परिणमन स्वभावसे सदाकाल परिणमन करता रहता है चाहे उसमें स्वाभाविक सदृश परिणमन हो, चाहे वैभाविक विसदृश परिणमन हो। हरएक समयमें द्रव्य जब जिस अवस्थाविशेषको झलकाता है तब ही पूर्व अवस्थाविशेषका नाश होता है और वह द्रव्य स्थिर रहता है । द्रव्यका ध्रौव्य रहते हुए किसी पर्यायका नाश सो ही किसी अन्य पर्यायका उत्पाद है अथवा किसी पर्यायका उत्पाद सो ही किसी पर्यायका नाश है । सूर्योदयका होना सो ही रात्रिका नाश है, अथवा रात्रिका नाश सो ही सूर्योदय होना है । दिशाओंका ध्रौव्य है ही । चनेके दानेका नाश सो ही बेसनका उत्पाद है अथवा बेसनका उत्पाद सो ही चनेके दानेका नाश है तथा चनेके परमाणुओंका ध्रौव्य है ही। इसी तरह आत्मामें क्रोधका नाश सो ही उत्तम क्षमाका उत्पाद है, मानका नाश सो ही उत्तम मार्दवका उत्पाद है, मायाका नाश सो ही उत्तम आर्जवका उत्पाद है, उत्तम शौचका उत्पाद सो ही लोभका नाश है, सम्यग्दर्शनका उत्पाद सो ही मिथ्यात्वका नाश है, पंचमगुणस्थानका नाश सो ही सप्तम गुणस्थानका उत्पाद है। अव्रतका नाश सो ही व्रतभावका उत्पाद है। इन उत्पाद व नाशोंके एक समयमें होने हुए आत्मा ध्रौव्य रूप है ही, इस तरह आत्मा व अनात्मारूप सम्पूर्ण द्रव्य हरएक समयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हैं। इसी तीनरूप [illegible] हुए ही द्रव्य जगतमें कार्योंको प्रगट

भावार्थ—केशोंका लोच दो मासमें करना उत्कृष्ठ है, तीन मासमें करना मध्यम है, चार मासमें करना जघन्य है। प्रतिक्रमण सहित लोच करना चाहिये अर्थात् लोच करके प्रतिक्रमण करना चाहिये और उस दिन अवश्य उपवास करना चाहिये। मूलाचारकी वसुनंदि सिद्धांत चक्रवर्तीकृत संस्कृतवृत्तिसे यह भाव झलकता है कि दो मासके पूर्ण होनेपर उत्कृष्ट है, तीन मास पूर्ण हों व न पूर्ण हों तब करना मध्यम है, तथा चार मास अपूर्ण हों व पूर्ण हो तब करना जघन्य है। नाधिकेषु शब्द कहता है कि इससे अधिक समय विना लोच न रहना चाहिये। दो मासके पहले भी लोच नहीं करना चाहिए वैसे ही चार माससे अधिक विना लोच नहीं रहना चाहिये। लोच शब्दकी व्याख्या इस तरह है— "लोच वालोत्पाटन हस्तेन मस्तकश्मश्रुणामपनयन जीवसम्मूर्छनादिपरिहारार्थं रागादिनिराकरणार्थं स्ववीर्यप्रकटनार्थं सर्वोत्कृष्टतपश्चरणार्थं लिंगादिगुणज्ञापनार्थं चेति"

भावार्थः—हाथसे वालोंको उखाड़ना लोच है। मस्तकके केश व दाढ़ी मूछके केशोंको दूर करना चाहिये जिसके लिये ५ हेतु हैं— (१) सम्मूर्छन विकलत्रय आदि जीवोंकी उत्पत्ति बचानेके लिये (२) रागादि भावोंको दूर करनेके लिये (३) आत्मबलके प्रकाशके लिये (४) सर्वसे उत्कृष्ट तपस्या करनेके लिये (५) मुनिपनेके लिंगको प्रगट करनेके लिये। छुरी आदिसे लोच न करके हाथोंसे क्यों करते हैं इसके लिये लिखा है "दैन्यवृत्तियाचनपरिग्रहपरिभवादिदोषपरित्यागात्" अर्थात् दीनतापना, याचना, ममता व लज्जित होने आदि दोषोंको त्यागनेके लिये।

है (तपि) तौभी (दव्व) द्रव्य (णेव पणट्ठ ण उप्पण्ण) न तो नाश हुआ है और न उत्पन्न हुआ है ।

विशेषार्थ—वृत्तिकार आत्म द्रव्यपर घटाकर कहते हैं कि शुद्ध आत्मा द्रव्यके जब कोई अपूर्व और अनन्त ज्ञान सुख आदि गुणोंकी स्थान तथा अविनाशी परमात्म स्वरूपकी प्राप्तिरूप स्वभाव द्रव्य पर्याय अथवा मोक्ष अवस्था प्रगट होती है तब इस मोक्ष पर्यायसे भिन्न तथा निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधिरूप मोक्ष पर्यायकी उपादान कारणरूप पूर्व पर्याय नाश होती है । तथापि वह परमात्मा द्रव्य शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा न नष्ट होता है न उत्पन्न होता है । अथवा ससारी जीवकी अपेक्षा जब देव आदि रूप विभाव द्रव्य पर्याय उत्पन्न होती है तब ही मनुष्य आदिरूप पर्याय नष्ट होती है । तथा वह जीव द्रव्य निश्चयसे न उपजा है न विनशा है । इसी तरह पुद्गल द्रव्यपर जब विचार किया जाय तो मालूम होगा कि दो अणुका स्कध, चार अणुका स्कध आदि स्कन्धरूप स्वजातीय विभाव द्रव्य पर्याय जब कोई उत्पन्न होती है तब पूर्व पर्यायको नाश करके ही पैदा होती है । तौ भी पुद्गल द्रव्य निश्चयसे न उपजता है न नष्ट होता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होनेके कारण द्रव्यकी पर्यायोंका नाश और उत्पाद होने पर भी द्रव्यका नाश नहीं होता है । इस हेतुसे द्रव्यकी पर्यायें भी द्रव्य लक्षण या स्वरूप होती हैं अर्थात् द्रव्यसे जुदी नहीं हैं ऐसा अभिप्राय है ।

भावार्थ इस गाथामें आचार्यने द्रव्यके स्वरूपको और भी स्पष्ट प्रगट कर दिया है कि द्रव्य न कभी उपजता है न नष्ट होता

पाचवा विशेषण यह है कि मुनिका द्रव्यलिंग प्रतिकर्म रहित होता है। मुनि महाराज अपने शरीरकी जरा भी शोभा नही चाहते है इसी लिये दतौन नही करते, स्नान नहीं करते, उसे किसी भी तरह भूषित नही करते है। इस तरह जैसे पाच विशेषण द्रव्यलिंगके है वैसे ही पाच विशेषण भाव लिंगके ह। मुनि महाराजका भाव इस भावसे रहित होता है कि निज आत्माके सिवाय कोई भी परवस्तु मेरी है। उनको सिवाय निज शुद्ध भावके और सब भाव हेय झलकने है, न उनके भावोंमें असि मसि आदि व चूल्हा चक्की आदि आरम्भ करनेके विचार होने ह इसलिये उनका भाव मूर्छा और आरम्भ रहित होता है। ४६ दोष ३२ अन्तराय टालकर भोजन करूँ ऐसा उनके नित्य विचार रहता है। दूसरा विशेषण यह है कि उनके उपयोग और योगकी शुद्धि होती है। उपयोगकी शुद्धिसे अर्थ यह है कि वे अशुभोपयोग और शुभोपयोगमें नही रमते, उनकी रमणता रागद्वेष रहित साम्यभावमें अर्थात् शुद्ध आत्मीक भावमे होती है। योगकी शुद्धिसे मतलब यह है कि उनके मनवचन काय थिर हों और वे ध्यानके अभ्यासी हो। उनके योगोंमे कुटिलता न होकर ध्यानकी अत्यन्त आशक्तता हो। तीसरा विशेषण यह है कि उनका भाव परकी अपेक्षा रहित होता है। अर्थात् भावोंमें स्वात्मानुभवकी तरफ ऐसा झुकाव है कि वह परद्रव्योंके आलम्बनकी चाह नहीं होती है-वे नित्य निजानन्दके भोगी रहते है। चौथा विशेष यह है कि मुनिका भाव मोक्षका साक्षात् कारण रूप अभेद रत्नत्रयमई होता है। भावोंमें निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक चारित्रकी तन्मयता रहती है यही मुक्तिका

तब वह हरेपनेको नाश करके ही पीला हुआ है। इस तरह अव-स्था बदलते हुए भी आमका उस क्षण न नाश हुआ न उत्पाद।

इस कथनसे आचार्यने यह दिखला दिया है कि इस जग-तके सर्व ही द्रव्य उत्पाद व्यय करते हुए भी सदा बने रहते हैं। यही जगतका स्वरूप है। यह जगत इसी कारण नित्यानित्य है। क्योंकि बने रहनेके कारण नित्य जब कि पर्यायोंके उपजने व विनशनेकी अपेक्षा अनित्य है। न यह सर्वथा अनित्य है न सर्वथा नित्य है।

श्री समंतभद्राचार्यने स्वयंभूस्तोत्रमें यही बात बताई है--

स्थितिजननिरोधलक्षणं, चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम्।
इति जिन सकलज्ञलाञ्छनं, वचनमिदं वदतां वरस्य ते॥

भावार्थ-हे मुनिसुव्रतनाथ! आप उपदेष्टाओंमें श्रेष्ठ हैं। आपका जो यह उपदेश है कि यह चेतन व अचेतन रूप जगत प्रत्येक क्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणको रखनेवाला है वह इस बातका चिह्न है कि आप सर्वज्ञ हैं। क्योंकि जैसा वस्तु स्वरूप है वैसा आपने जाना है तथा वैसा ही उपदेश किया है।

तात्पर्य यह है कि संसारकी क्षणभंगुर पर्यायोंमें हमें मोही न होकर अपने आत्मद्रव्यके अविनाशी स्वभावपर ध्यान देकर उसकी शुद्धिके लिये जगतका स्वरूप समता भावसे विचारकर राग-द्वेष छोड देना चाहिये और स्वचारित्रमें तन्मय होकर परम स्वाधी-नताका लाभ करना चाहिये॥ १२॥

उत्थानिका--आगे द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूपको गुण-पर्यायकी मुख्यतासे बताते हैं।

हितकारी वचन बोलते हैं व जो सर्व मकरपोंसे रहित हैं वे क्यों नहीं मोक्षके पात्र होंगे? अवश्य होंगे ॥ ७ ॥

उत्थानिका-आगे यह कहते हैं कि मोक्षार्थी इन दोनों द्रव्य और भावलिंगोंको ग्रहणकर तथा पहले भावि नगमनयसे जो पंच आचारका स्वरूप कहा गया है उसको इस समय स्वीकार करके उस चारित्रके आधारसे अपने स्वरूपमें तिष्ठता है वही श्रमण होता है-

आदाय तंपि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमसित्ता।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥७॥

आदाय तदपि लिङ्गं गुरुणा परमेण तं नमस्कृत्य।
श्रुत्वा सव्रतं क्रियामुपस्थितो भवति स श्रमण ॥ ७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(परमेण गुरुणा) उत्कृष्ट गुरुसे (तंपि लिंगं) उस उभय लिंगको ही (आदाय) ग्रहण करके फिर (तं णमसित्ता) उस गुरुको नमस्कारके तथा (सवदं किरियं) व्रत सहित क्रियाओंको (सोच्चा) सुन करके (उवट्ठिदो) मुनि मार्गमें तिष्ठता हुआ (सो) वह मुमुक्षु (समणो) मुनि (हवदि) होजाता है।

विशेषार्थ-दिव्यध्वनि होनेके कालकी अपेक्षा परमागमका उपदेश करनेरूपसे अर्हत् भट्टारक परमगुरु हैं, दीक्षा लेनेके कालमें दीक्षादाता साधु परमगुरु हैं। ऐसे परमगुरु द्वारा दी हुई द्रव्य और भाव लिंगरूप मुनिकी दीक्षाको ग्रहण करके पश्चात् उसी गुरुको नमन करके उसके पीछे व्रतोंके ग्रहण सहित वृहत् प्रतिक्रमण क्रियाका वर्णन सुनकरके भलेप्रकार स्वस्थ होताहुआ वह पर्वमें कहा-हुआ तपोधन अब श्रमण होजाता है।

जाता है तौ भी आम्र फल ही है। इस तरह यह भाव है कि गुणकी पर्यायें भी द्रव्य ही हैं।

भावार्थ—आचार्यने इससे पहलेकी गाथामें द्रव्यकी पर्यायें द्रव्यसे अभिन्न होकर द्रव्य ही है ऐसा बताया था। इस गाथामें यह बताते हैं कि द्रव्यमें जितने गुण होते हैं वे सब जुदे २ परिणमन करते हैं। उन गुणोंकी जो जो अवस्थाए होती हैं उनको गुण पर्यायें कहते हैं। जैसे द्रव्यके गुण द्रव्यसे एक रूप द्रव्य ही हैं अथवा द्रव्यकी पर्याय द्रव्यसे एक रूप द्रव्य ही है तैसे गुणोंकी पर्यायें भी द्रव्यसे एक रूप द्रव्य ही हैं।

द्रव्य अपने गुणोंसे और गुणोकी पर्यायोसे जुदा नहीं है क्योंकि गुण और पर्यायरूप ही द्रव्य है। इसीको वृत्तिकारने दृष्टान्त देकर बताया है कि ज्ञान गुण जब वीतराग स्वसंवेदनरूप श्रुतज्ञानकी अवस्थासे बदलकर केवलज्ञानकी अवस्थामें आता है अथवा मतिज्ञानकी स्मृतिरूप अवस्थाको छोडकर श्रुतज्ञानकी पर्यायमें आता है तब इन गुण पर्यायोमें जीव द्रव्य बराबर मौजूद है अथवा एक आमका फल अपनी सत्तासे रहता हुआ ही अपने स्पर्शादि गुणोंकी पर्यायोमें पलटता है—हरे वर्णसे पीला होजाता है।

जैसे द्रव्यमें द्रव्य समस्तकी अपेक्षा उत्पाद व्यय ध्रौव्य है अर्थात् द्रव्यकी पूर्व पर्यायका व्यय, वर्तमान पर्यायका उत्पाद और द्रव्यकी थिरता, तैसे ही हरएक गुणमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य है—पूर्व गुणकी पर्यायका व्यय, वर्तमान पर्यायका उत्पाद और गुणकी थिरता। द्रव्यकी पर्यायें जैसे द्रव्यसे जुदी नहीं है वैसे गुणकी पर्यायें जुदी —

तब गुरु उसको व्रतोंका स्वरूप तथा प्रतिक्रमण क्रियाका स्वरूप निश्चय तथा व्यवहार नयसे समझाते हैं। उसको सुनकर वह बडे आदरसे धारणामें लेता है व सर्व शरीरादिसे ममत्व त्याग ध्यानमें लवलीन हो जाता है। इस तरह सामायिक चारित्रका धारी यह साधु होकर 'मोक्षमार्गकी साधना साम्यभावरूपी गुफामें तिष्ठनेसे होती है' ऐसा श्रद्धान रखता हुआ निरन्तर साम्यभावका आश्रय लेता हुआ कर्मोंकी निर्जरा करता है। साधुपदमें सर्व परिग्रहका त्याग है किन्तु जीवदयाके लिये मोर पिच्छिका और शौचके लिये जल सहित कमण्डल इसलिये रक्खे जाते हैं कि महाव्रतोंके पालनेमें बाधा न आवे। इनमें शरीरका कोई ममत्व नहीं सिद्ध होता है। साधु महाराज अपने भावोंको अत्यन्त सरल, शांत व अध्यात्म रसपूर्ण रखते हैं। मौन सहित रहनेमें ही अपना सच्चा हित समझते हैं। प्रयोजनवश बहुत अल्प बोलते हैं फिर भी उसमें तन्मय नहीं होते हैं। श्री पूज्यपाद स्वामीने इष्टोपदेशमें कहा है–

> इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनितादरः ।
> निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं ॥४०॥
> ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति ।
> स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४१ ॥

भावार्थ–साधु महाराज निर्जन स्थानके प्रेमालु होकर एकान्तमें वास करना चाहते हैं तथा कोई निजी कार्यके वशसे कुछ कहकर शीघ्र भूल जाते हैं इसलिये वे कहते हुए भी नहीं कहते हैं, जाते हुए भी नहीं जाते हैं, देखते हुए भी नहीं देखते हैं कारण यह है कि उन्होंने अपने आत्मतत्त्वमें स्थिरता प्राप्त

मात्माके गुणोकी अवस्थामें हो गई। जैसे ज्ञान गुणमें मति तादिसे पलटकर केवलज्ञान पर्यायका होना, दर्शनगुणमें चक्षु; चक्षु आदिको छोड़कर केवल दर्शन पर्यायका होना, वीर्यगुणमें ल्प वीर्यको पलटकर अनत वीर्यरूप होना, सुख गुणमे परोक्ष सको छोड़कर प्रत्यक्ष अनन्त सुखकी पर्यायमें होना इत्यादि। समसे मतलब यह सिद्ध होता है कि जैसे अतरात्मा जीवकी पर्याय सुदायसे एक है तथापि अनेक गुणोंकी अपेक्षा अनेक है ऐसे रमात्माजीवकी पर्याय समुदायसे एक है तथापि अनेक गुणोकी पेक्षा अनेक है। और जैसे परमात्मा द्रव्यकी पर्याव जीव द्रव्यसे भिन्न है वैसे परमात्माके अनेक गुणोकी पर्यायें भी परमात्मा व्यसे भिन्न नहीं है। इससे यही सिद्ध किया गया कि गुणोकी र्यायें भी द्रव्य ही हैं वे द्रव्यको छोडकर पृथक नहीं हो सक्ती है। सी द्रव्यकी महिमाको जाननेका मतलब यह है कि हम द्रव्यके स्वभावका मनन करके रागद्वेप त्यागें और वीतरागभावमें रहकर जानन्दकी प्राप्ति करके ससार-भ्रमणका अभाव करें ॥ १३ ॥

इस तरह स्वभावरूप या विभावरूप द्रव्यकी पर्याये तथा गुणोंकी पर्यायें नयकी अपेक्षासे द्रव्यका लक्षण है। ऐसे कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओंसे चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका-आगे सत्ता और द्रव्यका अभेद है इस सम्ब-न्धमें फिर भी अन्य प्रकारसे युक्ति दिखलाते है--

ण हवदि जदि सद्दब्व असद्धुव हवदि त कध दव्व ।
हवदि पु [illegible] तम्हा दव्व सय सत्ता ॥ १४ ॥

कि सयमोपधि पिन्छिका है तथा शौचोपधि कमण्डल है जैसे "सयमोपधि प्राणिदयानिमित्त पिच्छिकादि शौचोपधि मूत्रपुरीषादिप्रक्षालन निमित्त कुटिकादि द्रव्यम्। अर्थात् प्राणियोंकी रक्षाके वास्ते पिच्छिका तथा मूत्रमलादि धोनेके वास्ते कमण्डल रखते हैं। मयूरके पखोंकी पीछी क्यों रखनी चाहिये इसपर मूलाचारमें कहा है—

रजसेदाणमगहण मद्दवसुकुमालदा लहुत्त च ।
जत्थेदे पचगुणा त पडिलिहण पस ∽ति ॥ ९१० ॥

भावार्थ—जिसमें ये पाच गुण हैं वही पिछिका प्रशसा योग्य है—(१) (२) जिसमें धूल व पसीना न लगे। अर्थात् जो धूल और पसीनेसे मैली न हो (३) जो बहुत कोमल हो कि आखमें भी फेरी हुई व्यथा न करे "मृदुत्व चक्षुषि प्रक्षिप्तमपि न व्यथयति' (४) जो सुकुमार अर्थात् दर्शनीय हो (५) जो हलकी हो। ये पाचों गुण मोर पिच्छिकामें पाए जाते हैं "यत्रैते पचगुणा द्रव्ये सति तत्प्रतिलेखन मयूरपिच्छग्रहण प्रशसति" जिसमे ये पाच गुण हैं उसीकी पिच्छिका ठीक है। इसीलिये आचार्योंने मोर पीछीको सराहा है।

ऊपरकी गाथाओंका सार यह है कि साधुका बाहरी चिन्ह नग्नभेष, पीछी कमडल सहित होता है। आवश्यक्ता पडनेपर ज्ञानका उपकरण शास्त्र रखते हैं। अतरङ्ग चिन्ह अभेद रत्नत्रयमई आत्मामें लीनता होती है और मुनि योग्य आचरणके पालनमें उत्साह होता है।

इस तरह दीक्षाके सन्मुख पुरुषकी दीक्षा लेनेके कथनकी मुख्यतासे पहले स्थलसे सात गाथाए पूर्ण हुई ॥

अपेक्षा भेद होते हुए भी प्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्नता नहीं है—एकता है तब तो हमको भी सम्मत है क्योंकि द्रव्यका ऐसा ही स्वरूप है। इस अवसर पर बौद्धमतके अनुसार कहनेवाला तर्क करता है कि ऐसा मानना चाहिये कि सिद्ध पर्यायकी सत्तारूपमे द्रव्य उपचारमात्र है, मुख्यतामे नहीं है ! इसका समाधान आचार्य करते हैं—कि यदि सिद्ध पर्यायका उपादान कारणरूप परमात्म द्रव्यका अभाव होगा तो सिद्ध पर्यायकी सत्ता ही नहीं सभव है। जैसे वृक्षके विना फलका होना सम्भव नहीं है।

इसी प्रस्तावमें नैयायिक मतके अनुसार कहनेवाला कहता है कि परमात्मा द्रव्य है किंतु वह सत्तासे भिन्न रहता है, पीछे सत्ताके समवाय (सबन्ध) से वह सत् होता है। आचार्य इस शकाका भी समाधान करते हैं। पूछते हैं कि सत्ताके समवायके पूर्व द्रव्य सत् है या असत् है ? यदि सत् है तो सत्ताका समवाय वृथा है क्योंकि द्रव्य पहलेसे ही अपने अस्तित्वमें है ? यदि सत्ताके समवायमे पहले द्रव्य नहीं था तब आकाश पुष्पकी तरह न विद्यमान होते हुए द्रव्यके साथ किस तरह सत्ताका समवाय होगा ? यदि कहो कि सत्ताका समवाय हो जावेगा तब फिर आकाश पुष्पके साथ भी सत्ताका समवाय हो जावेगा, परन्तु ऐसा होना सभव नहीं है। इसलिए अभेद नयसे शुद्ध स्वरूपकी सत्तारूप ही परमात्म द्रव्य है जैसे यहा परमात्म द्रव्यके साथ शुद्ध चेतना स्वरूप सत्ताका अभेद व्याख्यान किया गया तैसे ही सर्व चेतन द्रव्योंका अपनी२ सत्तामे अभेद व्याख्यान करना चाहिये। ऐसे ही अचेतन द्रव्योंका अपनी२ सत्तासे अभेद है ऐसा समझना चाहिये।

होते हैं जब विकल्प रहित समाधिरूप परम सामाईक नामके निश्चय व्रतके द्वारा 'जो मोक्षका बीज है' मोक्ष प्राप्त होजाती है। इस कारणसे वही सामाईक आत्माके मूल गुणोंको प्रगट करनेके कारण होनेसे निश्चय मूलगुण होता है। जब यह जीव निर्विकल्प समाधिमें ठहरनेको समर्थ नहीं होता है तब जैसे कोई भी सुवर्णको चाहनेवाला पुरुष सुवर्णको न पाता हुआ उसकी कुंडल आदि अवस्था विशेषोंको ही ग्रहण कर लेता है, सर्वथा सुवर्णका त्याग नहीं करता है तैसे यह जीव भी निश्चय मूलगुण नामकी परम समाधिका लाभ न होनेपर छेदोपस्थापना नाम चारित्रको ग्रहण करता है। छेद होनेपर फिर स्थापित करना छेदोपस्थापना है। अथवा छेदसे अर्थात् व्रतोंके भेदसे चारित्रको स्थापन करना सो छेदोपस्थापना है। वह छेदोपस्थापना संक्षेपमें पांच महाव्रत रूप है। उन ही व्रतोंकी रक्षाके लिये पांच समिति आदिके भेदसे उसके अट्ठाईस मूलगुण भेद होते हैं। उन ही मूलगुणोंकी रक्षाके लिये २२ परीषहोंका जीतना व १२ प्रकार तपश्चरण करना ऐसे चौंतीस उत्तरगुण होते हैं। इन उत्तर गुणोंकी रक्षाके लिये देव, मनुष्य, तिर्यंच व अचेतन कृत चार प्रकार उपसर्गका जीतना व बारह भावनाओंका भावना आदि कार्य किये जाते हैं।

भावार्थ-इन दो गाथाओंमें आचार्यने वास्तवमें परम सामायिक चारित्ररूप निश्चय चारित्रके निमित्तकारणरूप व्यवहार चारित्रका कथन करके उसमें जो दोष हो जाय उनको निवारण करनेवालेको छेदोपस्थापना चारित्रवान बताया है।

साधका व्यवहारचारित्र २८ मूलगुणरूप

सुवर्णकी सत्ता ध्रुव होनेसे ही उसमेंसे अनेक आभूषण बननेका काम होसक्ता है और तब वह असत् द्रव्य आकाशके पुष्प समान हो जावेगा। तथा उपादानकारणका नियम न रहेगा अर्थात् घड़ा मिट्टीसे बनता है यह नियम न रहेगा। जब मिट्टी अपनी सत्ता न रक्खेगी तब उससे घडा बनेगा ऐसा नियम नहीं ठहर सक्ता है। और न मनमें यह विश्वास होसक्ता है कि अमुक कार्य अमुक कारणसे होगा। रोटी गेहूंसे बनती हैं ऐसा विश्वास होनेपर ही लोग गेहूंको खरीदकर लाते हैं। इस विश्वासका कारण गेहूंकी सत्ता है। इसलिये बौद्धमतके अनुसार माननेसे द्रव्यकी सत्ता नहीं ठहर सक्ती। यदि नैयायिकके अनुसार पहले सत्ता और द्रव्यको जुदा जुदा माना जावे फिर समवाय द्वारा उनका मेल माना जावे तब भी द्रव्यकी सिद्धि नहीं होसक्ती। द्रव्यमें सत्ता नहीं हो तो वह कैसे ठहर सक्ता है। सत्ता विना द्रव्यका अस्तित्व ही नहीं होसक्ता। और न सत्ता द्रव्यके विना पाई जासक्ती है। इसलिये यही बात निश्चित है सत्ता गुण है। द्रव्य गुणी है। दोनोंका अभेद है।

उत्थानिका—आगे आचार्य पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण कहते हैं—

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं भवदि कधमेगं ॥ १५ ॥

प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासनं हि वीरस्य।
अन्यत्वमतद् भावो न तद् भवत् भवति कथमेकम् ॥१५॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(पविभत्तपदेसत्तं) जिसमें प्रदेशोंकी अपेक्षा अत्यन्त ... हो (पुधत्तमिदि) वह पृथक्त्व

८-एषणा समिति मूलगुण।

छादालदोससुद्ध कारणजुत्त विसुद्धणवकोडो।
सीदादी समभुत्तो परिसुद्धा एषणासमिदी ॥ १३ ॥

भावार्थ-भूख आदि कारण सहित छचालीस दोष रहित, मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदनाके ९ प्रकारके दोषोंसे शुद्ध शीत उष्ण आदिमें समताभाव रखकर भोजन करना सो निर्मल एषणा समिति है।

मुनि अति क्षुधाकी पीडा होनेपर ही गृहस्थने जो स्वकुटुम्बके लिये भोजन किया है उसीमेंसे सरस नीरस ठन्डा या गर्म जो भोजन मिले उसको ४६ दोष रहित देखकर लेते हैं।

ये ४६ दोष इस भांति हैं—

१६-उद्गम दोष-जो दातारके आधीन है।

१६-उत्पादन दोष-जो पात्रके आधीन है।

१०-भोजन सम्बन्धी अशित दोष हैं-इन्हें अशन दोष भी कहते हैं।

१-अङ्गारदोष, १ धूमदोष, १ संयोजन दोष, १ प्रमाण दोष।

१६ उद्गम दोष इस भांति हैं—

अध कर्म-जो आहार गृहस्थने त्रस स्थावर जीवोंको बाधा स्वयं पहुंचाकर व बाधा दिलाकर उत्पन्न किया हो उसे अध कर्म कहते हैं। इस सम्बन्धी नीचेके दोष हैं—

१-औद्देशिक दोष-जो आहार इस उद्देश्यसे बनाया हो कि जो कोई भी लेनेवाले आएंगे उनको दूंगा, व जो कोई अच्छे बुरे साधु

सज्ञादि रूपसे नानापना कहा गया है तैसे ही सर्व द्रव्योंका अपने अपने सरूप सत्ता गुणके साथ नानापना जानना चाहिये ऐसा अर्थ है।

भावार्थ--इस गाथामें आचार्यने भेदके दो भेद बताए हैं--एक पृथक्त्व, दूसरा अन्यत्व।

जहा एक द्रव्यके प्रदेश दूसरे द्रव्यके प्रदेशोंसे भिन्न होते है वहा पृथक्त्व नामका भेद है। जहा प्रदेश एक होनेपर भी गुण व गुणीमें या पर्याय व पर्यायवानमें सज्ञा लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षा भेद होता है वहापर अन्यत्व नामका भेद होता है। जीव अनतानत हैं उन सबमें पृथक्त्व है। हरएक जीव अपने २ प्रदेशोंको भिन्न२ रखता हुआ एक दूसरेसे पृथक् है। पुद्गलके परमाणु या बध रूप स्कध एक दूसरेसे प्रदेशोंकी अपेक्षा भिन्न भिन्न है इससे पृथक्२ है। कालाणु द्रव्य असख्यात हैं इनमें भी परस्पर प्रदेश भेद है इससे पृथक् २ है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एक एक ही अखण्ड द्रव्य हैं। अनतानतजीव, अनतानत पुद्गल, असख्यात कालाणु, धर्म, अधर्म, आकाश ये सब परस्पर पृथक्त्व नामके भेदको रखते है। ये सब सदा जुदे २ हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि छ द्रव्य कभी एक द्रव्य न थे, न हैं, न होवेंगे। इन छ में भी जो जो द्रव्य अनेक हैं वे भी अपने बहुपनेको कभी नहीं छोडेंगे। द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ पृथक्त्व नामका भेद है। परन्तु जिन गुणोंको द्रव्य आश्रय देता है उनके साथ द्रव्यका कभी पृथक्त्व न था न है न होगा। गुणोंके अमिट समुदायको द्रव्य कहते हैं--जो द्रव्यके आश्रय हों और अपनेमें

६-बलि दोष-जो भोजन किसी अज्ञानीने यक्ष व नाग आदिके लिये बनाया हो और उनको भेट देकर जो बचा हो वह साधुओंके देनेके लिये रक्खा हो अथवा संयमियोंके आगमनके निमित्त जो यक्षोंके सामने पूजनादि करके भेट चढ़ाना सो सब बलि दोष है।

७ प्राभृत दोष या प्रावर्तित दोष-इसके बादर और सूक्ष्म दो भेद हैं। हरएकके भी दो भेद हैं-अपकर्षण और उत्कर्षण। जो भोजन किसी दिन किसी पक्ष व किसी मासमें साधुको देना विचारा हो उसको पहले ही किसी दिन, पक्ष या मासमें देना सो अपकर्षण बादर प्राभृत दोष है जैसे सुदी नौमीको जो देना विचारा था उसको सुदी पंचमीको देना। जो भोजन किसी दिन आदिमें देना विचारा था उसको आगे जाकर देना जैसे चैत मासमें जो देना विचारा था उसको वैशाख मासमें देना सो उत्कर्षण बादर प्राभृत दोष है। जो भोजन अपरान्हमें देना विचारा था उसको मध्यान्हमें देना व जिसे मध्यान्हमें देना विचारा था उसको अपरान्हमें देना सो सूक्ष्म अपकर्षण व उत्कर्षण प्राभृत दोष है।

८-प्रादुष्कार दोष-साधु महाराजके घरमें आजानेपर भोजन व भाजन आदिको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें लेजाना यह संक्रमण प्रादुष्कार दोष है। तथा साधु महाराजके घरमें होते हुए बरतनोंको भस्मसे मांजना व पानीसे धोना व दीपक जलाना यह प्रकाशक प्रादुष्कार दोष है। इसमें साधुके उद्देश्यसे आरम्भका दोष है।

९ क्रीततर दोष-क्रीततर दोष द्रव्य और भावसे दो प्रकार है। हरएकके स्व और परके भेदसे दो दो भेद हैं।

संयमीके भिक्षाके लिये घरमें प्रवेश हो जानेपर

करना है जैसे जीवका संसारीसे मुक्त होना, व पुद्गलका मिट्टीमें घड़ा बनना, सोनेसे आभूषण बनना, ईंटोंसे मकान बनना, सत्ता गुणका प्रयोजन नित्य पदार्थको बनाए रखना है।

इस तरह स्वरूप भेदसे अन्यत्त्व नामका भेद है तथापि प्रदेश भेद नहीं है इस तरह द्रव्यका सत्ताके साथ किसी अपेक्षा भेद है व किसी अपेक्षा अभेद है। सर्वथा अभेद होनेपर भिन्न २ नाम व काम नहीं हो सके तथा सर्वथा भेद होनेपर दोनोंका ही अभाव हो जावेगा जैसा पहले कह चुके हैं। सत्ताके विना द्रव्य नहीं ठहर सक्ता तथा द्रव्यके विना सत्ता नहीं रह सक्ती। जैसे द्रव्य और गुणका प्रदेशभेद नहीं है किंतु स्वरूपभेद है वैसे द्रव्य और पर्यायका प्रदेश भेद नहीं है किंतु स्वरूप भेद है ऐसा ही स्वामी समन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है—

> द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकत ।
> परिणामविशेषाच्च, शक्तिमच्छक्तिभावत ॥ ७१० ॥

भावार्थ—द्रव्य और पर्यायकी एकता है क्योंकि दोनों भिन्न२ नहीं मिलते। जहां द्रव्य है वहां पर्याय है। परिणामका विशेष है सो पर्याय है। परिणाम द्रव्यमें होता है, इस कारण भी एकता है, शक्तिमान द्रव्य है। जिसमें शक्तियें पाई जावें वह द्रव्य है। शक्तियें उसके गुण या पर्याय हैं इससे भी एकता है जैसे घीमें चिकनई, पुष्टता आदि शक्तियें हैं। इस श्लोकमें द्रव्यकी गुण या गुणविकार पर्यायके साथ एकता सिद्ध कीगई। आगे अनेकता बताते हैं—

> संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषत ।
> प्रयोजनादि भेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ ७२ ।

१३ उद्भिन्न दोष—जो घी शक्कर गुड़ आदि द्रव्य किसी भाजनमें मिट्टी या लाख आदिसे ढके हुए हों उनको उघाड़कर या खोलकर साधुको देना सो उदभिन्न दोष है। इसमें चींटा आदिका प्रवेश होजाना सम्भव है।

१४ मालारोहण दोष—काठ आदिकी सीढ़ीसे घरके दूसरे तीसरे माल्पर चढ़कर वहांसे साधुके लिये लड्डू शक्कर आदि लाकर साधुको देना सो मालारोहण दोष है। इसमें दाताको विशेष आकुलता साधुके उद्देश्यसे करनी पड़ती है।

१५ आच्छेद्य दोष—राजा व मंत्री आदि ऐसी आज्ञा करे कि जो गृहस्थ साधुको दान न करेगा उसका सब द्रव्य हर लिया जायगा व वह ग्राममें निकाल दिया जायगा। ऐसी आज्ञाको सुनके भयके कारण साधुको आहार देना सो आच्छेद्य दोष है।

१६ अनीशार्थ दोष या निषिद्ध दोष—यह अनीशार्थ दोष दो प्रकार है। ईश्वर अनीशार्थ और अनीश्वर अनीशार्थ। जिस भोजनका स्वामी भोजन देना चाहे परन्तु उसको पुरोहित मंत्री आदि दूसरे देनेका निषेध करें उस अन्नको जो देवे व लेवे तो ईश्वर अनीशार्थ दोष है।

जिस दानका प्रधान स्वामी न हो और वह दिया जाय उसमें अनीश्वर अनीशार्थ दोष है। उसके तीन भेद हैं व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त। जिस भोजनका कोई प्रधान स्वामी न हो, उस भोजनको, व्यक्त अर्थात् प्रेक्षापूर्वकारी प्रगट वृद्ध आदि, अव्यक्त अर्थात् अप्रेक्षापूर्वकारी बालक व परतंत्र आदि, व्यक्ताव्यक्त दोनों मिश्ररूप कोई देना चाहे व कोई निषेध करे ऐसे तीन

अपेक्षा अभेद या एकत्व होनेपर भी जो सज्ञा आदिका भेद है वह भेद पहले कहे हुए तद्भाव या तन्मयपनेका अभावरूप अतद्भाव है या अन्यत्व है अर्थात् सज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिका भेद है। जैसे मुक्त जीवमें जो कोई शुद्ध सत्तागुण है उसको कहनेवाले सत्ता शब्दसे मुक्त जीव नहीं कहा जाता न केवलज्ञानादि गुण कहे जाते न सिद्ध पर्याय कही जाती है। और न मुक्त जीव केवलज्ञानादि गुण या सिद्ध पर्यायसे शुद्ध सत्ता गुण कहा जाता है। इस तरह सत्ता गुणका मुक्त जीवादिके साथ परस्पर प्रदेशभेद न होते हुए भी जो कोई सज्ञा आदिकृत भेद है वह भेद उस पूर्वमें कहे हुए तद्‌भाव या तन्मयपनेके लक्षणसे रहित अतद्भाव या अन्यत्व कहा जाता है। अर्थात् संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि कृत भेद है ऐसा अर्थ है। जैसे यहा शुद्धात्मामें शुद्ध सत्ता गुणके साथ अभेद स्थापित किया गया तैसे ही यथासभव सर्व द्रव्योंमे जानना चाहिये यह अभिप्राय है—अर्थात् आत्माका और सत्ताका प्रदेशकी अपेक्षा अभेद है, मात्र सज्ञादि स्वरूपकी अपेक्षा भेद या अन्यत्व है। ऐसा ही अन्य द्रव्योंमें समझना।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने स्वरूपकी अपेक्षा गुण गुणीका अन्यत्व या भिन्नपना है इसको अच्छी तरह दर्शा दिया है। द्रव्य गुण पर्यायवान है सत्ता इनमें व्यापक है इससे हम ऐसा कह सके है कि सत्तारूप द्रव्य, सत्तारूप गुण, सत्तारूप पर्याय। जो प्रदेश द्रव्यकी सत्ताके हैं वे ही प्रदेश गुण और पर्यायकी सत्ताके हैं इस तरह सत्ताकी एकता द्रव्य गुण पर्यायके साथ है परन्तु जब गुण और गुणीको मे ... विचारते हैं तो सत्ताका द्रव्यगुण

२ दूत दोष—जो साधु दूत कर्म करके भोजन उपजावे सो दूत दोष है जैसे कोई साधु एक ग्रामसे दूसरे ग्राममें व एक देशसे दूसरे देशमें जल, थल या आकाश द्वारा जाता हो उसको कोई गृहस्थ यह कहे कि मेरा यह सन्देशा अमुक गृहस्थको कह देना वह साधु ऐसा ही करे-सन्देशा कहकर उस गृहस्थको सन्तोषी करके उससे दान लेवे।

३ निमित्त दोष—जो साधु निमित्तज्ञानसे दातारको शुभ या अशुभ बताकर भिक्षा गृहण करे सो निमित्त दोष है। निमित्तज्ञान आठ प्रकारका है। १ व्यंजन-शरीरके मस्से तिल आदि देखकर बताना, २ अंग मस्तक गला हाथ पैर देखकर बताना, ३ स्वर-उस प्रश्न कर्ताका या दूसरेका शब्द सुनकर बताना, ४ छेद-खड्ग आदिका प्रहार, व वस्त्रादिका छेद देखकर बताना, ५ भूमि-जमीनको देखकर बताना, ६ अंतरिक्ष आकाशमें सूर्य चन्द्र, नक्षत्रादिके उदय, अस्त आदिसे बताना, ७ लक्षण-उस पुरुषके व अन्यके शरीरके स्वस्तिक चक्र आदि लक्षण देखकर बताना, ८ स्वप्न-उसके व दूसरेके स्वप्नोंके द्वारा बताना।

४ आजीव दोष—अपनी जाति व कुल बताकर, शिल्पकर्मकी चतुराई जानकर, व तपका माहात्म्य बताकर जो आहार ग्रहण किया जाय सो आजीव दोष है।

५ वनीयक दोष—जो पात्र दातारके अनुकूल अयोग्य वचन कहकर भोजन प्राप्त करे सो वनीयक दोष है। जैसे दातारने पूछा कि कृपण, कोढ़ी, मासभक्षी साधु व ब्राह्मण, दीक्षासे ही आजीविका करनेवाले, कुत्ते, काकको भोजन देनेसे पुण्य है वा नहीं?

इसी तरह जो शुद्ध सत्ता गुण है वह परमार्थसे मुक्तात्म द्रव्य नहीं होता है। शुद्ध सत्ता शब्दसे मुक्तात्मा द्रव्य नहीं कहा जाता। इस तरह गुण और गुणीमें स्वरूपकी अपेक्षा या संज्ञादिकी अपेक्षा भेद है तौभी प्रदेशोंका भेद नहीं है इससे सर्वथा एकका दूसरेमें अभाव नहीं है ऐसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है। यदि गुणीमें गुणका सर्वथा अभाव माना जावे तो क्या २ दोष होंगे उनको समझाते हैं। जैसे सत्ता नामके वाचक शब्दसे मुक्तात्मा द्रव्यवाच्य नहीं होता तैसे यदि सत्ताके प्रदेशोंसे भी सत्तागुणसे मुक्तात्म द्रव्य भिन्न होजावे तब जैसे जीवके प्रदेशोंमें पुद्गल द्रव्य भिन्न होता हुआ अन्य द्रव्य है तैसे सत्ता गुणके प्रदेशोंमें सत्तागुणसे मुक्त जीव द्रव्यभिन्न होता हुआ जुदा ही दूसरा द्रव्य प्राप्त होजावे। तब यह सिद्ध होगा कि सत्तागुण रूप जुदा द्रव्य और मुक्तात्मा द्रव्य जुदा इस तरह दो द्रव्य होजावेंगे। सो ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। इसके सिवाय दूसरा दूषण यह प्राप्त होगा कि जैसे सुवर्णपना नामा गुणके प्रदेशोंसे सुवर्ण भिन्न होता हुआ अभावरूप होजायगा तैसे ही सुवर्ण द्रव्यके प्रदेशोंसे सुवर्णपना गुण भिन्न होता हुआ अभाव रूप होजायगा तैसे सत्तागुणके प्रदेशोंमें मुक्त जीवद्रव्य भिन्न होता हुआ अभावरूप होजायगा, तैसे ही मुक्त जीव द्रव्यके प्रदेशोंसे सत्ता गुण भिन्न होता हुआ अभावरूप हो जायगा, इस तरह दोनोंका ही शून्यपना प्राप्त हो जायगा। इस तरह गुणी और गुणका सर्वथा भेद माननेसे दोष आ जावेंगे। जैसे जहां मुक्त जीव द्रव्यमें सत्ता गुणके साथ संज्ञा आदिक भेदसे अन्यपना है किन्तु प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेद या एकपना है ऐसा व्याख्यान किया गया तैसे

११ पूर्व सस्तुति दोष–दातारके सामने भोजनके पहले स्तुति करे तुम तो महादानी हो, राजा श्रेयांसके समान हो अथवा तुम तो पहले बड़े दानी थे अब क्यों दान करना भूल गए ऐसा कह-कर भिक्षा ले।

१२ पश्चात्सस्तुति दोष–दान लेनेके पीछे दातारकी स्तुति करे तुम तो बड़े दानी हो, जैसा तुम्हारा यश सुना था वैसे ही तुम हो।

१३ विद्या दोष–जो साधु दातारको विद्या साधन करके किसी कार्यकी आशा दिलाकर व उसको विद्या साधन बताकर उसके माहात्म्यसे आहार दान लेवे सो विद्या दोष है या कहे तुम्हें ऐसीर विद्याए दूंगा यह आशा दिलावे।

१४ मंत्र दोष–मंत्रके पढ़ते ही कार्य सिद्ध होजायगा मैं ऐसा मंत्र दूंगा। इस तरह आशा दिलाकर दातारसे भोजन ग्रहण करे। सो मंत्र दोष है।

ऊपरके १३ व १४ दोषमे यह भी गर्भित है कि जो कोई पात्र दातारोंके लिये विद्या या मंत्रकी साधना करे।

१५ चूर्ण दोष–पात्र दातारकी चक्षुओंके लिये अंजन व शरीरमें तिलकादिके लिये कोई चूर्ण व शरीरकी दीप्ति आदिके लिये कोइ मसाला बताकर भोजन करे सो चूर्ण दोष है। यह एक तर-हकी आजीविका गृहस्थ समान होजाती है इसमे दोष है।

१६ मूल दोष–कोई वश नहीं है उसके लिये वशीकरणके व कोईका वियोग है उसके संयोग होनेके उपायोंको बताकर जो दातारसे भोजन ग्रहण करे सो मूल दोष है।

अब १० तरह शंकित व अशन दोष कहे जाते हैं।

पीतता झलकाना है इस तरह संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनकी अपेक्षा सुवर्ण और पीतपनेमें भेद है ऐसे ही द्रव्य और गुणमें भेद या अन्यत्व है, प्रदेशोंकी अपेक्षा भेद नहीं है।

यदि द्रव्य और गुणमें सर्वथा भेद माना जावे तो जैसे कोई द्रव्य अपने प्रदेशोंसे एक द्रव्य है वैसे गुण भी अपने प्रदेशोंसे एक दूसरा द्रव्य हो जावे तब दो द्रव्य हो जावें। सो यह वस्तुका स्वरूप नहीं है। गुण द्रव्यमें ही पाए जाते हैं अलग अपनी सत्तामें नहीं रह सके। दूसरा दोष यह होगा कि जैसे द्रव्य गुणके बिना नहीं होसक्ता वैसे गुण भी द्रव्यके विना नहीं होसक्ता। इस तरह सर्वथा जुदा माननेसे दोनोंका ही अभाव या शून्यपना होजायगा। तीसरा दोष यह होगा कि द्रव्यका अभाव सो गुण और गुणका अभाव सो द्रव्य जैसे घटका अभाव पट और पटका अभाव घट, इस दोषको अपोहरूपत्व दोष कहते हैं। इस तरह गुणी और गुणमें सर्वथा भेद माननेसे दोष प्राप्त होते हैं। ऐसा ही वस्तुका स्वरूप निश्चय करना चाहिये। द्रव्य और गुण किसी अपेक्षा एक और किसी अपेक्षा अन्य हैं।

इसी तरह जीव द्रव्य अपने ज्ञान सुख वीर्यादि गुणोंसे स्वरूपापेक्षा भेद रखता हुआ भी प्रदेशोंसे अभेद है। पुद्गल अपने स्पर्श रस गन्ध वर्ण गुणसे व स्वरूपसे भेद रखता हुआ भी प्रदेशोंसे अभेद है। ऐसे ही अन्य द्रव्योंका स्वरूप निश्चय करना चाहिये। इस तरह द्रव्यके अस्तित्वको कथन करते हुए प्रथम गाथा, पृथक्त्व लक्षण और अतद्भाव रूप अन्यत्व लक्षणको कहते हुए दूसरी, संज्ञा लक्षण [illegible]स्वरूप अतद्भावको कहते हुए

१ धूम दोष-साधु यदि भोजनको उसको अनिष्ट जान निंदा करता हुआ ग्रहण करे सो धूम दोष है। इन दोनों दोषोंसे परिणाम मलक्लेशित होजाते है।

१ सयोजन दोष-साधु यदि अपनेमे विरुद्ध भोजनको मिला-कर ग्रहण करे जैसे भात पानीको मिलादे ठंडे भातको गर्म पानीसे मिलावे, रूखे भोजनको चिकनेके साथ या आयुर्वेद शास्त्रमे कहे हुए विरुद्ध अन्नको दूधके साथ मिलावे यह सयोजन दोष है।

१ प्रमाण दोष-साधु यदि प्रमाणसे अधिक आहार ग्रहण करे सो प्रमाण दोष है। प्रमाण भोजनका यह है कि दो भाग तो भोजन करे, १ भाग जल लेवे व चौथाई भाग खाली रक्खे। इसको उल्लंघन करके अधिक लेना सो दोष है। ये दोनो दोष रोग पैदा करनेवाले व स्वाध्याय ध्यानादिमें विघ्नकारक है।

इस तरह उद्गम दोष १६, उत्पादन दोष १६, अशन दोष १०, अंगार दोष १, धूम दोष १, सयोजन दोष १, प्रमाण दोष १ इस तरह ४६ दोषोंसे रहित भोजन करना सो शुद्ध भोजन है। यद्यपि उद्गम दोष गृहस्थके आश्रय है तथापि साधु यदि मालूम करके व गृहस्थ दातारने दोष किये है ऐसी शंका करके फिर भोजन ग्रहण करे तो साधु दोषी है।

साधुगण सयम सिद्धिके लिये शरीरको बनाए रखनेके लिये केवल शरीरको भाडा देते है। साधु छ कारणोंके होनेपर भोजन नहीं जाते (१) तीव्र रोग होनेपर (२) उपसर्ग किसी देव, मनुष्य, पशु या अचेतन कृत होजानेपर (३) ब्रह्मचर्यके निर्मल कर-नेके लिये (४) प्राणियोंकी दयाके लिये यह खयाल करके कि यदि

अभिन्न गुण है। जीवमें उत्पादादि तीन रूप परिणमन है सो ही सत्‌गुण है जैसा कि कहा है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" । ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि सत्ता ही द्रव्यका गुण है। इस तरह सत्ता गुणका व्याख्यान किया गया। परमात्मा द्रव्य अभेद नयसे अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप स्वभावमें तिष्ठा हुआ सत् है ऐसा श्री जिनेन्द्रका उपदेश है। "सदवट्टिं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हु परिणामो" इत्यादि आठवीं गाथामें जो कहा था वही यहां कहा गया। मात्र गुणका कथन अधिक किया गया यह तात्पर्य है। जैसा जीव द्रव्यमें गुण और गुणीका व्याख्यान किया गया वैसा सर्व द्रव्यमें जानना चाहिये।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि द्रव्य गुणी है सत्ता गुण है, दोनोंकी एकता है–सत्ताबिना द्रव्य नहीं और द्रव्य बिना सत्ता नहीं होती है–सत्ता गुण द्रव्यमें प्रधान है, द्रव्य सत्तामें मग्न रहता है। क्योंकि हरएक द्रव्यमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य पाए जाते हैं इसलिये हरएक द्रव्य सत् है। द्रव्यमें अर्थ क्रिया होना तब ही संभव है जब द्रव्य परिणमन करे अर्थात् पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्यायको प्राप्त हो तौ भी ध्रौव्य रहे। मिट्टी अपने ढेलेपनकी हालतको छोड़कर ही घड़ेकी अवस्थाको पैदा करती है तौ भी आप बनी रहती है। द्रव्यमें इन तीन प्रकार परिणामका होना ही द्रव्यके अस्तित्वका ज्ञान कराता है, क्योंकि हरएक द्रव्य सदा ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप रहता है इसलिये वह सदा ही सतरूप है।

ऐसा स्वरूप द्रव्यका माननेसे ही संसार अवस्थाका नाश होकर सिद्ध पर्यायका उत्पन्न होना तथा आत्माका दोनों अवस्थामें नित्य

भावार्थ–इस गाथामें इस बातको स्पष्ट किया गया है कि द्रव्य गुण पर्याय मय है। द्रव्यमे ही गुण होते हैं और द्रव्यमे ही पर्यायें होती हैं। गुण और पर्यायें द्रव्यको छोडकर स्वतत्र नहीं हो सक्ते। वास्तवमे अनेक गुणोंका अखड समुदाय द्रव्य है अर्थात् द्रव्यमें जितने गुण हैं वे सब द्रव्यके सर्व प्रदेशोंमें व्यापक हैं। उन सर्व गुणोंके ऐसे समूहको द्रव्य कहते हैं। गुणोंमें जो समय समय उत्पाद व्यय होता है इससे पर्यायें होतीं और नष्ट होती हैं–ये पर्यायें गुणोंके ही विकार हैं। जब गुण द्रव्यमे ही पाए जाते हैं तब उन गुणोंकी पर्यायें भी द्रव्यमें ही पाई जाती हे। जो द्रव्यके प्रदेश हैं वे ही गुणोंके प्रदेश तथा वे ही पर्यायोंकेप्रदेश हैं। एक आम्रफलमें स्पर्श, रस, गध, वर्ण गुण हैं उनकी चिकनी, मीठी, सुगधित तथा पीत अवस्था पर्यायें हैं अथवा आम्रका छोटेसे बड़ा होना पर्याय है। ये गुण पर्यायें आम्र द्रव्यमें ही होती हैं। सुवर्णमें पीतपना भारीपना आदि गुण तथा उसकी कुडल व मुद्रिका आदि पर्यायें सुवर्णके विना नहीं होसक्ती हैं। आत्मामें चेतना, आनन्द, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र गुण तथा अशुद्ध या शुद्ध पर्यायें आत्मा विना नहीं होसक्ते हैं। इस तरह यह वात सिद्ध है कि हरएक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंसे अमेद है–ऐसा गुण पर्यायवान द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है। क्योंकि पर्यायें क्षण क्षणमें नष्ट होकर नवीन पैदा होती रहती हैं और गुण सह-भावी हैं–सदा ही द्रव्यमें नित्य या ध्रौव्य रहते हैं इसलिये द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। तथा जिसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता है उसीको सत् या सत्तारूप कहते हैं इसलिये द्रव्य स्वय

२८ अदत्तग्रहण–यदि साधु बिना दातारके दिये हुए अपनेमें अनादि ले लेन तो अन्तराय करे।

२९ प्रहार–यदि भोजन करते हुए साधुको कोई खडग लाठी आदिसे मारे या साधुके निकट कोई किसीको प्रहार करे तो साधु अन्तराय करे।

३०–ग्रामदाह–यदि ग्राममें अग्नि लग जावे तो साधु भोजन न करें।

३१ पादकिंचित्‌ग्रहण–यदि साधु पादसे किसी वस्तुको उठा लें तो अन्तराय करें।

३२ करग्रहण यदि साधु हाथसे भूमिपरसे कोई वस्तु उठा लें तो भोजन तजें।

ये ३२ अंतराय प्रसिद्ध है इनके सिवाय इनहीके तुल्य और भी कारण मिले तो साधु उस समयसे फिर उस दिन भोजन न करे। जैसे मार्गमें चंडाल आदिसे स्पर्श हो जावे, कहीं उस ग्राममें युद्ध होजावे या कलह घरमें होजावे। जहा भोजनको जावे, मुख्य किसी इष्टका मरण होजावे, किसी प्रधानका मरण होजावे व किसी साधुका समाधिमरण होजावे, कोई राजा मत्री आदिसे उपद्रवका भय होजावे लोगोंमें अपनी निन्दा होती हो, या भोजाके गृहमें अकस्मात कोई उपद्रव होजावे, भोजनके समय मौन छोड दे–बोल उठे, इत्यादि कारणोंके होनेपर साधुको सयमकी सिद्धिके लिये व वैराग्यभावके दृढ करनेके लिये आहारका त्याग कर देना चाहिये।

साधुको उचित है कि द्रव्य, क्षेत्र, बल, काल, भावको देखकर अपने स्वास्थ्यकी [illegible] करें। इस तरह जो साधु

भावार्थ—वीतराग जिनेन्द्रोंने उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणधारी गुण पर्यायवान द्रव्यको कहा है। जीव तथा अजीव द्रव्यका अपनी अपनी जातिको न छोड़ते हुए अन्य २ रूप अवस्थाको प्राप्त करना सो उत्पाद है। अपनी २ जातिमें विरोध न डालते हुए दोनों प्रकारके द्रव्यका अपनी २ पूर्व अवस्थाका त्यागना उसको व्यय कहते हैं। अनादिसे अपने २ स्वभावकी अपेक्षा द्रव्यका उत्पाद और व्ययका जो अभाव है उसको श्री जिनेन्द्रोंने ध्रौव्य कहा है। अर्थात् द्रव्योंमें अवस्थाका उत्पाद व्यय होते हुए भी द्रव्योंके स्वभावोंका स्थिर रहना ध्रौव्य है। द्रव्यका विधान या स्थापन करनेवाला गुण है। अर्थात् गुणोंका और द्रव्यका सदा हीसे एक रूप तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्यमें जो विक्रिया या अवस्था होती है वह पर्याय है। द्रव्य इन दोनों गुण पर्यायोंका अयुत सिद्ध समुदाय है अर्थात अमिट अनादि समुदाय है। कभी गुण या पर्याय कहींसे आकर द्रव्यमें मिले नहीं। सामान्य, अन्वय, उत्सर्ग शब्द गुणके वाचक हैं तथा व्यतिरेक, विशेष, भेद शब्द पर्यायके वाचक हैं। गुणोंके विना द्रव्य नहीं होता है न द्रव्यके विना गुण होते हैं इस लिये द्रव्य और गुणोंकी एकता है। पर्यायके विना भी द्रव्य नहीं होता न द्रव्यके विना पर्याय होती है इस लिये महर्षियोंने द्रव्य और पर्यायका अविनाभावपना या एकपना बताया है। सत् रूप पदार्थका नाश नहीं होता असत् रूप पदार्थका जन्म नहीं होता। सत् रूप पदार्थ ही अपने गुणपर्यायोंमें उत्पाद व्यय करते रहते हैं। इस तरह नि संदेह होकर ऐसा द्रव्यका स्वरूप समझकर अपनी ही आत्माकी तरफ लक्ष्य देना चाहिये। अपनी आत्माकी

१२ श्रोत्रेन्द्रियनिरोध मूलगुण।

सज्जादि जीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु॥ १८॥

भावार्थ षड्ज, ऋषभ, गांधार मध्यम, धैवत पञ्चम निषाद ये सात स्वर हैं। इनमें जीव द्वारा प्रगट शब्दोंको व वीणा आदि अजीव बाजोंके शब्दको जो रागादिक भावोंके निमित्त हैं स्वयं न करना, न उनका सुनना सो श्रोत्रेंद्रिय निरोध मूलगुण है। इसमें यह स्पष्ट होजाता है कि मुनि महाराज रागके कारणभूत गाने बजानेको न करते न सुनते हैं।

१३ घ्राणेन्द्रिय निरोध मूलगुण।

पयडीवासगंधे जीवाजीवप्पगे सुहे असुहे।
रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स॥ १९॥

भावार्थ--जीव या अजीव सम्बन्धी पदार्थोंके स्वाभाविक व अन्य द्वारा वासनारूप शुभ अशुभ गंधमें रागद्वेष न करना सो घ्राण निरोध मूलगुण मुनिवरोंका है। मुनि महाराज कस्तूरी, चंदन पुष्पमें राग व मूत्र पुरीषादिमें द्वेष नहीं करते, समभाव रखते हैं।

१४ रसनेन्द्रियनिरोध मूलगुण।

असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे।
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी॥ २०॥

चार प्रकार भोजनमें अर्थात भात, दूध, लाडू इलायची आदिमें व तीखा, कडुवा, कषायला, खट्टा मीठा पाच रसों कर सहित प्रासुक निर्दोष भोजन पानमें इष्ट अनिष्ट आहारके होनेपर अति लोलुपता या द्वेष न करना, समभाव रखना सो जिह्वाको जीतना

है उस समय ही कटक रूप पर्यायमें जो सुवर्ण है वही सुवर्ण उसकी कङ्कन पर्यायमें है—दूसरा नहीं है । इस अवसरपर सदभाव उत्पाद ही है क्योंकि द्रव्य अपने द्रव्यरूपसे नष्ट नहीं हुआ किन्तु बराबर बना रहा । और जब पर्याय मात्रकी अपेक्षासे विचार किया जाता है तब सुवर्णकी जो पहले कटकरूप पर्याय थी उससे अब वर्तमान-की कङ्कन रूप पर्याय भिन्न ही है । इस अवसरपर असत् उत्पाद है क्योंकि पूर्व पर्याय नष्ट होगई और नई पर्याय पैदा हुई । तैसे ही यदि द्रव्यार्थिक नयके द्वारा विचार किया जावे तो जो आत्मा पहले गृहस्थ अवस्थामे ऐसा ऐसा गृहका व्यापार करता था वही पीछे जिन दीक्षा लेकर निश्चय रत्नत्रय मई परमात्माके ध्यानसे अनन्त सुखामृतमें तृप्त रामचद्र आदि केवली पुरुष हुआ—अन्य कोई नहीं—यह सत् उत्पाद है । क्योंकि पुरुषकी अपेक्षा नष्ट नहीं हुआ । और जब पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा की जाती है तब पहली जो सराग अवस्था थी उससे यह भरत, सगर, रामचद्र, पाडव आदि केवली पुरुषोंकी जो वीतराग परमात्म पर्याय है सो अन्य है वही नहीं है—यह असत् उत्पाद है । क्योंकि पूर्व पर्यायसे यह अन्य पर्याय है । जैसे यहा जीव द्रव्यमें सत् उत्पाद और असत् उत्पादका व्याख्यान किया गया तैसा सर्व द्रव्योंमें यथासभव जान लेना चाहिये ।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्य उत्पादके दो भेद भिन्नर अपेक्षासे द्रव्यके यथार्थ स्वरूपको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं । एक सत् उत्पाद दूसरा असत् उत्पाद । जो थी वही उपजनी इसको सत् उत्पाद और जो न थी वह उपजनी इसको असत् उत्पाद कहते

दीक्षितोंकी कृतिकर्म करके अर्थात् सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति, गुरुभक्ति पूर्वक अथवा मात्र सिर झुकाकर ही मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक जो प्रणाम करना सो वन्दना आवश्यक मूलगुण है।

१९ प्रतिक्रमण आवश्यक मूलगुण।

दव्वे खेत्ते काले भावे य किदावराहसोहणयं।
णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिकमणं॥

भावार्थ--आहार शरीरादि द्रव्यके सम्बन्धमें वस्तिका शयन आसन गमनादि क्षेत्रके सम्बन्धमें, पूर्वान्ह अपरान्ह रात्रि पक्ष मास आदि कालके सम्बन्धमें व मन सम्बन्धी भावोंके सम्बन्धमें जो कोई अपराध होगया हो उसको अपनी स्वयं निंदा करके व आचार्यादिके पास आलोचना करके अपने मन वचन कायसे पछतावा करके दोषको दूर करना सो प्रतिक्रमण मूलगुण है।

२० प्रत्याख्यान आवश्यक मूलगुण।

णामादीणं छण्णं अजोगपरिवज्जणं तिकरणेण।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले॥ २८॥

भावार्थ--मन वचन काय शुद्ध करके अयोग्य नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल भावोंको नहीं सेवन करूँ, न कराऊँगा, न अनुमोदना करूंगा। इस तरह आगामी कालमें होनेवाले दोषोंका वर्तमानमें व आगामीके लिये त्यागना सो प्रत्याख्यान मूलगुण है।

२१ कायोत्सर्ग आवश्यक मूलगुण।

देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिणगुणचिंतणजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गो॥ २८॥

भावार्थ--दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक व सांवत्सरिक आदि नियमोंमें शास्त्रमें कहे हुए काल प्रमाण २५ श्वास, २७

हरएक पर्यायमें भर्तिस्पना बना रहेगा। अवस्था क्षणभगुर है– समय समय भिन्न २ होती हैं, इसको जतानेवाला असत उत्पाद है। श्री रामचद्रजी मुक्त हुए तब मोक्ष पर्यायमें वही जीव है जो रामके शरीरमे था यह सत उत्पाद है तथापि ससार अवस्थासे मोक्ष अवस्था हुई जो पहले प्रगट न थी सो असत् उत्पाद है। यहा तात्पर्य्य यह लेना चाहिये कि हमारी आत्मामें भी मोक्ष पर्याय शक्तिरूपमे मौजूद है इसलिये हमको उसकी प्रगटताके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये और साम्यभावके अभ्यासमें नित्य लवलीन रहना चाहिये ॥ २० ॥

उत्थानिका–आगे पहले कहा हुआ सत् उत्पाद द्रव्यसे अभिन्न है ऐसा खुलासा करते हैं–

जीवो भव भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो ।
किं दव्वत्त पजहदि ण जह अण्णो कह होदि ॥ २१ ॥

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुन ।
किं द्रव्यत्व प्रजहाति न जहद य कथ भवति ॥ २१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जीवो) यह आत्मा (भव) परिणमन करता हुआ (णरोऽमरो वा परो) मनुष्य, देव या अन्य कोई (भविस्सदि) होवेगा (पुणो भवीय) तथा इस तरह होकर (किं दव्वत्त पजहदि) क्या वह अपने द्रव्यपनेको छोड बैठेगा ? (ण जह अण्णो कह होदि) नहीं छोडता हुआ वह भिन्न कैसे होवेगा ? अर्थात् द्रव्यपनेसे अन्य नहीं होगा।

विशेषार्थ–यह परिणमन स्वभाव जीव विकार रहित शुद्धोपयोगसे विलक्षण शुभ या अशुभ उपयोगसे परिणमन करके मनुष्य,

२५ क्षितिशयन मूलगुण।

फासुयभूमिपएसे अप्पमसं थारिदम्हि पच्छण्णे।
दंडधणुव्व सेज्झं खिदिसयणं एयपासेण ॥ ३२ ॥

भावार्थः-प्राशुक भूमिमें प्रवेशमें बिना सथारेके व अपने शरीर प्रमाण सथारेमें स्त्री पशु नपुसक रहित गुप्त स्थानमें धनुषके समान व लकडीके समान एक पसवाडेसे सोना सो क्षितिशयन मूलगुण है। अधोमुख या ऊपरको मुख करके नहीं सोना चाहिये, सथारा तृणमई, काष्टमई, शिलामई या भूमिमात्र हो तथा उसमें गृहस्थ योग्य बिछौना ओढना आदि न हो। इंद्रिय सुखके छोडने व तपकी भावनाके लिये व शरीरके ममत्व त्यागके लिये ऐसा करना योग्य है।

२६ अदन्तमन मूलगुण।

अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं।
दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥ ३३ ॥

भावार्थ-अगुली, नाखून, अवलेखनी ' जिससे दातोका मैल निकालते हैं अर्थात् दतौन तृणादि पाषाण, छाल आदिकोंसे जो दातोंके मलोंको नहीं साफ करना सयम तथा गुप्तिके लिये सो अदन्तमण मूलगुण है। साधुओंके दातोंकी शोभाका बिल्कुल भाव नहीं होता है इससे गृहस्थोंके समान किसी वस्तुसे दातोंको मलमल कर चमकाते नहीं। भोजनके पीछे मुह व दात अवश्य धोते हैं जिससे कोई अन्न मुहमें न रह जाय, इसी क्रियासे ही उनके दात आदि ठीक रहते हैं। उनको एक दफेके सिवाय भोजनपान नहीं है

त्यागते हैं। उनका हरएक पर्यायमें सत् उत्पाद ही होता है। इस कथनसे यह बात भी स्पष्ट कर दी है कि जीवकी सर्व पर्यायें जीव रूप तथा पुद्गलकी सर्व पर्यायें पुद्गल रूप होगी एक द्रव्यकी पर्यायें अन्य द्रव्य रूप नहीं हो सक्ती हैं। जीव कभी पुद्गल नहीं होगा, पुद्गल कभी जीव नहीं होगा ऐसा वस्तुका स्वभाव समझकर हमको उचित है कि हम अपने आत्म द्रव्यको शुद्ध अवस्थामें रखनेके लिये साम्यभावका अभ्यास करें ॥२१॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यके असत् उत्पादको पूर्व पर्यायमे भिन्न निश्चय करते हैं—

मणुओ ण होदि देवो, देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।
एव अहोज्जमाणो अणण्णभाव कध लहदि ॥ २२ ॥

मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा ।
एवमभवन्ननन्यभाव कथ लभते ॥ २२ ॥

अन्वय सहित विशेषार्थ—(मणुओ) मनुष्य (देवो ण होदि) देव नहीं होता है। (वा देवो) अथवा देव (मानुसो व सिद्धो वा) मनुष्य या सिद्ध नहीं होता है। (एव अहोज्ज माणो) ऐसा नहीं होता हुआ (अणण्ण भाव कध लहदि) एक पनेको कैसे प्राप्त हो सक्ता है?

विशेषार्थ—देव मनुष्यादि विभाव पर्यायोंसे विलक्षण तथा निराकुल स्वरूप अपने स्वभावमें परिणमन रूप लक्षणको धरनेवाला परमात्मा द्रव्य यद्यपि निश्चय नयसे मनुष्यपर्यायमें तथा देवपर्यायमें समान है तथापि व्यवहारनयमे मनुष्य देव नहीं होता है क्योंकि देव पर्यायके कालमें मनुष्य पर्यायकी प्राप्ति नहीं है तथा मनुष्य पर्यायके

उसका प्रायश्चित लेकर अपनी शुद्धि करके फिर मूलगुणोंके यथार्थ पालनमें सावधान होजाता है ऐसे साधुको छेदोपस्थापक कहते हैं।

वृत्तिकार श्री जयसेनआचार्यने ऐसा भाव झलकाया है कि निश्चय आत्मस्वरूपमें रमणरूप सामायिक ही निश्चय मूलगुण है, जब आत्मसमाधिसे च्युत हो जाता है तब वह इस २८ विकल्प रूप या भेदरूप चारित्रको पालता है जिसको पालते हुए निर्विकल्प समाधिमें पहुंचनेका उद्योग रहता है। निश्चय सामायिकका लाभ शुद्ध सुवर्ण द्रव्यके लाभके समान है। व्यवहार मूलगुणोंमें वर्तना अशुद्ध सुवर्णकी कुण्डलादि अनेक पर्यायोंके लाभके समान है। प्रयोजन यह है कि निश्चय चारित्र ही मोक्षका बीज है। यही साधुका भावलिंग है, अतएव जो अभेद रत्नत्रयमई स्वानुभवमें रमण करते हुए निजानंदका भोग करते हैं वे ही यथार्थ साधु हैं।

इस तरह मूल और उत्तर गुणोंको कहते हुए दूसरे स्थलमें दो सूत्र पूर्ण हुए ॥ ९ ॥

उत्थानिका-अब यह दिखलाते हैं कि इस तप ग्रहण करनेवाले साधुके लिये जैसे दीक्षादायक आचार्य या साधु होते हैं वैसे अन्य निर्यापक नामके गुरु भी होते हैं।

> लिंगग्गहणे तेसिं गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि।
> छेदेसूवट्ठगा सेसा णिज्जावगा समणा ॥ १० ॥

> लिंगग्रहणे तेषां गुरुरिति प्रव्रज्यादायको भवति।
> छेदयोरुपस्थापकाः शेषा निर्यापकाः श्रमणाः ॥ १० ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थः-(लिंगग्गहणे) मुनिभेषके -

द्रव्य नित्य है, पर्याय अनित्य है, जिससे स्थूलपने यह भी समझना चाहिये कि अभी हमारा आत्मा जिस मनुष्य पर्यायमें है वह पर्याय कभी न कभी अवश्य बदल जायगी, यद्यपि हम नष्ट नहीं होंगे। इससे हमको इस पर्यायमें जो कुछ तप संयम व्रतादि बन सक्ता है सो अच्छी तरह कर लेना चाहिये, जिससे भविष्यमें योग्य पर्यायकी प्राप्ति हो।

उत्थानिका—आगे एक द्रव्यका अपनी पर्यायोंके साथ अनन्यत्व नामका एकत्व है तथा अन्यत्व नामका अनेकत्व है ऐसा नयोंकी अपेक्षा दिखलाते हैं। अथवा पूर्वमें कहे गए सद्भाव उत्पाद और असद्भाव उत्पादको एक साथ अन्य प्रकारसे दिखाते हैं—

दव्वट्ठिएण सव्वं सव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥ २३ ॥

द्रव्यार्थिकेन सर्व द्रव्य तत्पर्यायार्थिकेन पुनः ।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ॥ २३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(दव्वट्ठिएण) द्रव्यार्थिक नयसे (तं सव्वं) वह सब (दव्वं) द्रव्य (अणण्णं) अन्य नहीं है—वही है (पुणो) परंतु (पज्जयट्ठिएण) पर्यायार्थिक नयसे (अण्णम् य) अन्य भी (हवदि) है—क्योंकि (तक्काले तम्मयत्तादो) इस कालमें द्रव्य अपनी पर्यायसे तन्मई हो रहा है॥

विशेषार्थ—वृत्तिकार जीव द्रव्यपर घटाते हैं कि शुद्ध अन्वय रूप द्रव्यार्थिक नयसे यदि विचार किया जाय तो सर्व ही कोई विशेष या सामान्य जीव नामा द्रव्य अपनी नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव रूप विभाव पर्यायोंके समूहोंके साथ तथा केवलज्ञान

दटको बड़े आनन्दसे लेकर अपने भावोंकी निर्मलता करते हैं। तात्पर्य यह है कि साधुको अपने अंतरंग बहिरंग चारित्रकी शुद्धि-पर सदा ध्यान रखना योग्य है। जैसा मूलाचारमें अनगार भावना अधिकारमें कहा है —

उवधिभरविप्पमुक्का वोसट्टंगा णिरंबरा धीरा।
णिक्किंचण परिसुद्धा साधू सिद्धिवि मग्गंति ॥ ३० ॥

भावार्थ-जो परिग्रहके भारसे रहित होते हैं, शरीरकी ममताके त्यागी होते हैं, वस्त्र रहित, धीर और निर्लोभी होते हैं तथा मन वचन कायसे शुद्ध आचरण पालनेवाले होते हैं वे ही साधु अपनी आत्माकी सिद्धि अर्थात् कर्मोंके क्षयको सदा चाहते हैं ॥ १०

उत्थानिका-आगे पूर्व सूत्रमें कहे हुए दो प्रकार छेदके लिये प्रायश्चित्तका विधान क्या है सो कहते हैं ?

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्मि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥११
छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्मि।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्टं तेण कायव्वं ॥१२॥ युगल

प्रयतायां समारब्धायां छेदः श्रमणस्य कायचेष्टायाम्।
जायते यदि तस्य पुनरालोचनापूर्विका क्रिया ॥ ११ ॥
छेदोपयुक्तः श्रमणः श्रमणं व्यवहारिणं जिनमते।
आसाद्यालोच्योपदिष्टं तेन कर्तव्यम् ॥ १२ ॥ (युग्मम्)

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पयदम्हि समारद्धे) चारित्रका प्रयत्न प्रारम्भ किये जानेपर (जादि) यदि (समणस्स) साधुकी

भिन्न २ हैं इसलिये वह द्रव्य अपनी हरएक विशेष अवस्थामें एकरूप नहीं किन्तु भिन्न २ है—इस तरह पर्यायोंकी अपेक्षा भेद है। वास्तवमें द्रव्यमें एक ही समयमें अभेद स्वभाव और भेद स्वभाव दोनो ही पाए जाते हैं। इन दो भिन्न २ स्वभावोंको जब हम अपनी पर्यायको देखनेवाली दृष्टिको बन्द कर द्रव्य सामान्यको देखनेवाली दृष्टिसे अर्थात् द्रव्यार्थिक नयसे देखते हैं तब हमको वह द्रव्य हरएक पर्यायमें वही झलकता है अर्थात् उस समय द्रव्यका अभेद स्वभाव प्रगट होता है। परन्तु जब हम द्रव्यको देखनेवाली दृष्टिको बदलकर पर्यायको देखनेवाली दृष्टिसे या पर्यार्थिक नयसे देखते हैं तब हमको वह द्रव्य हरएक पर्यायमें अन्य २ ही झलकता है अर्थात् उस समय द्रव्यका भेद स्वभाव ही प्रगट होता है। परंतु जब हम दोनों दृष्टियोंसे एक काल देखने लगजावें तब वह द्रव्य एक काल द्रव्यकी अपेक्षा अभेद रूप और पर्यायकी अपेक्षा भेद रूप दिखता है। जैसे एक जीव जो निगोद पर्यायमें था वही एकेन्द्री, द्वेन्द्री, तेन्द्री, चौंद्री, पंचेन्द्री होकर मनुष्य हो, रत्नत्रय धर्मका लाभ पाकर केवलज्ञानी हो, सिद्ध होजाता है—वही जीव है यह प्रतीति अभेद स्वरूपको बतानेवाली है परतु जब पर्याय पर्यायका मिलान करते हैं तो बडा भेद है—एकेन्द्रीकी जो अवस्था है वह द्वेन्द्रिय त्रस आदिकी नहीं, द्वेन्द्रिय त्रसकी जो अवस्था है वह एकेन्द्रिय तेन्द्रिय आदिकी नहीं, पशुकी जो अवस्था है वह मनुष्यकी नहीं, मनुष्यकी जो अवस्था है वह देव आदिकी नहीं, मिथ्यादृष्टीकी जो अवस्था है वह सम्यग्दृष्टीकी नहीं, गृहस्थकी जो अवस्था है वह साधुकी नहीं, साधुकी जो

भावार्थ-यहां दो गाथाओंमें आचार्यने साधुके दोषोंको शुद्ध करनेका उपाय बताया है। यदि साधु अन्तरङ्ग चारित्रमें सावधान है और सावधानी रखते हुए भी अपनी भावनाके विना भी किसी कारणसे बाहरी शयन, आसन आदि शरीरकी क्रियाओंमें शास्त्रोक्त विधिमें कुछ त्रुटि होनेपर संयममें दोष लग जावे तो मात्र बहिरङ्ग भङ्ग हुआ। अंतरङ्ग नहीं। ऐसी दशामें साधु स्वयं ही प्रतिक्रमण रूप आलोचना करके अपने दोषोंकी शुद्धि करले, परन्तु यदि साधुके अन्तरङ्गमें उपयोग पूर्वक संयमका भंग हुआ हो तो उसको उचित है कि प्रायश्चित्तके ज्ञाता आचार्यके पास जाकर जैसे बालक अपने दोषोंको विना किसी कपटभावके सरल रीतिसे अपनी माताको व अपने पिताको कह देता है इसी तरह आचार्य महाराजसे कह देवे। तब आचार्य विचार कर जो कुछ उस दोषकी निवृत्तिका उपाय बतावें उसको बड़ी भक्तिसे उसे अंगीकार करना चाहिये। यह सब छेदोपस्थापन चारित्र है।

प्रायश्चित्तके सम्बन्धमें प० आशाधरकृत अनगारधर्मामृतमें इस तरह कथन है —

यत्कृत्याकरणे वर्ज्यावर्जने च रजोऽर्जितम्।
सोऽतिचारोऽत्र तच्छुद्धिः प्रायश्चित्तं दशात्म तत् ॥३४॥ अ० ७

भावार्थ—जो पाप करने योग्य कार्यके न करनेसे व न करने योग्य कार्यको न छोड़नेसे उत्पन्न होता हो उसको अतिचार कहते हैं उस अतिचारकी शुद्धि कर लेना सो प्रायश्चित्त है। उसके दश भेद हैं। श्री मूलाचार पंचाचार अधिकारमें भी दश भेद कहे हैं जब कि श्री उमास्वामीकृत तत्वार्थसूत्रमें केवल ९ भेद ही कहे हैं।

तरह दोष आएगा। जैसा कहा है—

> सन्तानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुशः ।
> प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥ २९ ॥

भावार्थ–यदि द्रव्यको अपनी पर्यायोंसे भी एक रूप न माना जावे तो पर्यायोंकी सतान न ठहरे। क्रम रूप होनेवाली पर्यायोंमें जो द्रव्य अन्वय रूप बराबर बना रहता है उसको सतान कहते हैं। तथा समुदाय कहना भी न बनेगा। अर्थात् यदि द्रव्यको अपने गुणोंसे तथा गुणके विकार पर्यायोंसे सर्वथा भेद मानें तो यह द्रव्य गुणोंका या पर्यायोंका समुदाय है ऐसा नहीं बनेगा। वैसे ही साधर्म भाव भी न बनेगा। जितनी पर्यायें जिस द्रव्यकी होती हैं उन पर्यायोंमें द्रव्यका समान जातीय स्वभाव पाया जाता है। जैसे जीवकी देव मनुष्यादि पर्यायोंमें ज्ञानपना, पुद्गलकी घटपट आदि पर्यायोंमें स्पर्श, रस, गंध, वर्णपना, सत्ताकी अपेक्षा सर्व द्रव्योंमें सत पना, ऐसा साधर्मीपना नहीं ठहरेगा यदि सर्वथा भेद माना जावे। तैसे ही परलोक भी न बनेगा—मरकर नया जन्म धारना परलोक है। सो यदि एक आत्मा अपनी देव मनुष्यादि पर्यायोंमें नहीं रहे तब यह नहीं मान सके कि अमुक जीवने पुण्य बांधके देव पर्याय पाई। परन्तु जब सतान समुदाय, साधर्म्य और परलोक अवश्य है तब अवश्य द्रव्यमें अभेद स्वभाव मानना होगा। सर्वथा द्रव्यका भेद अपने स्वभावों या पर्यायोंसे नहीं हो सक्ता है। इसी तरह यदि कोई द्रव्यका सर्वथा अभेद स्वभाव माने तो क्या दोष आवेगा उसके लिये स्वामी समंतभद्रजी यहीं कहते हैं—

इस तरह पूछ ले कि यदि कोई ऐसा दोष करे तो उसके लिये क्या प्रायश्चित्त होना चाहिये ऐसा कहकर व उत्तर मालूमकर उसी प्रमाण अपने दोषको दूर करनेके लिये प्रायश्चित्त करे सो छन्न दोष है। इसमें साधुके मानकी तीव्रता झलकती है।

७ **शब्दाकुलदोष**-जब बहुत जनोंका कोलाहल होरहा है तब गुरुके सामने अपना अतीचार कहना सो शब्दाकुल दोष है। इसमें भी शिष्यका अधिक दंड लेनेका भय झलकता है, क्योंकि कोलाहलके समय साधुका भाव संभव है आचार्यके ध्यानमें अच्छी तरह न आवे।

८ **बहुजनदोष**-जो एक दफे प्रायश्चित्त गुरुने किसीको दिया हो उसीको दूसरे अपने दोष दूर करनेके लिये लेलेवे। गुरुसे अलग २ अपना दोष न कहे सो बहुजन दोष है।

९ **अव्यक्तदोष**-जो कोई संयम या ज्ञानहीन गुरुसे प्रायश्चित्त लेलेना सो अव्यक्त दोष है।

१० तत्सेवित-जो कोई दोष सहित होकर दोष सहित पार्श्वस्थ साधुसे प्रायश्चित्त लेना सो तत्सेवित दोष है।

इन दोषोंको दूर करके सरल चित्तसे अपना दोष गुरुसे कहना सो आलोचना नाम प्रायश्चित्त है। बहुतसे दोष मात्र गुरुसे कहने मात्रसे शुद्ध हो जाते हैं।

२ प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त-मिथ्या मे दुष्कृतम्-मेरा पाप मिथ्या हो, ऐसा वचन वारवार कहकर अपने अल्पपापकी शुद्धि कर लेना सो प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। इसमें गुरुको कहनेकी जरूरत नहीं है। जैसा इस प्रवचन शास्त्रकी ११वीं गाथामें कहा है।

अत्थित्ति य णत्थित्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्ण वा ॥ २४ ॥

अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनद्रव्यम् ।
पर्यायेण तु केनापि तदुभयमादिष्टमन्यद्वा ॥ २४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(दव्व) द्रव्य (केणवि पज्जाएण) किसी एक पर्यायसे (दु) तो (अत्थित्ति) अस्ति रूप ही है (य) और किसी एक पर्यायसे (णत्थित्ति य) नास्ति रूप ही है तथा किसी एक पर्यायसे (अवत्तव्वमिदि) अवक्तव्य रूप ही (हवदि) होता है । (पुणो तदुभयम्) तथा किसी एक पर्यायमे अस्ति नास्ति दोनों रूप ही है (वा अण्ण) अथवा किसी अपेक्षासे अन्य तीन रूप अस्ति एव अवक्तव्य, नास्ति एव अवक्तव्य तथा अस्ति नास्ति एव अवक्तव्य रूप (आदिट्ठम्) कहा गया है ।

विशेषार्थ–यहा स्याद्वादका कथन है । स्यातका अर्थ कथचित है अर्थात् किसी एक अपेक्षासे–वादके अर्थ-कथन करनेके हैं । वृत्तिकार यहा शुद्ध जीवके सम्बन्धमे स्याद्वादका या सप्तभगका प्रयोग करके बताते हैं । शुद्ध जीव द्रव्य अपने ही स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभावके चतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप ही है अर्थात् जीवमें अस्तिपना है । शुद्ध गुण तथा पर्यायोका आधारभूत जो शुद्ध आत्मद्रव्य है वह स्वद्रव्य है, लोकाकाश प्रमाण शुद्ध असख्यात प्रदेश हैं सो स्वक्षेत्र कहा जाता है । वर्तमान शुद्ध पर्यायमें परिणमन करता हुआ वर्तमान समय स्वकाल कहा जाता है । शुद्ध चैतन्य यह स्वभाव है इस तरह स्वद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा शुद्ध जीव है अथवा शुद्ध जीवमें अस्तित्व स्थापन है ।

अतीचार, नदी तरण, महावन गमन आदि कार्योंमें जो शरीरका ममत्व त्यागकर अन्तर्मुहूर्त्त, दिवस, पक्ष, मास आदि काल तक ध्यानमें खडे रहना सो कायोसर्ग या व्युत्सर्ग है। (नौ णामोकार मन्त्रको सत्ताईस श्वासोउच्छ्वासमें जपना ध्यान रखते हुए सो एक कायोत्सर्ग प्रसिद्ध है। प्रायश्चित्तमें यह भी होता है कि इतने ऐसे कायोत्सर्ग करो) अनगार धर्मामृतमें अ० ८ में है —

सप्तविंशतिरुच्छ्वासा स सारोन्मूलनक्षमे ।
स ति पचनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति ॥

भावार्थ-९ दफे संसारछेदक णमोकारमन्त्रको पढनेमें २७ श्वासोश्वास लगाना चाहिये। इसी श्लोकके पूर्व है कि एक उच्छ्वासमें णमो अरहंताण, णमो सिद्धाण पढे, दूसरेमें णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण पढे, तीसरेमें णमो लोए सव्वसाहूण पढे। कितने उच्छ्वासोंका कायोत्सर्ग कबकब करना चाहिये उसका प्रमाण इस तरह है। दैवसिक प्रतिक्रमणके समय १०८ उच्छ्वास, रात्रिकमें ५४, पाक्षिकमें तीन सौ ३००, चातुर्मासिकमें ४००, सावत्सरिकमें ५०० जानने। २५ पचीस उच्छ्वास कायोत्सर्ग नीचेके कार्योंके समय करे मूत्र करके, पुरीष करके, ग्रामान्तर जाकर, भोजन करके, तीर्थंकरकी पचकल्याणक भूमि व साधुकी निषिद्धिकाकी वन्दना करनेमें। तथा २७ सत्ताईस उच्छ्वास कायोत्सर्ग करे, शास्त्र स्वाध्याय प्रारम्भमें व उसकी समाप्तिमें तथा नित्य वदनाके समय तथा मनके विकार होनेपर उसकी शांतिके लिये। यदि मनमें जन्तुघात, असत्य, अदत्त ग्रहण, मैथुन व परिग्रहका विकार हो तो १०८ उच्छ्वास

किया गया यहां स्यात् अस्ति एवके द्वारा जो एवका ग्रहण किया गया है वह नय सप्तभंगीके बतानेके लिये किया गया है। जैसे यहां शुद्ध आत्म द्रव्यमें सप्तभंगी नयका व्याख्यान किया गया तैसे यथा संभव सर्व पदार्थोंमें जान लेना चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने सप्तभंग वाणीका स्वरूप इसी लिये दिखाया है कि इसकी पहली गाथामें जो द्रव्यमें द्रव्यकी अपेक्षा अभेद स्वभाव तथा पर्यायोंकी अपेक्षा भेद स्वभाव बताया है उसकी सिद्धि सात भंगोंसे शिष्यके प्रश्नवश होसक्ती है उसको स्पष्ट कर दिया जाय।

शिष्यने प्रश्न किया कि द्रव्यका क्या स्वरूप है? आचार्य उत्तर देते हैं कि द्रव्य अपने गुण व पर्यायोंमें अन्वय रूप सदा चला जाता है इससे अभेद स्वरूप ही है, परन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा भेद स्वरूप ही है। तथापि यदि अभेद स्वरूपको और भेद स्वरूपको दोनोको एक काल कहनेकी चेष्टा करें तो कह नहीं सक्ते इससे अवक्तव्य स्वरूप ही है। इस तरह स्याद् अभेद एव, स्यात् भेद एव, स्यात् अवक्तव्यम् एव। तीन भंग हुए।

शिष्यका प्रश्न-क्या ये अभेद तथा भेद दोनों स्वरूप है?

उत्तर-यह द्रव्य किसी अपेक्षासे अभेद व किसी अपेक्षा भेद इस तरह दोनों स्वरूप ही है। यह चौथा भंग स्यात् अभेद भेद एव है।

शिष्य-प्रश्न-तब फिर जो आपने अवक्तव्य कहा था, क्या यह अभेद स्वरूपको नहीं रखता है?

उत्तर-अवश्य अभेद स्वरूको रखता है तथापि एक सम-

पीछीको आगे करके आप सर्व बाल वृद्ध मुनियोंको नमस्कार करे, परन्तु बदलेमें कोई मुनि उसको नमन न करे पीछीको उल्टी रखे मौनव्रतसे रहे, जघन्य पांच पांच दिन तथा उत्कृष्ठ छ छ मासका उपवास करे। ऐसा परिहार बारह वर्ष तकके लिये हो सक्ता है।

यदि वही मुनि मानादि कषाय वश फिर वैसा अपराध करे तो उसको आचार्य दूसरे संघमें भेज, वहां अपनी आलोचना करे वे फिर तीसरे संघमें भेजें। इसतरह सात संघके आचार्योंके पास वह अपना दोष कहे तब वह सातमा आचार्य फिर जिसने शुरूमें भेजा था उसके पास भेज दे। तब वही आचार्य जो प्रायश्चित दे सो ग्रहण करे। यह सहपरगणअनुपस्थापन नामका भेद है।

फिर वही मुनि यदि और भी बड़े दोषोंमें दूषित हो तब चार प्रकार संघके सामने उसको कह यह महापापी, आगम बाहर है, वन्दनेयोग्य नहीं, तब उसे प्रायश्चित्त देकर देशसे निकाल दें वह अन्य क्षेत्रमें आचार्यद्वारा दिये हुए प्रायश्चित्तको आचरण करे। (नोट—इसमें भी कुछ कालका नियम होता है, क्योंकि परिहारकी विधि यही है कि कुछ कालके लिये ही वह साधु त्यागा जाता है।) जैसा श्री तत्वार्थसारमें अमृतचन्द्रस्वामी लिखते हैं—

"परिहारस्तु मासादिविभागेन विवर्जनम् ॥ २६-७"

१० श्रद्धान-जो साधु श्रद्धानभ्रष्ट होकर अन्यमती हो गया हो उसका श्रद्धान ठीक करके फिर दीक्षा देना सो श्रद्धान प्रायश्चित्त है। अनगार धर्मामृत सातवें अध्यायके ५२ वें श्लोककी व्याख्यामें कथन है कि जो कोइ आचार्यको बिना पूछे आता-

मिर्च साथ ५ नोन खटाई साथ, ६ मिर्च खटाई साथ तथा ७ नोन मिर्च खटाई साथ। इससे अधिक भिन्न अवस्था तीन वस्तुओंकी नहीं होसक्ती।

इसी तरह दो विरोधी स्वभाव और एक अवक्तव्य ये तीन स्वभाव द्रव्यमें होकर उसका कथन सात तरहसे किया जासक्ता है, आठ तरहसे नहीं होसक्ता है। यदि ७ तरहसे करें तो एक भेद शेष रह जायगा। दूसरा दृष्टान्त हम ले सक्ते हैं कि किसीने हमको शकर चने और बादाम तीन वस्तुएं दीं और कहा कि इसकी मिश्रित मिठाइयें ऐसी बनाओ जो एक दूसरेसे भिन्न हों। ऐसी दशामें हम चार प्रकारकी ही बना सक्ते हैं जैसे शकर और चनेके मिलानेसे एक प्रकारकी, शकर और बादामके मिलानेसे दूसरे प्रकारकी, चने और बादामको मिलाकर तीसरे प्रकारकी तथा शकर चने और बादामको मिलाकर चौथे प्रकारकी इस तरह तीन अलग व चार मिश्र ऐसे सात भेद तीनके होसक्ते है। हरएक द्रव्यमें एक, अनेक, अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, इत्यादि दो दो विरोधी स्वभाव पाए जाते हे। तीसरा स्वभाव अवक्तव्य है। अवक्तव्य एक अनेक, अस्ति नास्ति, नित्य अनित्य, सबके साथ लगानेसे तीन स्वभाव होजावेंगे इनका खुलासा करनेके लिये सात तरहका उपाय है जिससे शिष्यके दिलमे विना शकाके पदार्थ जम जावे। जैसे द्रव्य द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है, पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। दोनोंको एक साथ एक समयमें नहीं कह सक्ते इससे द्रव्य अवक्तव्य है।

शिष्यको समझानेके लिये इस तरह चार भग कहेंगे। द्रव्य

जैसे वैद्य रोगीकी शक्ति आदि देखकर उसका रोग जिस तरह मिटे वैसी उसके अनुकूल औषधि देता है वैसे आचार्य शिष्यका अपराध व उसकी शक्ति, देश, काल आदि देखकर जिससे उसका अपराध शुद्ध हो जावे ऐसा प्रायश्चित्त देते हैं।

जबतक निर्विकल्प समाधिमें पहुंच नहीं हुई अर्थात् शुद्धोपयोगी हो श्रेणीपर आरूढ़ नहीं हुआ तबतक सविकल्प ध्यान होने व आहार विहारादि क्रियाओंके होनेपर यह बिलकुल असंभव है मन, वचन, काय सम्बन्धी दोष ही न लगें। जो साधु अपने लगे दोषोंको ध्यानमें लेता हुआ उनके लिये आलोचना प्रतिक्रमण करके प्रायश्चित्त लेता रहता है उसके दोषोंकी मात्रा दिन पर दिन घटती जाती है। इसी क्रमसे वह निर्दोषताकी सीढीपर चढ़कर निर्मल सामायिकभावमें स्थिर होजाता है।

इस तरह गुरुकी अवस्थाको कहते हुए प्रथम गाथा तथा प्रायश्चित्तको कहते हुए दो गाथाएं इस तरह समुदायसे तीसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुईं॥ १२॥

उत्थानिका-आगे निर्विकार मुनिपनेके भङ्गके उत्पन्न करनेवाले निमित्त कारणरूप परद्रव्यके सम्बन्धोंका निषेध करते हैं—

> अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
> समणो विहरदु णिच्च परिहरमाणो णिबन्धाणि॥१३॥
> अधिवासे वा विवासे छेदविहीनो भूत्वा श्रामण्ये।
> श्रमणो विहरतु नित्यं परिहरमाणो निबन्धान्॥ १३॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(समणो) शत्रु मित्रमें समान भावधारी साधु (णिबन्धाणि परिहरमाणो) चेतन अचेतन मिश्र

द्वेषमई सम्बन्धोंका त्याग करे तथा अपने स्वरूपाचरण रूप निश्चय चारित्रमें व उसके सहकारी व्यवहार चारित्रमें भंग या दोष न लगावे। यदि कोई प्रमादसे दोष होजाय तो उसके लिये प्रायश्चित्त लेकर अपना दोष दूर करता रहे। जब निश्चय व्यवहार चारित्रमें परिपक्व होजाय तब अन्य अपने समान चारित्रके धारी साधुओंके संगमें अपने गुरुकी आज्ञा लेकर पहलेकी तरह निर्दोष चारित्रकी सम्हाल रखता हुआ विहार करे। तथा जब एकाविहारी होने योग्य होजावे तब गुरुकी आज्ञा लेकर अकेला विहार करते हुए साधुका यह कर्तव्य है कि स्वयं निश्चय चारित्रको पाले और शास्त्रोक्त व्यवहार चारित्रमें दोष न लगावे। इस तरह मुनि पदकी महिमाको प्रगट करता हुआ भक्तजन अनेक श्रावकादिकोंके मनमें आनन्द पैदा करावे और निरन्तर अपने चारित्रकी सहकारिणी इन पाच भावनाओंको इस तरह भावे—

(१) तप ही एक सार वस्तु है जैसा सुवर्ण अग्निमें तपाए जानेपर शुद्ध होता है वैसे आत्मा इच्छा रहित होता हुआ आत्मज्ञानरूपी अग्निमें ही शुद्ध होता है। (२) शास्त्रज्ञान विना तत्वका विचार व उपयोगका रमण नहीं होसक्ता है इसलिये मुझे शास्त्रज्ञानकी वृद्धि व निःसंशयपनेमें सदा सावधान रहना चाहिये (३) आत्मवीर्यसे ही कठिन २ तपस्या होती व उपसर्ग और परीषहोंका सहन किया जाता इससे मुझे आत्मबलकी वृद्धि करना चाहिये तथा आत्मबलको कभी न छिपाकर कर्म शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये वीर योद्धाकेसमान अभेद रत्नत्रयरूपी खड्गको चमकाते व उसे उन [illegible] रते रहना चाहिये। (४) एकत्व

नमस्कार गाथा कही, फिर द्रव्य गुण पर्यायको कथन करते हुए दूसरी कही, फिर स्वसमय परसमयको दिखलाते हुए तीसरी, फिर द्रव्यके सत्ता आदि तीन लक्षण होते हैं इसकी सूचना करते हुए चौथी, इस तरह स्वतत्र-गाथा चारसे पीठिका कही। इसके पीछे अवान्तर सत्ताको कहते हुए पहली, महासत्ताको कहते हुए दूसरी, जैसा द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है वैसे सत्ता गुण भी है ऐसा कहते हुए तीसरी, उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना होते हुए भी सत्ता ही द्रव्य है ऐसा कहते हुए चौथी इस तरह चार गाथाओंसे सत्ताका लक्षण मुख्यतासे कहा गया। फिर उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणको कहते हुए गाथा तीन, तथा द्रव्य पर्यायको कहते हुए व गुण पर्यायको कहते हुए गाथा दो, फिर द्रव्यके अस्तित्वको स्थापन करते हुए पहली, पृथक्त्व लक्षणधारी अतद्भाव नामके लक्षणको कहते हुए दूसरी, सज्ञा लक्षण प्रयोजनादि भेद रूप अतद्भावको कहते हुए तीसरी, उसीके ही दृढ करनेके लिये चौथी इस तरह गाथा चारसे सत्ता और द्रव्य अभेद है इसको युक्तिपूर्वक कहा गया। इसके पीछे सत्ता गुण है द्रव्य गुणी है ऐसा कहते हुए पहली, गुण पर्यायोंका द्रव्यके साथ अभेद है ऐसा कहते हुए दूसरी ऐसी स्वतत्र गाथाए दो हैं। फिर द्रव्यके सत् उत्पाद असत् उत्पादका सामान्य तथा विशेष व्याख्यान करते हुए गाथाए चार हैं। फिर सप्तभगीको कहते हुए गाथा एक है, इस तरह समुदायसे चौवीस गाथाओंके द्वारा आठ स्थलोंसे सामान्य ज्ञेयके व्याख्यानमें सामान्य द्रव्यका वर्णन पूर्ण हुआ।

इसके आगे इसी ही सामान्य द्रव्यके निर्णयके मध्यमें सामान्य भेदकी भावनाकी मुख्यता करके ग्यारह गाथाओं तक व्याख्यान

तथा मोक्षमार्गका सच्चा स्वरूप प्रगटकर रत्नत्रय धर्मकी प्रभावना करना है।

श्रीमूलाचारजी अनगारभावना अधिकारमें साधुओंके विहार सम्बन्धमें जो कथन है उसका कुछ अंश यह है।

गामेयरादिवासी णयरे पचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासीय ॥ ७८५॥

साधु महाराज जो परम धीरवीर, जन्तु रहित मार्गमें चलनेवाले व स्त्री पशु नपुंसक रहित एकांत गुप्त स्थानमें वसनेवाले होते हैं। किसी ग्राममें एक रात्रि व कोट सहित नगरमें ५ दिन ठहरते हैं जिससे ममत्व न बढ़े व तीर्थयात्राकी प्राप्ति हो।

सज्झायझाणजुत्ता रत्तिं ण सुवंति ते पयामं तु।
सुत्तत्थं चिंतता णिद्दाय वसं ण गच्छंति॥ ७९४॥

भावार्थ—साधु महाराज शास्त्र स्वाध्याय और ध्यानमें लीन रहते हुए रात्रिको बहुत नहीं सोते हैं। पिछला व पहला पहर रात्रिका छोड़कर बीचमें कुछ आराम करते हैं तो भी शास्त्रके अर्थको विचारते रहते हैं। निद्राके वश नहीं होते हैं।

वसुधम्मिवि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु॥ ७९८॥

भावार्थ—पृथ्वीमें भी विहार करते हुए साधु महाराज किसी जीवको कभी भी कष्ट नहीं देते हैं—वे जीवोंपर ऐसी तरह दया रखते हैं जैसे माता अपने पुत्र पुत्रियोंपर दया रखती है।

णिक्खित्तसत्थदंडा समणा सम सव्वपाणभूदेसु।
अप्पट्ठं चिंतंता हवन्ति अव्वावडा साहू॥ ८०३॥
उवसंतादीणमणा उवेक्खसीला हवंति मज्झत्था।
णिहुदा अलोलमसठा अविम्हिया कामभोगेसु॥ ८०४॥

(किरिया हि अफला णत्थि) यह रागादि रूप क्रिया निश्चयसे विना फलके नहीं होती है अर्थात् मनुष्यादि पर्यायरूप फलको देती है (जदि परमो धम्मो णिप्फलो) यदि उत्कृष्ट वीतराग धर्म मनुष्यादि पर्यायरूप फल देनेसे रहित है।

विशेषार्थ—जैसे टंकोत्कीर्ण (टांकीसे उकेरेके समान अमिट) ज्ञाता दृष्टा एक स्वभाव रूप परमात्मा द्रव्य नित्य है वैसे इस संसारमें मनुष्य आदि पर्यायोंमेसे कोई भी पर्याय ऐसी नहीं है जो नित्य हो। तब क्या मनुष्यादि पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली संसारकी क्रिया भी नहीं है ? इसके उत्तरमे कहते हैं कि मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादिकी परिणति रूप सांसारिक क्रिया नहीं है ऐसा नहीं है। इन मनुष्यादि चारों गतियोंको उत्पन्न करनेवाली रागादि क्रिया अवश्य है। यह क्रिया शुद्धात्माके स्वभावसे विपरीत होनेपर भी नर नारकादि विभाव पर्यायके स्वभावसे उत्पन्न हुई है। तब क्या यह रागादि क्रिया निष्फल रहेगी ? इसके उत्तरमे कहते हैं कि वह मिथ्यात्व रागादिमें परिणतिरूप वैभाविक क्रिया यद्यपि अनन्त सुखादि गुणमई मोक्षके कार्यको पैदा करनेके लिये निष्फल है तथापि नाना प्रकारके दुःखोंको देनेवाली अपनी अपनी क्रियासे होनेवाली कार्यरूप मनुष्यादि पर्यायको पैदा करनेके कारण फल सहित है, निष्फल नहीं है—इस रागादि क्रियाका फल मनुष्यादि पर्यायको उत्पन्न करना है। यह बात कैसे मालूम होती है ? इसके उत्तरमे कहते हैं कि यदि वीतराग परमात्माकी प्राप्तिमे परिणमन करनेवाली क्रिया जिसको आगमकी भाषामें परम यथाख्यात चारित्र रूप परमधर्म कहते हैं, केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टयकी प्रगटता रूप

विशेषार्थ—जो लाभ अलाभ आदिमें समान चित्तको रखने वाला श्रमण तत्त्वार्थश्रद्धान और उसके फलरूप निश्चय सम्यग्दर्शनमें जहां एक निज शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि होती है तथा वीतराग सर्वज्ञसे कहे हुए परमागमके ज्ञानमें और उसके फलरूप स्वसंवेदन ज्ञानमें और दूसरे आत्मीक अनन्त सुख आदि गुणोंमें सर्व काल तल्लीन रहता हुआ तथा अठाईस मूलगुणोंमें अथवा निश्चय मूलगुणके आधाररूप परमात्मद्रव्यमें उद्योग रखता हुआ आचरण करता है सो मुनि पूर्ण मुनिपनेका लाभ करता है। यहां यह भाव है कि जो निज शुद्धात्माकी भावनामें रत होते हैं उन हीके पूर्ण मुनिपना होसक्ता है।

भावार्थ—यहां यह भाव है कि जो अपनी शुद्ध मुक्त अवस्थाके लाभके लिये मुनि पदवीमें आरूढ होता है उसका उपयोग व्यवहार सम्यक्त और व्यवहार सम्यग्ज्ञानके द्वारा निश्चय सम्यक्त तथा निश्चय सम्यग्ज्ञानमें तल्लीन रहता है—रागद्वेषकी कल्लोलोंसे उपयोग आत्माकी निर्मल भूमिकाको छोडकर अन्य स्थानमें न जावे इसलिये ऐसे भावलिंगी सम्यग्ज्ञानी साधुको व्यवहारमें साधुके अट्ठाईस मूलगुणोंको पालकर निश्चय सम्यक्चारित्ररूपी साम्यभावमें तिष्ठना हितकारी है। इसीलिये मोक्षार्थी श्रमण अभेद रत्नत्रयरूपी साम्यभावमें तिष्ठनेका उद्यम रखता है। धर्मध्यानमें व शुक्लध्यानमें चेष्टित रहता है जिस ध्यानके प्रभावसे निष्कुल वीतरागी होकर पूर्ण निर्ग्रन्थ मुनि होजाता है। फिर केवली होकर स्नातक पदको उल्लंघनकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। अनन्त कालके लिये अपनी परम शुद्ध अभेद नगरीमें वास प्राप्त

होता है अर्थात् धर्म बाधता है यह बात सिद्ध है। कर्मके फलसे मनुष्यादि गति पाकर सांसारिक दुःखसुखको भोगता है। जैसा कर्मका उदय क्षणिक है वैसे ये नरनारकादि पर्यायें भी क्षणिक हैं।

तात्पर्य्य यह है कि संसारका भ्रमण अपने ही मिथ्यात्व व रागादि भावोंकी क्रियाका फल है तथा संसारका नाश होकर परमात्मपदका लाभ वीतरागरूप परमधर्मसे होता है ऐसा जानकर संसारके नाशके लिये वीतराग धर्ममें वर्तन करना योग्य है।

इस कथनसे यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि यह संसारी जीव अनादिकालसे रागादिरूप परिणमन कर रहा है इसीसे नाना प्रकार कर्मबाध देव, मनुष्य, तिर्यञ्च तथा नरक गतिमें बारबार चक्कर लगाया करता है। जब अपने आत्माके श्रद्धान ज्ञान चरित्रमें तन्मई होगा तब आप ही अपने शुद्ध भावोंसे कर्मबंध काटकर मुक्त हो जायगा। यदि यह विभाव और स्वभावरूप परिणमन करनेकी शक्ति न रखता तो न कभी संसारी रहता और न कभी संसारीसे सिद्ध होता। यह भी झलका दिया है कि वीतरागरूप धर्ममें क्रिया करना संसाररूपी कार्य पैदा करनेके लिये निष्फल है।

श्री योगेन्द्रदेवने अमृताशीतिमें बंध मोक्षके सम्बन्धमें अच्छा वर्णन किया है—

इदमिदमतिरम्य नेदमित्यादिभेदा—द्विदधति पदमेते रागरोषादयस्ते ।
तदलममलमेकं निष्कलं निष्क्रियस्सन् भज भजसि समाधे स्वफल...
यन नित्यम् ॥ ८८ ॥

ज्ञानक्रिया प्रवर्तते यावद् द्वैतस्य गोचरं ।
अद्वये निष्फले जाते नि[illegible] क्रिया ॥ ६७ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि प्रासुक आहार आदिमें भी जो ममत्व है वह मुनिपदके भंगका कारण है इसलिये आहारादिमें भी ममत्व न करना चाहिये–

भत्ते वा खवणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा ।
उवधम्मि वा णिबद्ध णेच्छदि समणम्मि विकधम्मि ॥१५॥

भक्ते वा क्षपणे वा आवसथे वा पुनर्विहारे वा ।
उपधौ वा निबद्ध नेच्छति श्रमणे विकथायाम् ॥ १५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थः–साधु (भत्ते) भोजनमें (वा) अथवा (खवणे) उपवास करनेमें (वा आवसधे) अथवा वस्तिकामें (वा विहारे) अथवा विहार करनेमें, (वा उवधम्मि) अथवा शरीर मात्र परिग्रहमें (वा समणम्मि) अथवा मुनियोंमें (पुणो विकधम्मि) या विकथाओंमें (णिबद्ध) ममतारूप सम्बन्धको (णेच्छदि) नहीं चाहता है।

विशेषार्थ–साधु महाराज शुद्धात्माकी भावनाके सहकारी शरीरकी स्थितिके हेतुसे प्रासुक आहार लेते हैं सो भक्त है, इन्द्रियोंके अभिमानको विनाश करनेके प्रयोजनसे तथा निर्विकल्प समाधिमें प्राप्त होनेके लिये उपवास करते हैं सो क्षपण है, परमात्म तत्वकी प्राप्तिके लिये सहकारी कारण पर्वतकी गुफा आदि वसनेका स्थान सो आवसथ है। शुद्धात्माकी भावनाके सहकारी कारण आहार नीहार आदिक व्यवहारके लिये व देशान्तरके लिये विहार करना सो विहार है, शुद्धात्माकी भावनाके सहकारी कारण रूप शरीरको धारण करना व ज्ञानका उपकरण शास्त्र, शौचोपकरण कमंडल, दयाका उपकरण पिच्छिका इनमें ममताभाव सो उपधि है,

कम्म णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥ २६ ॥
कर्म नामसमाख्यं स्वभावमथात्मनः स्वभावेन ।
अभिभूय नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं करोति ॥ २६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ –(अथ) तथा (णामसमक्खं कम्मं) नाम नामका कर्म (सहावेण) अपने कर्म स्वभावसे (अप्पणो सभावं) आत्माके स्वभावको (अभिभूय) ढककर (णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि) उसे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी या देवरूप कर देता है ।

विशेषार्थ –कर्मोंसे रहित परमात्मासे विलक्षण ऐसा जो नाम नामका कर्म जो नामरहित गोत्ररहित परमात्मासे विपरीत है अपने ही सहकारी ज्ञानावरणादि कर्मोंके स्वभावसे शुद्धबुद्ध एक परमात्मस्वभावको आच्छादन कर उसे नर, नारक, तिर्यंच या देवरूपमें कर देता है । यहां यह अर्थ है–जैसे अग्नि कर्ता होकर तेलके स्वभावको तिरस्कार करके बत्तीके आधारसे उस तेलको दीपककी शिखारूपमें परिणमन कर देती है तैसे कर्मरूपी अग्नि कर्ता होकर तेलके स्थानमें शुद्ध आत्माके स्वभावको तिरस्कार करके बत्तीके समान शरीरके आधारसे उसे दीपककी शिखाके समान नर, नारकादि पर्यायोंके रूपमें परिणमन कर देती है । इससे जाना जाता है कि मनुष्य आदि पर्यायें कर्मोंके द्वारा उत्पन्न हैं ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने इस बातको और भी स्पष्ट कर दिया है कि सिद्ध अवस्थाके सिवाय और सर्व संसारीक पर्यायें इस जीवके कर्मोंके उदयसे होती हैं । सिद्धगतिरूप पर्याय जब कर्मोंके क्षयसे होती है तब मनुष्यगति, देवगति, पशुगति तथा

उपाय साधुको करना है। ध्यान व तत्व विचारके लिये जो स्थान उपयोगी हो व जहां ब्रह्मचर्यको दोषित करनेवाले स्त्री पुरुषोंका समागम न हो व पशु पक्षी विकलत्रयोंका अधिक संचार न हो व जहां न अधिक शीत न अधिक उष्णता हो ऐसे सम प्रदेशमें ठहरते हुए भी साधु उसमें मोह नहीं करते। वर्षाकालके सिवाय अधिक दिन नहीं ठहरते। ममता छोड़नेके लिये व ध्यानकी सिद्धिके लिये व धर्म प्रचारके लिये साधुओंको विहार करना उचित है। इस विहार करनेके काममें भी ऐसा राग नहीं करते कि विहारमें नए नए स्थलोंके देखनेसे आनन्द आता है। साधु महाराज मात्र ध्यानकी सिद्धिके मुख्य हेतुसे ही परम वैराग्यभावसे विहार करते रहते हैं। यद्यपि शरीर सिवाय अन्य वस्त्रादि परिग्रहको साधुने त्याग दिया है तथापि शरीर, कमंडल, पीछी, शास्त्रकी परिग्रह रखनी पड़ती है क्योंकि ये ध्यानके लिये सहकारी कारण हैं तथापि साधु इनमें भी ममता नहीं करते। यदि कोई शरीरको कष्ट देवें, पीछी आदि लेलेवे तो ममताभाव रखकर स्वयं सन कुछ सहलेते परन्तु अपने साथ कष्ट देनेवालेपर कुछ भी रोष नहीं करते। धर्मचर्चाके लिये दूसरे साधुओंकी संगति मिलाते हैं तो भी उनमें वे रागभाव नहीं बढ़ाते, केवल शुद्धात्माकी भावनाके अनुकूल वार्तालाप करके फिर अलग२ अपने२ नियत स्थानपर जा ध्यानस्थ व तत्वविचारस्थ हो जाते हैं। यदि कदाचित् कहीं शृंगार व वीर रस आदिकी कथाएं सुन पड़े व प्रथमानुयोगके साहित्यमें शास्त्रोंमें ये कथाएं मिलें व स्वयं काव्य या पुराण लिखते हुए इन कथाओंको लिखें तो भी ~ इनमें रागी नहीं होते वे इनको ~

पर्यायरूप प्रगट होता रहता है। यदि अग्निका सम्बन्ध न हो तो तेल अपने द्रवण व मचिकण स्वभावको बिगाडकर कभी दीपशिखामें परिणमन न करे ऐसे ही जो कर्मोका बन्ध न हो तो कभी आत्मा मनुष्यादि गतियोंको धारण न करे। वास्तवमें पुद्गल कर्म ही भवभवमें जीवको फिरानेवाले है–

श्री समयसारकलशमें श्री अमृतचद्रजी कहते हैं—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये ।
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्य ॥
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध—
चैतन्यधातुमयमूर्तिरय च जीव ॥ १२ ॥

भावार्थ–इस अनादिकालके महान अज्ञानके नाचरूप ससारमे वर्णादिरूप पुद्गल ही नृत्य कररहा है दूसरा कोई नहीं। अर्थात् पुद्गलके निमित्तसे ही जीव ससारचक्रमें घूम रहा है। यदि जीवके यथार्थ स्वभावका विचार करें तो यह जीव रागद्वेषादि पुद्गलके विकारोंसे विरुद्ध शुद्ध चैतन्य धातुकी एक अपूर्व मूर्ति है।

श्री अमितगति आचार्य सुभाषितरत्नसदोहमें कर्मोदयकी महिमा बताते है—

दैवायत्त सर्वं जावस्य सुखासुख त्रिलोकेऽपि ।
बुद्ध्वेति शुद्धधिषणा कुर्वंति मन क्षति नात्र ॥३६७॥

भावार्थ-तीन लोकमें सर्व ही जीवोंके जो कुछ सुख या दुःखकी अवस्था होती है सो सर्व कर्मोके उदयसे होती है, ऐसा जानकर निर्मल बुद्धिवाले कभी मनमें खेद नहीं करते हैं–वस्तुका स्वरूप विचारकर समताभाव रखते है।

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि छद या भग शुद्धात्माकी भावनाका निरोध करनेवाला है।

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाल हिंसा सा संततत्ति मदा ॥ १६ ॥

अप्रयता वा चर्या शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिषु।
श्रमणस्य सर्वकाल हिंसा सा सन्ततेति मता ॥ १६ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(वा) अथवा (समणस्स) साधुकी (सयणासणठाणचंकमादीसु) शयन, आसन, खडा होना, चलना, स्वाध्याय, तपश्चरण आदि कार्योंमें (अपयत्ता चरिया) प्रयत्नरहित चेष्टा अर्थात् कषायरहित स्वसंवेदन ज्ञानसे छूटकर जीवदयाकी रक्षासे रहित सक्लेश भाव सहित जो व्यवहारका वर्तना है (सा) वह (सव्वकाल) सर्वकालमें (संततत्ति हिंसा) निरन्तर होनेवाली हिंसा अर्थात् शुद्धोपयोग लक्षणमई मुनिपदको छेद करनेवाली हिंसा (मदा) मानी गई है ॥

विशेषार्थ-यहां यह अर्थ है कि बाहरी व्यापाररूप शत्रुओंको तो पहले ही मुनियोंने त्याग दिया था परन्तु बैठना, चलना, सोना आदि व्यापारका त्याग हो नहीं सक्ता-इस लिये इनके निमित्तसे अन्तरङ्गमें क्रोध आदि शत्रुओंकी उत्पत्ति न हो-साधुको इन कार्योंमें सावधानी रखनी चाहिये। परिणाममें सक्लेश न करना चाहिये।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने व्रतभगका स्वरूप बताया है। निश्चयसे साधुका शुद्धोपयोगरूपी सामायिकमें वर्तना ही व्रत है। व्यवहारमें अठाईस मूलगुणोंका साधन है। जो मुनि अपने उप-

गए हैं। इस कारण (ते) वे जीव (सकम्माणि परिणममाणा) अपने२ कर्मोंके उदयमें परिणमन करते हुए (लद्धसहावा ण हि) अपने स्वभावको निश्चयसे नहीं प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ-नर, नारक, तिर्यञ्च, देव ये चारों गतिके जीव अपने अपने नर नारकादि गति शरीर आदि रूप नाम कर्मके उदयसे उन पर्यायोंमें उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे अपने२ उदय प्राप्त कर्मोंके अनुसार सुख तथा दुःखको भोगते हुए अपने चिदानन्दमई एक शुद्ध आत्म स्वभावको नहीं पाते हुए रहते हैं। जैसे माणिक्का रत्न सुवर्णके कंकणमें जड़ा हुआ अपने माणिक्यपनेके स्वभावको पूर्णपने नहीं प्रगट करता हुआ रहता है उस समय मुख्यता कंकण-की है, माणिक्य रत्नकी नहीं है, उसी तरह इन नर नारकादि पर्यायोंमें जीवके स्वभावकी मात्र अप्रगटता है। जीवका अभाव नहीं होजाता है। अथवा यह भाव लेना चाहिये कि जैसे जलका प्रवाह वृक्षोंके सींचनेमें परिणमन करता हुआ चंदन नीम आदि वनके वृक्षोंमें जाकर उन रूप मीठा, कडुवा, सुगंधित, दुर्गंधित होता हुआ अपने-जलके कोमल, शीतल, निर्मल स्वभावको नहीं रखता है, उसी तरह यह जीव भी पूर्वोक्त स्थानमें कर्मोंके उदयके अनुसार परिणमन करता हुआ परमानन्दरूप एक लक्षणमई सुखामृतका स्वाद तथा निर्मलता आदि अपने निज गुणोंको नहीं प्राप्त करता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि कर्मोंके उदयके कारणसे जीवका अभाव नहीं होता न उसके भीतर पाए जानेवाले गुणोंका अभाव होता है। कर्मोंके उदयके असरसे वे गुण प्रगट नहीं होते। ये संसारी जीव नामकर्मके उदयसे ही एक

असावधान हो जायगा वह निरन्तर हिंसाका भागी होगा। क्योंकि उसका मन कषायके आधीन हो गया, उसके भावप्राणोंकी हिंसा होचुकी, परन्तु जो कोई भावोंसे वीतरागी है-अपने चलने बैठने आदिके कार्योंमें सावधानीसे वर्तता है, फिर भी अकस्मात् कोई दूसरा जन्तु मरणकर जावे तो वह अप्रमादी जीवहिंसाका भागी नहीं होता है क्योंकि उसने हिंसाके भाव नहीं किये थे किन्तु अहिंसा व सावधानीके भाव किये थे। बाह्य किसी जंतुके प्राण न भी घाते जावें परन्तु जहां अपने भावोंमें रागद्वेषादि विकार होगा वहां अवश्य हिंसा है। वीतरागता होते हुए यदि शरीरकी सावधान चेष्टा-पर भी कोई जंतुके प्राण पीड़ित हो तो वह वीतरागी हिंसा करने-वाला नहीं है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थमें श्री अमृतचंद्र आचार्यने हिंसा व अहिंसाका स्वरूप बहुत स्पष्ट बता दिया है—

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ ४२ ॥
यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥
अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥ ४४ ॥
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ४५ ॥

भावार्थ-जहां आत्माके परिणामोंकी हिंसा है वहीं हिंसा है। अनृत, चोरी, कुशील, परिग्रह ये चार पाप हिंसाहीके उदाहरण हैं। वास्तवमें क्रोधादि कषाय सहित मन, वचन,

फिर जैसाका तैसा समझदार होकर अपना काम करने लगता है। वैसेही अनादिकालसे मोहके नशेमें चूर यह आत्मा अपने विभावमें वर्तन कर रहा है, मोहका नशा उतरते ही अपने स्वभावको प्राप्त कर लेता है। वृत्तिकारने दो दृष्टान्त दिये हैं एक तो माणिक्यका-यह रत्न किसी अगूठीमें जटा हुआ अपने कुछ भागको मात्र छिपा देता है। जब उसको अगूठीसे अलग करें तब फिर यह सर्वांग स्वभावमें झलकता है, इसी तरह कर्म बन्धनमें पडा हुआ यह आत्मा अपने स्वभावको छिपाए रहता है। बन्धके हटने ही स्वभाव जैसेका तैसा प्रगट होजाता है। दूसरा पानीका, कि पानी स्वभावसे शीतल मीठा व निर्मल होता है परन्तु नीममें जाकर अपने स्वभावको छिपाकर कडुवा, नींबूमें जाकर खट्टा, आवलेमें जाकर कषायला, ईखमें जाकर बहुत मीठा इत्यादि रूप हो जाता है। कोई प्रयोग करे तो वही पानी फिर अपने स्वभावमें आसक्ता है। इसी तरह यह ससारी जीव जो स्वभावसे सिद्ध भगवानके समान है कर्मोंके मध्यमें पडा हुआ अज्ञानी व रागी द्वेषी हो रहा है। कर्मोंके संयोगसे दूर होते ही फिर स्वभावमें शुद्ध होजाता है। इससे यही सिद्ध किया गया कि कर्म हमारे स्वभावको तिरस्कार कर देते हैं परन्तु अभाव नहीं कर सके हैं। श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें कहते हैं—कि यह प्राणी अपनी भूलसे ही ससारमें भ्रमण कर रहा है।

> ममेदमहं ममेत्यस्मा भ्रान्तो भ्रान्तो भवार्णवे ।
> नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽन्योऽहमस्मि न ॥ २४३ ॥
>
> तस्मादद देहसयोग ज्ञ बालत्वगमात् ।
> दह दह परित्यज्य शीतीभूता शिवैषिणा ॥ २५४ ॥

भावार्थ—यह जिनआगमका बढ़िया रहस्य चित्तमें धारलो कि जहां रागादिकी उत्पत्ति है वहां हिंसा है तथा जहां २ इनकी प्रगटता नहीं है वहां अहिंसा है॥ १६॥

उत्थानिका—आगे हिंसाके दो भेद हैं अन्तरङ्ग हिंसा और बहिरङ्ग हिंसा। इसलिये छेद या भङ्ग भी दो प्रकार है ऐसा व्याख्यान करते हैं—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामेत्तेण समिदीसु॥ १७॥
म्रियतां वा जीवतु वा जीवोऽयताचारस्य निश्चिता हिंसा।
प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितिषु॥ १७॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जीवो मरदु व जियदु) जीव मरो या जीता रहो (अयदाचारस्स) जो यत्न पूर्वक आचरणसे रहित है उसके (णिच्छिदा हिंसा) निश्चय हिंसा है (समिदीसु) समितियोंमें (पयदस्स) जो प्रयत्नवान है उसके (हिंसामेत्तेण) द्रव्य प्राणोंकी हिंसा मात्रसे (बन्धो णत्थि) बन्ध नहीं होता है।

विशेषार्थ—बाहरमें दूसरे जीवका मरण हो या मरण न हो जब कोई निर्विकार स्वसंवेदन रूप प्रयत्नसे रहित है तब उसके निश्चय शुद्ध चैतन्य प्राणका घात होनेसे निश्चय हिंसा होती है। जो कोई भले प्रकार अपने शुद्धात्मस्वभावमें लीन है, अर्थात् निश्चय समितिको पाल रहा है तथा व्यवहारसे ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, प्रतिष्ठापना इन पांच समितियोंमें सावधान है अन्तरङ्ग [illegible]ङ्ग प्रयत्नवान है, प्रमादी नहीं है उसके

जायदि णेव ण णस्सदि, खणभंगसमुब्भवे जणे कोई ।
जो हि भवो सो विलओ, संभवविलयत्ति ते णाणा ॥२८॥

जायते नैव न नश्यति क्षणभंगसमुद्भवे जने कश्चित् ।
यो हि भवः सो विलयः संभवविलयाविति तौ नाना ॥२८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(खणभंगसमुब्भवे जणे) क्षण क्षणमें नाश होनेवाले लोकमें (कोई णेव जायदि ण णस्सदि) कोई जीव न तो उत्पन्न होता है और न नाश होता है । कारण (जो हि भवो सो विलओ) जो निश्चयसे उत्पत्ति रूप है वही नाश रूप है । (ते संभव विलयत्ति णाणा) वे उत्पाद और नाश अवश्य भिन्न २ हैं ।

विशेषार्थ—क्षण क्षणमें जहां पर्यायार्थिक नयसे अवस्थाका नाश होता है ऐसे इस लोकमें कोई भी जीव द्रव्यार्थिक नयसे न नया पैदा होता है न पुराना नाश होता है । इसका कारण यह है कि द्रव्यकी अपेक्षा जो निश्चयसे उपजा है वही नाश हुआ है। जैसे मुक्त आत्माओंका जो ही सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानादिरूप मोक्षकी अवस्थामें उत्पन्न होना है सो ही निश्चय रत्नत्रयमई निश्चय मोक्ष मार्गकी पर्यायकी अपेक्षा विनाश होना है । वे मोक्ष पर्याय और मोक्ष मार्ग पर्याय यद्यपि कार्य और कारण रूपसे परस्पर भिन्न २ हैं तथापि इन पर्यायोंका आधार रूप जो परमात्मा द्रव्य है सो वही है अन्य नहीं है । अथवा जैसे मिट्टीके पिंडके नाश होते हुए और घटके बनते हुए इन दोनोंकी आधारभूत मिट्टी वही है । अथवा मनुष्य पर्यायको नष्ट होकर देव पर्यायको पाते हुए इन दोनोंका आधार रूप संसारी जीव द्रव्य वही है ।

व्युत्थानावस्थायाम् रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥ ४६ ॥
यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ ४७ ॥

भावार्थ–जब रागादिके वश प्रवृत्ति करनेमे प्रमाद अवस्था होगी तब कोई जीव मरो या न मरो निश्चयसे हिंसा आगे २ दौडती है क्योंकि कषाय सहित होता हुआ यह आत्मा पहले अपने हीसे अपना घात कर लेता है, पीछे अन्य प्राणियोंकी हिंसा हो अथवा न हो ॥ १७ ॥

उत्थानिका–आगे इसी ही अर्थको दृष्टान्त दार्ष्टान्तसे दृढ करते हैं।

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।
आबाधेज्ज कुलिंग मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥ १८ ॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहमो य देसिदो समये ।
मुच्छापरिग्गहोच्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ॥ १९ ॥

उच्चालिते पादे ईर्यासमितस्य निर्गमस्थाने ।
आबाध्येत कुलिंग म्रियतां वा तं योगमाश्रित्य ॥ १८ ॥
नहि तस्य तन्निमित्तो बंधः सूक्ष्मोऽपि देशितः समये ।
मूर्छापरिग्रहश्चैव अध्यात्मप्रमाणतः दृष्टः ॥१९॥ (युग्मम्)

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(इरियासमिदस्स) ईर्या समितिमे चलनेवाले मुनिके (णिग्गमत्थाए) किसी स्थानसे जाते हुए (उच्चालियम्हि पाए) अपने पगको उठाते हुए (तं जोगमासेज्ज) उस पगके संघट्टनके निमित्तसे (कुलिंग) कोई छोटा जंतु (आबाधेज्ज) बाधाको पावे (मरिज्ज) वा मर जावे (तस्स) उस साधुके

त्रीन्द्रिय, चौन्द्रिय, पचेंद्रियरूप तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारकीकी पर्यायोंमें अनन्तवार उत्पन्न होकर मरा है वही जीव इस समय इस मेरी मनुष्यपर्यायमें है। यहा भी यह बाल अवस्थासे बदलता युवा वस्थामें आता है फिर युवावस्थासे वृद्धावस्थामें समय समय बदलता जारहा है। इसकी हरएक पर्याय क्षणभगुर है जब कि जीव नित्य है। मोक्षपर्याय या सिद्धपर्याय जब पैदा होती है तब ही ससार पर्याय जो चौदहवें अयोग केवली गुणस्थानके अत समयमें जहा शेष तेरह प्रकृतियें नाश होती हैं–समाप्त होती है। अर्थात् मोक्षमार्ग बदलकर मोक्षरूप पर्याय हो जाती है। पुद्गलमें यदि सुवर्ण धातुको द्रव्य माना जावे तो उस सुवर्णके पहले कड़े बनाओ, फिर तोडकर भुजबध बनाओ फिर मुद्रिका बनाओ इत्यादि चाहे जितनी अवस्थाओंमें बदलो वह सुवर्णका सुवर्ण ही रहेगा। सुवर्णकी अपेक्षासे नित्य है यद्यपि अपनी अवस्थाको बदलनेकी अपेक्षा अनित्य है। द्रव्यकी अपेक्षा हरएक द्रव्यकी पर्यायमें एकता है जब कि पर्यायकी अपेक्षा अनेकता या भिन्नता है। ऐसा ही जगतका स्वभाव है। यह पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। जो कुछ रचना नगर मकान, कपडे, बर्तन आदिकी व चेतन पुरुष, स्त्री, घोड़ा, हाथी, उट, बदर, आदिकी देख रहे हैं सो सब क्षणभगुर हैं–इन अवस्थाओंको नित्य मानना अज्ञान है व इनके मोहमें फस जाना मूढता या मिथ्यात्व है। मोही प्राणी इन ही अवस्थाओंमें राग करके इनका बना रहना चाहता है परन्तु वे एकसी रह नहीं सक्ती हैं–अवश्य बदल जाती हैं तब इस मोहीको महा कष्ट होता है। एक गृहस्थ अपनी पत्नीके शरीरकी सुन्दरतासे अधिक मोह कर रहा

निर्मीके वाहरी पदार्थ बहुत अल्प होनेपर भी तीव्र मूर्छा है। किसीके बाहरी पदार्थ बहुत अधिक होनेपर भी अल्प मूर्छा है-जितना ममत्व होगा उतना परिग्रह जानना चाहिये। इसी तरह जैसा हिंसात्मक भाव होगा वैसा बन्ध पडेगा। अहिंसामई भावोंसे कभी बन्ध नहीं हो सक्ता। श्री अमृतचन्द्र आचार्यने समयसारकलशमें कहा है-

लोक कर्म्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मक कर्म्मतत्-
स्तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादन चास्तु तत्।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन्‌ ज्ञान भवेत् केवल,
बन्ध नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुव ॥ ३ ॥

भावार्थ-लोक कार्मणवर्गणाओसे भरा रहो, हलनचलनरूप योगोंका कर्म भी होता रहो, हाथपग आदि कारणोंका भी व्यापार हो व चेतन्य व अचेतन्य प्राणीका घात भी चाहे हो परन्तु यदि ज्ञान रागद्वेषादिको अपनी उपयोगकी भूमिमें न लावे तो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी निश्चयसे कभी भी बन्धको प्राप्त न होगा।

भाव यही है कि बाहरी क्रियासे बन्ध नहीं होता, बन्ध तो अपने भीतरी भावोंसे होता है।

श्री समयसारजीमें भी कहा है-

वत्थु पडुच्च त पुण अज्झवसाण तु होदि जीवाण।
ण हि वत्थुदोदु बधो अज्झवसाणेण बधोत्ति ॥ २७७ ॥

भावार्थ-यद्यपि बाहरी वस्तुओंका आश्रय लेकर जीवोंके रागादि अध्यवसान या भाव होता है तथापि बन्ध वस्तुओंके अधिक या कम सम्बधसे नहीं, किन्तु रागादि भावोंसे ही बन्ध होता है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे श्री अमृतचदजी कहते है

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति ससारे ।
ससारो पुण किरिया ससरमाणस्स दव्वस्स ॥ २९ ॥

तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति ससारे ।
संसार पुन क्रिया ससरतो द्रव्यस्य ॥ २९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(तम्हा दु) इसी कारणसे (ससारे) इस ससारमें (कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति णत्थि) कोई वस्तु स्वभावसे थिर नहीं है। (पुण) तथा (ससरमाणस्स दव्वस्स) भ्रमण करते हुए जीव द्रव्यकी (किरिया) क्रिया (ससारो) ससार है।

विशेषार्थ–जैसा पहले कह चुके है कि मनुष्यादि पर्यायें नाशवन्त है इसी कारणसे ही यह बात मानी जाती है कि जैसे परमानन्दमई एक लक्षणधारी परम चैतन्यके चमत्कारमे परिणमन करता हुआ शुद्धात्माका स्वभाव थिर है, वैसा नित्य कोई भी जीव पदार्थ इस ससार रहित शुद्धात्मासे विपरीत ससारमें नित्य नही है। तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावके धारी मुक्तात्मासे विलक्षण ससारमे भ्रमण करते हुए इस ससारी जीवकी जो क्रिया रहित और विकल्प रहित शुद्धात्माकी परिणतिसे विरुद्ध मनुष्यादि रूप विभाव पर्यायमे परिणमन रूप क्रिया है सो ही ससारका स्वरूप है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यादि पर्यायस्वरूप ससार ही जगतके नाशमें कारण है।

भावार्थ–पहले कह चुके है कि इस जगतमे द्रव्य दृष्टिसे पदार्थ नित्य हैं परतु पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य है। इसी बातसे यह फल निकाला जाता है कि इस चतुर्गतिमे भ्रमण रूप ससारमें कोई भी जीव अपने स्वभावमे स्थिर नहीं है। वास्तवमें ससार

रता हुआ भी यद्यपि बाहरमें कुछ द्रव्य हिंसा है तौ भी उसके निश्चय हिंसा नहीं है। इस कारण सर्व तरहसे प्रयत्न करके शुद्ध परमात्माकी भावनाके बलसे निश्चय हिंसा ही छोडनेयोग्य है।

भावार्थ—यहा आचार्यने अन्तरंग हिंसाकी प्रधानतासे उपदेश किया है कि शुद्धोपयोग या शुद्धात्मानुभूति या वीतरागता अहिंसक भाव है और इस भावमें रागद्वेषकी परिणति होना ही हिंसा है। जो साधु वीतरागी होते हैं वे चलने, बैठने, उठने सोने, भोजन करने आदि क्रियाओंमें बहुत ही यत्नसे वर्तते हैं—सर्व जतुओंको अपने समान जानते हुए उनकी रक्षामें सदा प्रयत्नशील रहते हैं उन साधुओंके भावोंमें छेद या भंग नहीं होता। अर्थात् उनके हिंसक भाव न होनेसे वे हिंसा सम्बन्धी कर्मबंधसे लिप्त नहीं होते हैं उसी तरह जिस तरह कमल जलके भीतर रहता हुआ भी जलसे स्पर्श नहीं किया जाता। यद्यपि इस सूक्ष्म, बादर छः कायोंसे भरे हुए लोकमें विहार व आचरण करते हुए कुछ बाहरी प्राणियोंका घात भी हो जाता है तौभी जिसका उपयोग हिंसकभावसे रहित है वह हिंसाके पापको नहीं बांधता, परन्तु जो साधु प्रयत्न रहित होते हैं, प्रमादी होते हैं उनके बाहरी हिंसा हो व न हो वे छः कायोंकी हिंसाके कर्ता होते हुए हिंसा सम्बन्धी बंधसे लिप्त होते हैं। यहां यह भाव झलकता है कि मात्र परप्राणीके घात होजानेसे बन्ध नहीं होता। एक दयावान प्राणी दयाभावसे भूमिको देखते हुए चल रहा है। उसके परिणामोंमें यह है कि मेरे द्वारा किसी जीवका घात न हो ऐसी दशामें बादर पृथ्वी, वायु आदि प्राणियोंका घात शरीरकी चेष्टासे हो भी जावे तौ भी बद्ध-भाव हिंसाके

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति ससारे।
ससारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥ २९ ॥
तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति ससारे।
ससार पुन क्रिया ससरतो द्रव्यस्य ॥ २९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(तम्हा दु) इसी कारणसे (ससारे) इस ससारमें (कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति णत्थि) कोई वस्तु स्वभावसे थिर नहीं है। (पुण) तथा (ससरमाणस्स दव्वस्स) भ्रमण करते हुए जीव द्रव्यकी (क्रिया) क्रिया (ससारो) ससार है।

विशेषार्थ–जैसा पहले कह चुके हैं कि मनुष्यादि पर्यायें नाशवन्त हैं इसी कारणसे ही यह बात जानी जाती है कि जैसे परमानन्दमई एक लक्षणधारी परम चैतन्यके चमत्कारमें परिणमन करता हुआ शुद्धात्माका स्वभाव थिर है, वैसा नित्य कोई भी जीव पदार्थ इस ससार रहित शुद्धात्मासे विपरीत ससारमे नित्य नहीं है। तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावके धारी मुक्तात्मासे विलक्षण ससारमें भ्रमण करते हुए इस ससारी जीवकी जो क्रिया रहित और विकल्प रहित शुद्धात्माकी परिणतिसे विरुद्ध मनुष्यादि रूप विभाव पर्यायमें परिणमन रूप क्रिया है सो ही ससारका स्वरूप है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यादि पर्यायस्वरूप ससार ही जगतके नाशमें कारण है।

भावार्थ–पहले कह चुके हैं कि इस जगतमें द्रव्य दृष्टिसे पदार्थ नित्य हैं परन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य है। इसी बातसे यह फल निकाला जाता है कि इस चतुर्गतिमें भ्रमण रूप ससारमें कोई भी जीव अपने स्वभावमें स्थिर नहीं है। वास्तवमें ससार

जैन सिद्धान्तमें कर्मका बन्ध प्राकृतिक रूपसे होता है। क्रोध मान माया लोभ कषाय हैं इनकी तीव्रतामें अशुभ उपयोग होता है। यही हिंसक भाव है। बस यह भाव पाप कर्मका बन्ध करनेवाला है।

जब इस जीवके रक्षा करनेका भाव होता है तब उसके पुण्य कर्मका बन्ध होता है तथा जब शुभ अशुभ विकल्प छोड़कर शुद्ध भाव होता है तब पूर्व बद्ध कर्मकी निर्जरा होती है। कषाय बिना स्थिति व अनुभाग बन्ध नहीं होता है इसलिये पाप पुण्यका बन्ध बाहरी पदार्थोंपर व क्रियापर अवलंबित नहीं है। यदि कोई यत्नाचार पूर्वक जीवदयामें कोई आरम्भ कर रहा है तब उसके परिणामोंमें जो रक्षा करनेका शुभ भाव है वह पुण्य कर्मको बन्ध करेगा। यद्यपि उस आरम्भमें कुछ जन्तुओंका वध भी हो जावे तो भी उस दयावानके वध करनेके भाव न होनेसे हिंसा सम्बन्धी पापका बन्ध न होगा।

यदि कोई वैद्य किसी रोगीको रोग दूर करनेके लिये उसके मन अनुकूल न चलकर उसको कष्ट दे करके भी उसकी भलाईके प्रयत्नमें लगा है, उसकी चीर फाड भी करता है तो भी वह अपने भावोंमें रोगीके अच्छा होनेका भाव रखने हुए पुण्य कर्म तो बांधेगा परन्तु पाप नहीं बांधेगा। यद्यपि बाहरमें उसके प्राणपीडन रूप हिंसा हुई तो भी वह हिंसा नहीं है।

यदि एक राजा अपने न्यायवान चाकरोंको हिंसा करनेकी आज्ञा देता है और चाकरगण अपनी निन्दा करते हुए हिंसा कर रहे हैं, परन्तु राजा [illegible] अनुरूप भाव करता है तो भी

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति ससारे ।
ससारो पुण किरिया ससरमाणस्स दव्वस्स ॥ २९ ॥

तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति ससारे ।
ससार पुन क्रिया ससरतो द्रव्यस्य ॥ २९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(तम्हा दु) इसी कारणसे (ससारे) इस ससारमें (कोई सहावसमवट्ठिदोत्ति णत्थि) कोई वस्तु स्वभावसे थिर नहीं है। (पुण) तथा (ससरमाणस्स दव्वस्स) भ्रमण करते हुए जीव द्रव्यकी (क्रिया) क्रिया (ससारो) ससार है।

विशेषार्थ-जैसा पहले कह चुके हैं कि मनुष्यादि पर्यायें नाशवन्त हैं इसी कारणसे ही यह बात जानी जाती है कि जैसे परमानन्दमई एक लक्षणधारी परम चैतन्यके चमत्कारमें परिणमन करता हुआ शुद्धात्माका स्वभाव थिर है, वैसा नित्य कोई भी जीव पदार्थ इस ससार रहित शुद्धात्मासे विपरीत ससारमें नित्य नहीं है। तथा विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावके धारी मुक्तात्मासे विलक्षण ससारमें भ्रमण करते हुए इस ससारी जीवकी जो क्रिया रहित और विकल्प रहित शुद्धात्माकी परिणतिसे विरुद्ध मनुष्यादि रूप विभाव पर्यायमें परिणमन रूप क्रिया है सो ही ससारका स्वरूप है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यादि पर्यायस्वरूप ससार ही जगतके नाशमें कारण है।

भावार्थ-पहले कह चुके हैं कि इस जगतमें द्रव्य दृष्टिसे पदार्थ नित्य हैं परतु पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य है। इसी बातसे यह फल निकाला जाता है कि इस चतुर्गतिमें भ्रमण रूप ससारमें कोई भी जीव अपने ... स्थिर नहीं है। वास्तवमें ससार

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥८३॥

भावार्थ-दो आदमियोंने साथ साथ किसी हिंसाकी क्रिया है। एकको वह तीव्र फलको देती है दूसरेको वही हिंसा अल्प फल देती है। जैसे दो आदमियोंने मिलकर एक पशुका बध किया। इनमेंसे एकके बहुत कठोर भाव थे। इससे उसने तीव्र पाप बांधा। दूसरेके भावोंमें इतनी कठोरता न थी, वह जीवदयाको अच्छा मानता था, परन्तु उस समय उस मनुष्यकी बातोंमें आकर उसका साथ शामिल हो गया इसलिए दूसरा पहलेकी अपेक्षा कम कर्मबंध करेगा।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥ ८४ ॥

भावार्थ किसी जीवने एक पशुकी रक्षा की। दूसरा देखकर यह विचारता है कि मैं तो कभी नहीं छोडता—अवश्य मार डालता। बस ऐसा जीव अहिंसासे हिंसाके फलका भागी हो जाता है। कोई जीवकी हिंसाके द्वारा अहिंसाके फलका भागी हो जाता है जैसे कोई किसीको सता रहा है दूसरा देखकर करुणाबुद्धि ला रहा है बस इसके अहिंसाका फल प्राप्त होगा अथवा लोगोंके जो दृष्टांत यह भी हो सकते हैं कि किसीने किसीको कालान्तरमें भारी कष्ट देनेके लिये अभी किसी दूसरेके आक्रमणसे उसको बचालिया। यद्यपि वर्तमानमें अहिंसा की परन्तु हिंसात्मक भावोंसे वह हिंसाके फलका भागी ही होगा। तथा कोई किसीको किसी अपराधके कारण इसलिये दण्ड [illegible] यह सुधर जाने व धर्म मार्गपर चले ऐसी स्थिति [illegible] हुए भी वह अहिंसाके फलका भागी

जो भाव कर्म या सराग परिणाम सो ही द्रव्य कर्मोंका कारण होनेसे उपचारसे कर्म कहलाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि राग आदि परिणाम ही कर्म बधका कारण है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने ससारके जीवको बताया है। यह आत्मा इस अनादि अनन्त जगतमें यद्यपि अपने स्वभावकी अपेक्षा निश्चय नयसे सिद्ध परमात्माके समान शुद्ध बुद्ध आनन्दमई तथा कर्मबधसे रहित है तथापि अपने विभावकी अपेक्षा व्यवहार नयसे अनादि कालसे ही प्रवाहरूप कर्मोंसे मैला चला आरहा है । कभी शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ ऐसा कभी नहीं होसक्ता है । शुद्ध सुवर्ण अशुद्ध नहीं होसक्ता वैसे ही मुक्तात्मा या परमात्मा कभी अशुद्ध अथवा ससारी नहीं होसक्ता । इस ससारी आत्माके ज्ञानावरण आदि आठ कर्मका बन्ध होरहा है । और इन्हीं कर्मोंके उदय या फलसे यह ससारी जीव देव, मनुष्य, पशु या नरक इन चार गतियोंमेंसे किसी न किसी गतिमें अवश्य रहता है । वहा जैसे बाहरी निमित्त होते हैं उनके अनुकूल यह मोही जीव रागद्वेष मोह भाव करता है । यह रागद्वेष मोह भाव भी मोह कर्मके असरसे होता है । यह अशुद्ध भाव उसी समय द्रव्य कर्म वर्गणाओंको आश्रव रूप करके आत्माके प्रदेशोंसे उनका एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध करा देता है । यह निमित्त नैमित्तिक सबध है । जैसे अग्निकी उष्णताका निमित्त पाकर जल स्वय भापकी दशामें बदल जाता है ऐसे ही जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर कर्म वर्गणाए स्वय आकर कभी आठ कर्म रूपसे व कभी सात कर्म रूपसे बध जाती है ।

परिग्रहका त्याग साधु क्यों करते हैं इसका हेतु यह बताया है कि बिना इच्छाके बाहरी क्षेत्र वास्तु, धन, धान्य, वस्त्रादि वस्तुओंको कौन रख सक्ता है उठा सक्ता है व लिये २ फिर सक्ता है। अर्थात् इच्छाके बिना परद्रव्यका सम्बन्ध हो ही नहीं सक्ता। इसलिये इच्छाका कारण होनेसे साधुओंने दीक्षा लेते समय सर्व ही बाह्य दस प्रकार परिग्रहका त्याग कर दिया। तथा अन्तरङ्ग चौदह प्रकार भाव परिग्रहसे भी ममत्व छोड दिया अर्थात् मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुवेद, नपुंसकवेदमें भी अत्यन्त उदासीन होगए। जहां इन २४ प्रकारकी परिग्रहका सम्बन्ध है वहां अवश्य बन्ध होगा।

यद्यपि शरीर भी परिग्रह है परन्तु शरीरका त्याग हो नहीं सक्ता। शरीर आत्माके रहनेका निवासस्थान है तथा शरीर संयम व तपका सहकारी है। मनुष्य देहकी सहाय बिना चारित्र व ध्यानका पालन हो नहीं सक्ता इसलिये उसके सिवाय जिन जिन पदार्थोंको जन्मनेके पीछे माता पिता व जनसमूहके द्वारा पाकर उनको अपना मानकर ममत्व किया था उनका त्याग देना शक्य है इसीलिये साधु वस्त्रमात्रका भी त्याग कर देते हैं। क्योंकि एक लंगोटीकी रक्षा भी परिणामोंमें ममता उत्पन्न कर बन्धका कारण होती है।

अन्तरङ्ग भावोंका त्यागना यही है कि मैं इन मिथ्यात्व व क्रोधादिकोंको परभाव मानता हूं-इनसे भिन्न अपना शुद्ध चेतन्य भाव है ऐसा निश्चय करता हूं। तथा साधु अंतरंगमें क्रोधादि न उपज आवें इस बातकी पूर्ण सम्हाल रखता है।

अपने परमाणोंका ही करनेवाला होसक्ता है-वह कभी भी ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मका कर्ता नहीं है क्योंकि आत्मा चैतन्यमई है जब कि द्रव्य कर्म पुद्गलके रचे हुए हैं। हरएक द्रव्य अपने स्वभावमें ही क्रिया या परिणमन कर सक्ता है और जो परिणमन होता है उसीको उस परिणमन रूप क्रियाका कर्म कहते हैं। जैसे जीवके रागादि भावोंका निमित्त पाकर पुद्गलमई कार्माण वर्गणा ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म रूप स्वय अपनी परिणमन शक्तिसे परिणमन कर जाती है वैसे ही मोहनीय कर्मके उदयके असरके निमित्तसे जीवका उपयोग राग द्वेष मोह रूप परिणमन कर जाता है। इसलिये अशुद्ध उपादान या अशुद्ध निश्चय नयसे इन रागादि भावोंको जीवके परिणाम कहते हैं-ये ही भाव जीवकी अशुद्ध परिणमन क्रियासे उत्पन्न हुए भाव कर्म हैं। यदि शुद्ध उपादान या शुद्ध निश्चय नयसे विचार करें तो यह आत्मा कर्मके उदयके निमित्तकी अपेक्षा विना अपने शुद्ध उपयोगका ही करनेवाला है। वास्तवमें आत्मामें दो प्रकारके भावोंके होनेकी शक्ति है-एक अपने स्वाभाविक भाव, दूसरे नैमित्तिक या वैभाविक भावकी। जब ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयका निमित्त होता है तब वैभाविक भाव रूप कर्म होता है और जब कर्मोंका निमित्त नहीं होता तब स्वाभाविक ज्ञानानंद मई भावरूप कर्म होता है। यदि साख्यमतके अनुसार ऐसा माना जावे कि आत्मा सदा ही शुद्ध रहता है-उसमें नैमित्तिक भाव नहीं होता है तो आत्माके लिये संसारको दूरकर मोक्ष प्राप्त करनेका प्रयत्न निष्फल हो जायगा। कूटस्थ नित्य पदार्थमें किसी तरहका परिणमन नहीं होसक्ता है। सो यह बात द्रव्यके स्वभावके विरुद्ध है,

परिमुच्य करणगोचरमरीचिकामुज्झिताखिलारम्भः ।
त्याज्य ग्रन्थमशेषं त्यक्त्वा परनिर्ममः स्वशर्म भजेत् ॥ १०६ ॥

भावार्थ—साधुको कर्तव्य है कि वह इंद्रियसुखको मृगतृष्णाके समान जानके छोडदे व सर्व प्रकार आरम्भका त्याग करदे और सर्व धनधान्यादि परिग्रहको छोडकर जिस शरीरको छोड़ नहीं सक्ता उसमें ममता रहित होकर आत्मीकसुखका भोग करे। शास्त्रमें शुद्धोपयोगकी परिणतिके लिये परकी अभिलाषाका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि निज भावोंकी भूमिकाको परम शुद्ध रखना ही बन्धके अभावका हेतु है ॥ २१ ॥

इस तरह भाव हिंसाके व्याख्यानकी मुख्यतासे पाचवें स्थलमें छ गाथाए पूर्ण हुईं। इस तरह पहले कहे हुए क्रमसे—"एव पणमिय सिद्धे" इत्यादि २१ इक्कीस गाथाओंसे ९ स्थलोंके द्वारा उत्सर्गचारित्रका व्याख्याननामा प्रथम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—अब आगे चारित्रका दशकालकी अपेक्षासे अपहृत सयमरूप अपवादपना समझानेके लिये पाठके क्रमसे ३० तीस गाथाओंमे दूसरा अन्तराधिकार प्रारम्भ करते हैं। इसमें चार स्थल हैं।

पहले स्थलमें निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गकी स्थापनाकी मुख्यतासे "णहि णिरवेक्खो चाओ" इत्यादि गाथाए पाच हैं। इनमेंसे तीन गाथाए श्री अमृतचन्द्रकृत टीकामें नहीं हैं। फिर सर्व पापके त्यागरूप सामायिक नामक सयमके पालनेमें असमर्थ यतियोंके लिये सयम, शौच व ज्ञानका उपकरण होता है। इसके निमित्त अपवाद व्याख्यानकी मुख्यतासे "छेदो जेण ण विज्जदि" इत्यादि सूत्र

इस लिये ध्यान करनेवालोंको उचित है कि वे इन कामादि भाव कर्मोंको दूरसे ही त्याग देवें। और भी कहा है–

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाऽधिकश्रीरहं ।
मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहमग्रणी ॥
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पना।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैःश्रेयसी श्रीर्यतः ॥ ६२ ॥

भावार्थ–हे आत्मन्! तू सर्वथा पापकर्मको लानेवाली इस कल्पनाको छोड कि मैं शूर हूं, सुबुद्धि हूं, चतुर हूं, महान् लक्ष्मी-वान हूं, मान्य हूं, गुणवान हूं, समर्थ हूं, सब पुरुषोंमें मुख्य हूं और निरन्तर उस निर्मल आत्म-तत्वका ध्यान कर जिससे सदा मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ॥ ३१ ॥

इस तरह रागादि भाव कर्मबंधके कारण हैं, उन्हींका कर्ता जीव है, इस कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओंमें तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जिस परिणामसे आत्मा परिणमन करता है वह परिणाम क्या है–

परिणमदि चेयणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा ।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥३२॥

परिणमति चेतनया आत्मा पुन: चेतना त्रिधाभिमता ।
सा पुन: ज्ञाने कर्मणि फले वा कर्मणो भणिता ॥ ३२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(आदा) आत्मा (चेयणाए) चेतनाके स्वभाव रूपमें (परिणमदि) परिणमन करता है (पुण) तथा (चेदणा तिधा अभिमदा) वह चेतना तीन प्रकार मानी

विशेषार्थ—यदि साधु सर्वथा ममता या इच्छा त्यागकर सर्व परिग्रहका त्याग न करे किन्तु यह इच्छा रक्खे कि कुछ भी वस्त्र या पात्र आदि रख लेने चाहिये, तो अपेक्षा सहित परिणामोंके होनेपर उस साधुके चित्तकी शुद्धि नहीं हो सक्ती है। जब जिस साधुका चित्त शुद्धात्माकी भावना रूप शुद्धिसे रहित होगा उस साधुके कर्मोंका क्षय होना किस तरह उचित होगा अर्थात् उसके कर्मोंका नाश नहीं होसक्ता है।

इस कथनसे यह भाव प्रगट किया गया है कि जैसे बाहरका तुष रहते हुए चावलके भीतरकी शुद्धि नहीं की जासक्ती। इसी तरह विद्यमान परिग्रहमें या अविद्यमान परिग्रहमें जो अभिलाषा है उसके होते हुए निर्मल शुद्धात्माके अनुभवको करनेवाली चित्तकी शुद्धि नहीं की जासक्ती है। जब विशेष वैराग्यके होनेपर सर्व परिग्रहका त्याग होगा तब भावोंकी शुद्धि अवश्य होगी ही, परन्तु यदि प्रसिद्धि, पूजा या लाभके निमित्त त्याग किया जायगा तौभी चित्तकी शुद्धि नहीं होगी।

भावार्थ—जिसके शरीरसे पूर्ण ममता हट जायगी वही [illegible] लिंग धारण कर सक्ता है। इस निर्ग्रथ लिंगमें [illegible] है। जैसे बालक जन्मते समय शरीरके सिवाय [illegible] षण नहीं रखता है वैसे साधु नग्न होजाता है। [illegible] रहते हुए शीत, उष्ण, वर्षा डांस, मच्छर, [illegible] होनेको सहता हुआ अपने आत्मबलमें [illegible] है। जिसके ममत्व या इच्छा मिट [illegible]

मानते हैं वे साधु किस तरह संयमकी घात करनेवाली किसी परिग्रहको ग्रहण कर सके हैं।

श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं—

रागादिवर्द्धनं सङ्गं परित्यज्य दृढव्रता ।
धीरा निर्मलचेतस्का तपस्यन्ति महाधिय । २२३ ।
ससारोद्विग्नचित्तानां नि श्रेयससुखैषिणाम् ।
सर्वसङ्गनिवृत्तानां धन्यं तेषां हि जीवितम् ॥ २२४ ॥

भावार्थ—महा बुद्धिमान, दृढव्रती, धीर और निर्मल चित्तधारी साधु रागद्वेषादिको बढानेवाली परिग्रहको त्यागकर तपस्या करते हैं। जिनका चित्त ससारमें वैरागी है, जो मोक्षके आनदके पिपासु हैं जो सर्व परिग्रहसे अलग हैं उनका जीवन धन्य है॥२२

उत्थानिका—आगे इसी परिग्रहके त्यागको दृढ करते हैं।

गेण्हदि व चेलखडं भायणमत्थित्ति भणिदमिह सुत्ते।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो ॥ २३ ॥
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥ २४ ॥
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसइ जयं तु आदवे खित्ता।
पत्थं च चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि ॥ २५ ॥

गृह्णाति वा चेलखडं भाजनमस्तीति भणितमिह सूत्रे।
यदि सो त्यक्तालम्बो भवति कथं वा अनारंभ ॥ २३
वस्त्रखडं दुग्धिकाभाजनमन्यच्च गृह्णाति नियतं।
विद्यते प्राणारंभो विक्षेपो तस्य चित्ते ॥ २४
गृह्णाति विधुनोति धौति शोषयति यत्नं तु आतपे क्षिप्त्वा।
पात्रं च चेलखंडं बिभेति परतश्च पालयति ॥ २५

या दुःखका अनुभव किया जावे सो कर्मफल चेतना है। यहां कर्मके तीन भेद किये गए हैं--एक अशुभोपयोगरूप कर्म जिसका फल नारक, पशु, मनुष्यादि गतियोंमें दुःखोंका भोगना है, दूसरा शुभोपयोग रूप कर्म जिसका फल पशु, मनुष्य या देवगतिमें पंचेन्द्रियोंके भोगोंको यथासम्भव भोगकर इन्द्रियजनित सुखका भोगना है। तीसरा आत्माका अनुभव रूप शुद्धोपयोग कर्म है इसका फल परमानन्दमई आत्मीक अतींद्रिय सुखका भोगना है। इस तरह जैसे कर्मचेतना तीन प्रकार है वैसे कर्मफल चेतना भी तीन प्रकार है।

इस तरह यह बात समझमें आती है कि ज्ञान चेतना उन्हींको है जिनको शुद्धोपयोगका फलरूप परमात्मपद प्राप्त हो गया है। वहां मन, वचन, कायके व्यापार बुद्धिपूर्वक नहीं होते हैं। सिद्ध भगवानके तो मन वचन कायका सम्बन्ध ही नहीं है तथा अरहंत भगवानके यद्यपि मन वचन कायका सम्बन्ध है तथा सयोग अवस्थामें उनका परिणमन भी है तथापि वह बुद्धिपूर्वक नहीं है इसीसे अर्हंत और सिद्ध भगवानके कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना नहीं है किन्तु एक मात्र ज्ञान चेतना है। परमात्म प्रभु विना जाननेका विकल्प उठाए स्वभावसे ही स्वपरके ज्ञाता होकर परम वीतराग है। अपने शुद्ध ज्ञानमें ही मगन है। इस लिये वे ही ज्ञानचेतना स्वरूप है। शेष जो छद्मस्थ संसारी जीव हैं उनके दो चेतना पाई जाती हैं। संसारी जीव दो प्रकारके हैं एक स्थावर दूसरे त्रस। जो एकेन्द्रिय स्थावर जीव हैं उनके ज्ञान अति मंद है यद्यपि अशुभ तीन लेश्याओंके कारण तथा आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार संज्ञाओंके कारण उनके अशुभोपयोगरूप

और निर्भय शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनासे शून्य होकर दूसरे चोर आदिकोंसे भय करता है (पालयदि) तथा परमात्मभावनाकी रक्षा छोड़कर उनकी रक्षा करता है।

भावार्थ-यदि कोई कहे हमारे शास्त्रमें यह बात कही है कि साधुको वस्त्र ओढ़ने बिछानेको रखने चाहिये या दूध आदि भोजन लेनेके लिये पात्र रखना चाहिये तो उसके लिये आचार्य दूषण देते हैं कि यदि कोई महाव्रतोंका धारी साधु होकर जिसने आरम्भजनित हिंसा भी त्यागी है व सर्व परिग्रहके त्यागकी प्रतिज्ञा ली है ऐसा करे तो वह पराधीन व आरम्भवान हो जावे उसका वस्त्रके आधीन रहकर परीसहोंके सहनेमें व घोर तपस्याके करनेमें उदासीन होना हो तथा उसको उन्हें उठाने, धरते, साफ करते, आदिमें आरम्भ करना हो वस्त्रको झाड़ने, धोते, सुखाने, अनेक प्राणियोंकी हिंसा करनी पड़े तब अहिंसाव्रत न रहे उनकी रक्षाके भावसे चोर आदिमें भय बना रहे तब भय परिग्रहका त्याग नहीं हुआ इत्यादि अनेक दोष आते हैं। वास्तवमें जो सर्व आरम्भ व परिग्रहका त्यागी है वह शरीरकी ममताके हेतुसे किसी परिग्रहको नहीं रख सकता है। पीछी कमण्डल तो जीव दया और शौचके उपकरण हैं उनको संयमकी रक्षार्थ रखना होता है सो वे भी मोर परके व काठके होते हैं उनके लिये कोई रक्षाका भय नहीं करना पड़ता है, न उनके लिये कोई आरम्भ करना पड़ता है, परन्तु वस्त्र तो शरीरकी ममतासे व भोजन पात्र भोजनके हेतुसे ही रखना पड़ेंगे फिर इन वस्त्रादिके लिये चिंता व अनेक आरम्भ करना पड़ेंगे इसलिये साधुओंको रखना उचित नहीं है। जो वस्त्र रखता

अशुभ उपयोग होता है । जब पूजा, पाठ, जप, तप आदिमें प्रवर्तन करता है तब शुभोपयोग होता है और जब बुद्धिपूर्वक अपने उपयोगको रागद्वेषसे दूरकर आत्माके शुद्ध स्वभावके विचारमें लगाता है और इस शुभ क्रियाके कारण जब उपयोग आत्मस्थ होजाता है अर्थात् स्वानुभवमें एकता रूप होजाता है तब शुद्धोपयोग होता है। यद्यपि इस शुद्धोपयोगका प्रारम्भ सम्यक्तकी अवस्थासे होजाता है तथापि इसकी मुख्यता मुनि महाराजोंके होती है । सातवें अप्रमत्त गुणस्थानमें क्षीणकषाय पर्यंत शुद्धोपयोग कर्म है, ध्यानमय अवस्था है । यदि कोई लगातार सातवें गुणस्थानसे बारहवें तक चला जाय तो अंतर्मुहूर्त काल ही लगेगा । क्योंकि सातवेंमें ध्याताने अपने उपयोगको बुद्धिपूर्वक आत्मामें उपयुक्त किया है इस लिये इस शुद्धोपयोगको कर्मचेतना कहते हैं । वास्तवमें यह शुद्धोपयोगका कारण है । साक्षात् कार्यरूप शुद्धोपयोग अरहत सिद्ध परमात्माके है । वे अपने ज्ञानमें मग्न हैं और आत्म स्वभावसे निष्कर्म हैं—उनके किसी प्रकारकी इच्छा नहीं पाई जाती है, इसलिये वहा ज्ञान चेतना ही है ।

इस कथनसे यही झलकता है कि ज्ञानचेतना अरहत अवस्थासे प्रारम्भ होती है उसके पहले कर्मचेतना और कर्मफल चेतना दो ही हैं, क्योंकि अप्रमत्त सातवेंसे बारहवें तकमें मैं सुखी या दुखी ऐसी चेतना नहीं है इससे इंद्रियजनित सुख दुखकी चेतना नहीं है, परन्तु जब शुद्धोपयोग कर्म है तब उसके फलसे आत्मीक सुखका भोग है । इस हेतुसे कर्मफलचेतना कह सके हैं । यद्यपि केवलज्ञानी भी [illegible] करते हैं परन्तु उनके

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि जिसके पास रखमात्र भी वस्त्रादिकी परिग्रह होगी उसको उसमें मूर्छा अवश्य होगी तथा उसके लिये कुछ आरम्भ भी करना पड़ेगा। इच्छा या आरम्भजनित हिंसा होनेसे असयम भी हो जायगा। साधुको अहिंसा महाव्रत पालना चाहिये सो न पल सकेगा तथा परद्रव्यमें रति होनेसे आत्मामें शुद्धोपयोग न हो सकेगा, जिसके विना कोई भी साधु मोक्षका साधन नहीं कर सक्ता। इस तरह साधुके लिये रचमात्र भी परिग्रह ममताका कारण है जो सर्वथा त्यागने योग्य है।

वस्त्रादि परिग्रहके निमित्तसे अवश्य उनके उठाने, धरने झाड़ने, धोने, सुखानेमें आरमी हिंसा होगी इससे सावद्य कर्म हो जायगा। साधुको पापाश्रवके कारण सावद्य कर्मका सर्वथा त्याग है। ऐसा ही श्री मूलाचार अनगारभावना अधिकारमें कहा है —

तणरुक्खहरिदछेदणतयपत्तपवालकंदमूलाइं।
फलपुप्फबीयघादं ण करिंति मुणी ण कारिंति॥ ३५॥
पुढवीय समारंभ जलपवणग्गीतसाणमारम्भ।
ण करेंति ण कारेंति य कारेंतं णाणुमोदंति॥ ३६॥

भावार्थ-मुनि महाराज तृण, वृक्ष, हरितघासादिका छेदन नहीं करते न कराते हैं, न छाल, पत्र, प्रवाल, कंदमूलादि फल फूल बीजका घात करते न कराते हैं, न वे पृथ्वी, जल, पवन, अग्नि अथवा त्रस घातका आरंभ करते हैं न कराते हैं, न इसकी अनुमोदना करते हैं। पात्रकेशरी स्तोत्रमें श्री विद्यानंदजी स्वामी कहते हैं —

किंतु सर्वस्य सदृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना ।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥ ८५२ ॥
हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह ।
ज्ञानसंचेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥८५३॥
कादाचित्कास्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी ।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसंभवात् ॥ ८५४ ॥

अर्थ—सर्व सम्यग्दृष्टियोंके सदा ज्ञानचेतना रहती है वह निरन्तर प्रवाह रूपसे रहती है अथवा अखंड एक धारारूपसे रहती है। निरंतर ज्ञानचेतनाके रहनेमें भी सहकारी कारण सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय रूपसे रहनेवाली ज्ञानचेतना लब्धि है। वह अपने आवरणके दूर होनेसे सम्यग्दर्शनके साथ सदा रहती है। ज्ञानकी निज उपयोगात्मक चेतना कभी कभी होती है वह लब्धिका विनाश करनेमें समर्थ नहीं है। इसका कारण भी यही है कि उपयोगरूप ज्ञानचेतनाकी समव्याप्ति नहीं है।

इस कथनसे यह प्रगट होता है कि ज्ञानचेतनाका ज्ञानश्रद्धान तथा उस रूप होनेकी शक्तिकी लब्धि तो सम्यग्दृष्टीको हो जाती है परन्तु चारित्रकी अपेक्षा जब वह शुद्धात्मानुभव करता है तब ज्ञानचेतना एकदेशी रहती है। ज्यों ज्यों स्वरूप मग्नता बढ़ती जाती है ज्ञानचेतनाके अंशोंकी वृद्धि होती जाती है। केवलज्ञानीके सर्वांश ज्ञानचेतना हो जाती है। श्री जयसेनाचार्यने सम्यग्दृष्टीकी इस ज्ञानचेतनाको शुद्धोपयोग कर्मचेतना कही है सो मात्र अपेक्षाकृत भेद है, वास्तवमें कोई भेद नहीं है। शुद्ध आत्माकी प्रत्यक्ष चेतना वास्तवमें केवलज्ञानी हीके है जैसा पंचाध्यायीकारने श्लोक १९४में कहा है। उसके नीचे स्वानुभवकी अपेक्षा ज्ञानचेतना तथा

इस तरह श्वेताम्बर मतके अनुसार माननेवाले शिष्यके संबोधनके लिये निर्ग्रंथ मोक्षमार्गके स्थापनकी मुख्यतासे पहले स्थलमें पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि किसी कालकी अपेक्षासे जब साधुकी शक्ति परम उपेक्षा संयमके पालनेकी न हो तब वह आहार करता है, संयमका उपकरण पीछी व शौचका उपकरण कमंडल व ज्ञानका उपकरण शास्त्रादिको ग्रहण करता है ऐसा अपवाद मार्ग है।

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥ २७ ॥

छेदो येन न विद्यते ग्रहणविसर्गेषु सेवमानस्य।
श्रमणस्तेनेह वर्ततां कालं क्षेत्रं विज्ञाय ॥ २७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जेण गहण विसग्गेसु सेवमाणस्स) जिस उपकरणके ग्रहण करने व रखनेमें उस उपकरणके सेवनेवाले साधुके (छेदो ण विज्जदि) शुद्धोपयोगमई संयमका घात न होवे (तेणिह समणो कालं खेत्तं वियाणित्ता वट्टदु) उसी उपकरणके साथ इसलोकमें साधु क्षेत्र और कालको जानकर वर्तन करे।

विशेषार्थ–यहां यह भाव है कि कालकी अपेक्षा पञ्चमकाल या शीत उष्ण आदि ऋतु, क्षेत्रकी अपेक्षा मनुष्य क्षेत्र या नगर भगल आदि इन दोनोंको जानकर जिस उपकरणसे स्वसंवेदन लक्षण भाव संयमका अथवा बाहरी द्रव्य संयमका घात न होवे उस तरहसे मुनिको वर्तना चाहिये।

प्रयोजन यह है कि सम्यक्त विना सब असार है जब कि सम्यक्त सहित सब कुछ सार है ॥ ३३ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि यह आत्मा ही अभेद नयसे ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनारूप होजाता है।

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं, फलं च आदा मुणेदव्वो ॥ ३४ ॥

आत्मा परिणात्मा परिणामो ज्ञानकर्मफलभावी।
तस्मात् ज्ञानं कर्म फलं चात्मा मतव्य ॥ ३४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अप्पा परिणामप्पा) आत्मा परिणाम स्वभावी है। (परिणामो णाणकम्मफलभावी) परिणाम ज्ञानरूप कर्मरूप व कर्मफल रूप होजाता है (तम्हा) इसलिये (आदा) आत्मा (णाणं कम्मं च फलं) ज्ञानरूप कर्मरूप व कर्म फल रूप (मुणेदव्वो) जानना चाहिये।

विशेषार्थ-आत्मा परिणमनस्वभाव है यह बात पहले ही "परिणामो सयमादा" इस गाथामें कही जाचुकी है। उसी परिणमन स्वभावमें यह शक्ति है कि आत्माका भाव ज्ञानचेतना रूप, कर्म चेतनारूप व कर्मफलचेतनारूप होजावे। इसलिये ज्ञान, कर्म, कर्मफलचेतना इन तीन प्रकार चेतनारूप अभेद नयसे आत्माको ही जानना चाहिये। इस कथनमें यह अभिप्राय प्रगट किया गया कि यह आत्मा तीन प्रकार चेतनाके परिणामोंमें परिणमन करता हुआ निश्चय रत्नत्रयमई शुद्ध परिणामसे मोक्षको साधन करता है। तथा शुभ तथा अशुभ परिणामोंसे बंधको साधता है।

भावार्थ-इस गाथामें यह बताया गया है कि आत्मा स्वयं

साधुको योग्य है कि द्रव्य आहार शरीरादि, क्षेत्र जगल आदि, काल शीत उष्णादि, भाव अपने परिणाम इन चारोंसे भली प्रकार देखकर तथा अपनी शक्ति व ध्यान या ग्रंथ पठनकी योग्यता देखकर आचरण करें ॥ २७ ॥

उत्थानिका-आगे पूर्व गाथामें जिन उपकरणोंको साधु अप वाद मार्गमें काममें लेसक्ता है उनका स्वरूप दिखलाते हैं।

अप्पडिकुट्ठ उवधिं अपत्थणिज्ज असजदजणेहि ।
मुच्छादिजणणरहिद गेण्हदु समणो जदिवियप्प ॥ २८ ॥

अप्रतिकृष्टमुपधिमप्रार्थनीयमसयतजनै ।
मूर्छादिजननरहितं गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पम् ॥२८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(समणो) साधु (उवधिं) परिग्रहको (अप्पडिकुट्ट) जो निषेधने योग्य न हो, (असजदजणेहिं अपत्थणिज्ज) असयमी लोगोंके द्वारा चाहने योग्य न हो (मुच्छादिजणणरहिद) व मूर्छा आदि भावोंको न उत्पन्न करे (जदिवियप्प) यद्यपि अल्प हो गेण्हदु) ग्रहण करे।

विशेषार्थ-साधु महाराज ऐसे उपकरणरूपी परिग्रहको ही ग्रहण करें जो निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गमें सहकारी कारण होनेसे निषिद्ध न हो, जिसको वे असयमी जन जो निर्विकार आत्मानुभवरूप भाव सयमसे रहित हैं कभी मागे नहीं न उसकी इच्छा करें, तथा जिसके रखनेसे परमात्मा द्रव्यसे विलक्षण बाहरी द्रव्योंमें ममतारूप मूर्छा न पैदा हो जावे न उसके उत्पन्न करनेका दोष हो न उसके सस्कारसे दोष उत्पन्न हो। ऐसे परिग्रहको यदि रक्खें तौ भी बहुत थोडी रक्खें। इन लक्षणोंसे [illegible] न लेवें।

ममें ज्ञान दर्शन, व अंतरायके क्षयोपशमसे आत्मवीर्य, व मोहके उपशमसे वीतरागताके अंश प्रगट हैं, इस हीसे पुरुषार्थ करते हैं। इस पुरुषार्थके बलसे हमको मोहके उदयके बलको घटाना चाहिये। हमारा यह अभ्यास कुछ कालमें हमारे आत्माके परिणमनको वैभाविकसे हटाकर स्वभावमें परिणमन करने देगा। इसलिये हमें कर्मोंके प्रबल निर्बलके विकल्पमें न पड़ अपना पुरुषार्थ स्वाभाविक भावोंमें होनेके लिये करना चाहिये। पुरुषार्थके विना कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं–

> भवभोगशरीरेषु भावनीयं सदा बुधैः ।
> निर्वेदः परया बुद्ध्या कर्मारातिजिगीषुभिः ॥१२७॥
>
> यावन्न मृत्युवज्रेण देहशैलो निपात्यते ।
> नियुज्यतां मनस्तावत् कर्मारातिपरिक्षये ॥ १२८ ॥

भावार्थ–उन बुद्धिमानोंको, जो कर्म शत्रुओंका नाश करना चाहते हैं उत्कृष्ट बुद्धिसे संसार शरीर भोगोंमें सदा वैराग्यभावना भानी चाहिये। जबतक मरणरूपी वज्रसे शरीररूपी पहाड़ न गिरे तबतक अपने मनको कर्मशत्रुओंके नाशमें लगाए रहो ॥२४॥

इस तरह तीन प्रकार चेतनाके कथनकी मुख्यतासे चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे सामान्य ज्ञेय अधिकारकी समाप्ति करते हुए पहले कही हुई भेदज्ञानकी भावनाका फल शुद्धात्माकी प्राप्ति है ऐसा दिखाते हैं–

भावार्थ—साधुको इतनी शुद्धिया पालनी चाहिये। (१) लिंग शुद्धि-निर्ग्रन्थ सर्व सम्कारसे रहित वस्त्ररहित शरीर हो, लोच किये हो, पीछी कमंडल सहित हों। (२) व्रतशुद्धि—अतीचार रहित अहिंसादि पाच व्रतोको पालते हो। (३) वसतिशुद्धि-स्त्री पशु नपुसक रहित स्थानमें ठहरें जहा परम वैराग्य हो सके। (४) विहारशुद्धि-चारित्रके निर्मल करनेके लिये योग्य देशोमें विहार करते हों। (५) भिक्षाशुद्धि-भोजन दोषरहित ग्रहण करते हों। (६) ज्ञानशुद्धि-शास्त्रज्ञान व पदार्थज्ञान व आत्मज्ञानमें सशयरहित परिपक्व हों। (७) उज्झनशुद्धि-शरीरादिमे ममताके त्यागमें दृढ हों। (८) वाक्यशुद्धि-विकथारहित शास्त्रोक्त मृदु व हितकारी वचन बोलते हों। (९) तपशुद्धि—बारह प्रकार तपको मन लगाकर पालते हों। (१०) ध्यानशुद्धि-ध्यानके भले प्रकार अभ्यासी हों। इन शुद्धियोंमें विघ्न न पडके सहायकारी जो उपकरण हों उन्हींको अपवाद मार्गी साधु ग्रहण करेगा। वस्त्र व भोजनपात्रादि नहीं॥२८॥

उत्थानिका—आगे फिर आचार्य यही कहते हैं कि सर्व परिग्रहका त्याग ही श्रेष्ठ है। जो कुछ उपकरण रखना है वह अशक्यानुष्ठान है—अपवाद है—

किं किंचणत्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहोवि।
संगत्ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्तिमुद्दिट्ठा॥ २९॥

किं किंचनमिति तर्कः अपुनर्भवकामिनोथ देहोपि।
संग इति जिनवरेन्द्रा अप्रतिकर्मत्वमुद्दिष्टवन्त॥ २९॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(अध) अहो (अपुणब्भवकामिणो) पुन भवरहित ऐसे मोक्षके इच्छुक साधुके (देहोवि) शरीर

भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मसे रहित शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप आत्माको प्राप्त करता है। ऐसा अभिप्राय भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देवका है।

भावार्थ इस गाथामें आचार्यने यह बात दिखलाई है कि हरएक कार्यमें कर्ता, करण, कर्म और फल ये चार बातें होती हैं। इन्हीं चार बातोंका भेदकी अपेक्षा विचार करें तो यह दृष्टांत होगा कि देवदत्तने अपने मुंहसे आम खाया जिससे वह बड़ा संतोषी हुआ। यहांपर कर्ता देवदत्त, मुंह करण, आम खाना कर्म तथा संतोष पाना फल है। इसी दृष्टांतको यदि अभेदमें घटाएं तो इस तरह कह सके हैं कि देवदत्तने अपने ही शरीरके अंग मुंहसे अपने ही सुखके व्यापाररूप कर्मको किया और आप ही संतोषी होगया— इसतरह निश्चयसे देवदत्तही कर्ता, करण, कर्म और फलरूप हुआ।

इसी तरह जब भेद करके कहें तो इसतरह कह सके हैं कि आत्माने अपने अशुद्ध परिणामोंसे कर्म बांधकर दुःख उठाया। यहां आत्मा कर्ता, अशुद्ध परिणाम करण, कर्मबंधन कर्म व दुःख पाना फल है। इसी बातको अभेदमें विचार करें तो आत्माने अपने ही आत्माके अशुद्ध परिणामोंसे परिणमन करके रागादि भाव कर्म किये और आप ही दुःखी हुआ। इसतरह अशुद्ध निश्चय नयसे आत्मा ही कर्ता, करण, कर्म तथा फलरूप हुआ। अज्ञान दशामें भी उपादान कर्ता, करण, कर्म और फल यह आत्मा ही है अन्य कोई नहीं है। आप ही अपने सराग भावसे रागी हो आकुलतारूप होता है। जैसे मिट्टी अपनी मिट्टीकी परिणतिसे घटरूप होकरके घटके कार्यमें आप ही परिणमन करती है तैसे यह आत्मा अपनी परिणतिमें आपको ही [illegible] अपनेको आकलित

मोक्षका साधन हो वही साधु पदका भाव है। वह बिलकुल ममतारहित आत्माका अभेद रत्नत्रयमें लीन होना है। इसलिये निरन्तर इसी भावकी भावना भानी चाहिये। जैसा देवसेन आचार्यने तत्त्वसारमें कहा है–

जो खलु सुद्धो भावो सा अप्पा त च दसण णाण।
चरणोपि त च भणिय सा सुद्धा चेयणा अहवा ॥ ८ ॥
ज अवियप्प तच्च त सार मोक्खकारण त च।
त णाऊण विसुद्ध झायेह होऊण णिग्गथो ॥ ९ ॥

भावार्थ–निश्चयसे जो कोई शुद्धभाव है वही आत्मा है, वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है और उसीको ही सम्यग्चारित्र कहा है अथवा वही शुद्ध ज्ञानचेतना है। जो निर्विकल्प तत्त्व है वही सार है, वही मोक्षका कारण है। उसी शुद्ध तत्वको जानकर तथा निर्ग्रंथ अर्थात् ममता रहित होकर उसीका ही ध्यान करो।

इस तरह अपवाद व्याख्यानके रूपसे दूसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण हुई ॥२९॥

उत्थानिका–आगे ग्यारह गाथाओं तक स्त्रीको उसी भवसे मोक्ष हो सक्ता है इसका निराकरण करते हुए व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही श्वेताम्बर मतके अनुसार बुद्धि रखनेवाला शिष्य पूर्वपक्ष करता है –

पेच्छदि णहि इह लोग पर च समणिंददेसिदो धम्मो।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पिय लिंगमित्थीण ॥ ३० ॥

प्रेक्षते न हि इह लोक पर च श्रमणेंद्रदेशितो धर्मो।
धर्मे तस्मिन् कस्मात् विकल्पित लिंग स्त्रीणा ॥ ३०

जिस ध्यानसे यह आत्मा शुद्ध होता है वह ध्यान भी अभेदसे आत्मा ही है। श्री तत्वानुशासनमें मुनि नागसेन कहते हैं—

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ ७४ ॥

भावार्थ—क्योंकि यह आत्मा स्वस्वरूपमें ही अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माको अपने ही द्वारा अपने ही लिये ध्याता है इस लिये षट् कारकमई यह आत्मा ही निश्चयसे ध्यान है।

अतएव स्वावलम्बन द्वारा अपना उद्धार आप करना चाहिये ॥३८

इस तरह एक सूत्रसे पाचमा स्थल पूर्ण हुआ—

इस तरह सामान्य ज्ञेयके अधिकारके मध्यमें पाच स्थलोंमे भेद भावना कही गई। ऊपर कहे प्रमाण "तम्हा तस्स णमाइ" इत्यादि पैंतीस सूत्रोंके द्वारा सामान्य ज्ञेयाधिकारका व्याख्यान पूर्ण हुआ। आगे उन्नीस गाथाओंमें जीव अजीव द्रव्यादिका विवरण करते हुए विशेष ज्ञेयका व्याख्यान करते हैं। इसमें आठ स्थान हैं। इन आठमेंसे पहले स्थलमें प्रथम ही जीवत्व व अजीवत्वको कहते हुए पहली गाथा, लोक और अलोकपनेको कहते हुए दूसरी, सक्रिय और नि क्रियपनेका व्याख्यान करते हुए तीसरी इस तरह "दव्वं जीवमजीवं" इत्यादि तीन गाथाओंसे पहला स्थल है। इसके पीछे ज्ञान आदि विशेष गुणोंका स्वरूप कहते हुए "लिंगेहिं जेहिं" इत्यादि दो गाथाओंसे दूसरा स्थल है। आगे अपने अपने गुणोंसे द्रव्य पहचाने जाते हैं इसके निर्णयके लिये "वण्णरस" इत्यादि तीन गाथाओंमें तीसरा स्थल है। आगे पचास्तिकायके कथनकी मुख्यतासे "जीवा पोग्गलकाया" इत्यादि दो गाथाओंमें चौथा

नहीं देखी गई है (तम्हा) इस लिये (इत्थीण लिंग) स्त्रियोंका भेष (तप्पडिरूव) आवरण सहित (वियप्पिय) पृथक् कहा गया है।

विशेषार्थ-नरक आदि गतियोंमे विलक्षण अनत सुख आदि गुणोंके धारी सिद्धकी अवस्थाकी प्राप्ति निश्चयसे स्त्रियोंको उसी जन्ममें नहीं कही गई है। इस कारणसे उसके योग्य वस्त्र सहित भेष मुनिके निर्ग्रंथ भेषसे अलग कहा गया है।

भावार्थ-सर्वज्ञ भगवानके आगममें स्त्रियोंको मोक्ष होना उसी जन्मसे निषेधा है, क्योंकि वे नग्न निर्ग्रंथ भेष नहीं धारण कर सक्तीं न सर्व परिग्रहका त्याग कर सक्तीं। परिग्रहके त्यागके विना प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थानमें ही नहीं जाना हो सक्ता है। तब फिर मोक्ष कैसे हो ? स्त्री आर्यिका होकर एक सफेद सारी रखती है इसलिये पाचवें गुणस्थान तक ही सयमकी उन्नति कर सक्ती है ॥ ३१ ॥

उत्थानिका-आगे कहते हैं कि स्त्रियोंके मोक्षमार्गको रोकनेवाले प्रमादकी बहुत प्रबलता है-

पइडीपमादमइया एतासिं वित्ति भासिया पमदा।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुलोत्ति णिदिट्ठा ॥३२॥
प्रकृत्या प्रमादमयी एतासां वृत्ति भासिता प्रमदा।
तस्मात् ता प्रमदा प्रमादबहुला इति निर्दिष्टा ॥ ३२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पयडी) स्वभावसे (एतासिं वित्ति) इन स्त्रियोंकी परिणति (पमादमइया) प्रमादमई है (पमदा भासिया) इसलिये उनको प्रमदा कहा गया है (तम्हा) अत (ताओ पमदा) वे स्त्रिया (पमादबहुलोत्ति णिदिट्ठा) प्रमादसे भरी हुई हैं ऐसा कहा गया है।

जीव द्रव्य स्वय सिद्ध बाहरी और अन्तरङ्ग कारणकी अपेक्षा विन अतरङ्ग व बाहरमें प्रकाशमान नित्य रूप निश्चयसे परम शुद्ध चेत नासे तथा व्यवहारमें अशुद्ध चेतनासे युक्त होनेके कारण चेत स्वरूप है तथा निश्चयनयसे अगट व एक रूप प्रकाशमा व सर्व तरहसे शुद्ध केवलज्ञान तथा केवल दर्शन लक्षणधारी पदा र्थोंके जानने देखनेके व्यापार गुणवाले शुद्धोपयोगसे तथा व्यवहा रनयसे मतिज्ञान आदि अशुद्धोपयोगसे जो वर्तन करता है इससे उपयोगमई है । तथा पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल य पाच द्रव्य पूर्वमें कही हुई चेतनासे तथा उपयोगसे भिन्न अजीव है, अचेतन है, ऐसा अर्थ है ।

भावार्थ–पहले आचार्यने सग्रहनयसे सामान्य द्रव्यका व्या ख्यान किया। अब यहा व्यवहारयसे विशेष भेद द्रव्यका दिखाते हैं । जगतमें यदि प्रत्यक्ष देखा जावे तो जीवत्व और अजीवत्व झलक जाते है । जहा चेतना है–देखने जाननेका काम हो रहा है वह जीवत्व है । जहा यह नहीं है वह अजीवत्व है। एक सजीव प्राणीमें इद्रियोंके व्यापारसे जानन क्रिया होरही है वही जब जीव रहित होकर मात्र शरीरको ही छोड़ देता है तब उस मृतक शरीरमें सब कुछ रचना बनी रहने पर भी जानन क्रिया इन्द्रियोंके द्वारा नहीं होती है–इसीसे सिद्ध है कि जानन क्रियाका करनेवाला जीव है और जिसमें जानन क्रिया नहीं वह यह शरीर है जो पुद्गलसे रचा है। प्रत्यक्षमें हरएक बुद्धिवान जीव अजीवको देख सक्ता है इस लिये आचार्यने प्रथम द्रव्यको दो भेद किये हैं–जीव और अजीव इस जीवमें निश्चय प्राण चेतना है वह इसमें सदा रहती है–वह

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पमदाण चित्त) स्त्रियोंके चित्तमें (धुव) निश्चयसे (मोहपदोसा भय दुगच्छाय) मोह, द्वेष, भय, ग्लानि तथा (चित्ता माया) विचित्र माया (सति) होती है (तम्हा) इसलिये (तासिं ण णिव्वाण) उनके निर्वाण नहीं होता है।

विशेषार्थ-निश्चयसे स्त्रियोंके मनमें मोहादि रहित व अनन्तसुख आदि गुण स्वरूप मोक्षके कारणको रोकनेवाले मोह, द्वेष, भय, ग्लानिके परिणाम पाए जाते हैं तथा उनमें कुटिलता आदिसे रहित उत्कृष्ट ज्ञानकी परिणतिकी विरोधी नाना प्रकारकी माया होती है। इसी लिये ही उनको बाधारहित अनन्त सुख आदि अनन्त गुणोंका आधारभूत मोक्ष नहीं हो सक्ता है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-स्त्रियोंके मनमें कषायकी तीव्रता रहा करती है। इसीसे उनके सज्वलन कषायका मात्र उदय न हो करके प्रत्याख्यानावरणका भी इतना उदय होता है कि जिससे जितनी कषायकी मंदता साधु होनेके लिये छठे व सातवें गुणास्थानमें चाही है वह नहीं होती है। साधारण रीतिसे पुरुषोंकी अपेक्षा पुत्र पुत्री धनादिमें विशेष मोह स्त्रियोंके होता है, जिससे कुछ भी अपने विषय भोगमें अतराय होता है उससे वैरभाव हो जाता है। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको भय भी बहुत होता है जिससे बहुधा वे दोष छिपानेको असत्य कहा करती हैं तथा अदेखसका भाव या ग्लानि भी बहुत है जिससे वह अपने समान व अपनेसे बढ़कर दूसरी स्त्रीको सुखी नहीं देखना चाहती है। चाहकी दाह अधिक होनेसे व काम भोगकी अधिक तृष्णा होनेसे वह स्त्री अपने मनमें तरह तरहकी कुटिलाइया सोचती है। इन

का अनुभव करो ' यही अनुभव एक दिन अजीवसे दूर करके तुम्हें स्वाधीन बना देगा। पुद्गल स्पर्श, रस, गध, वर्णवान बनता, बिगडता, प्रत्यक्ष झलकता है इससे इसकी सत्ताको समझनेमें कोई कठिनता नहीं है। परतु धर्मादि चार द्रव्य अमूर्तीक है-अदृश्य हैं-प्रत्यक्ष नहीं हैं उनकी सत्ताको कैसे माना जावे ? इसलिये आचार्य कहते हैं कि युक्तिसे उनकी सत्ता भी प्रगट होजायगी। इस लोकमें जीव पुद्गल दो द्रव्य हलनचलन क्रिया करते तथा ठहरते हुए मालूम पडते हैं।

इन क्रियाओंमें उपादान कारण वे स्वयं हैं परतु उनकी इन क्रियाओंमें कोइ सर्वसाधारण तथा अविनाशी ऐसे निमित्त कारण भी चाहिये। केवली भगवानने अपने ज्ञान नेत्रसे जानकर उपदेश दिया कि जो एक अमूर्तीक द्रव्य इस लोकाकाशमे सर्वत्र अखड रूपसे व्यापक है वही धर्मद्रव्य व वैसा ही अधर्म द्रव्य है जिनका काम उदासीन रूपसे जीव व पुद्गलोंकी गतिमे व स्थितिमें क्रमसे सहाय करना है।

सर्व द्रव्य अवकाश पारहे हैं व स्थानान्तर होते हुए भी अवकाश पा लेते हैं इसलिये जिसके विना द्रव्य अवकाश नहीं पा सके व जिसके होते हुए पा सके है वह आकाश द्रव्य है। आकाश अनत और सर्वसे बडा है उसीके मध्यभागमे जहातक हर जगह जीव पुद्गलादि पाच द्रव्य पाए जाते हैं उस भागको लोकाकाश शेषको अलोकाकाश कहते ह। द्रव्योंमे हम परिणमन क्रिया देख रहे हैं। जैसे हमारे परिणमन शातिसे उठकर क्रोधमई होगए व हमारा कोई अज्ञान कुछ ज्ञानके होनेसे नष्ट होता है तथा पुद्गल

क्रियाएं कुटिलतासे भरी होती हैं जिनका रुकना जरूरी है। इसलिये वे वस्त्रोंको त्याग नहीं करसक्ती हैं और विना त्यागे निर्ग्रंथ पद नहीं होसक्ता है जो साक्षात् मुक्तिका कारण है।

उत्थानिका-और भी स्त्रियोंमें ऐसे दोष दिखलाते हैं जो उनके निर्वाण होनेमें बाधक हैं।

चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं ॥३८॥
चित्तस्रव तासां शैथिल्यं आर्तवं च प्रस्खलनं ।
विद्यते सहसा तासु च उत्पादः सूक्ष्ममनुष्याणां ॥३५॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(तासिं) उन स्त्रियोंके (चित्तस्सावो) चित्तमें कामका झलकाव (सित्थिल्लं) शिथिलपना (सहसा अत्तवं च पक्खणं) तथा यकायक ऋतु धर्ममें रक्तका बहना (विज्जदि) मौजूद है (तासु अ सुहममणुआण उप्पादो) तथा उनके शरीरमें सूक्ष्म मनुष्योंकी उत्पत्ति होती है।

विशेषार्थ-उन स्त्रियोंके चित्तमें कामवासना रहित आत्म तत्वके अनुभवको विनाश करनेवाले कामकी तीव्रतासे रागसे गीले परिणाम होते हैं तथा उसी भवमें मुक्तिके योग्य परिणामोंमें चित्तकी दृढता नहीं होती है। वीर्य हीन शिथिलपना होता है इसके सिवाय उनके यकायक प्रत्येक मासमें तीन तीन दिन पर्यंत ऐसा रक्त बहता है जो उनके मनकी शुद्धिका नाश करनेवाला है तथा उनके शरीरमें सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंकी उत्पत्ति हुआ करती है।

भावार्थ-स्त्रियोंके स्त्री वेदका ऐसा ही उदय है कि जिससे उनका मन काम भोगकी तृष्णामें सदा जलता रहता है। ध्यानको

स्तिकाय, और कालसे भराहुआ (वट्टदि) वर्तन करता है (सो दु) वही क्षेत्र (सव्वकाले) सदा ही (लोगो) लोक है ।

विशेषार्थ—पुद्गलके दो भेद हैं—अणु और स्कंध तथा जीव सब निश्चयसे अमूर्तीक अतीन्द्रिय ज्ञानमई तथा निर्विकार परमानन्द रूप एक सुखमई आदि लक्षणोंके धारी हैं इनसे जितना आकाश भरा हुआ है व जिसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल द्रव्य भी व्यापक हैं इस तरह जो पांचों द्रव्योंके समूहको रखता हुआ वर्तता है वह इस अनन्तानन्त आकाशके मध्यमें रहनेवाला लोकाकाश है। वास्तवमें आकाश सहित जो इन पांच द्रव्योंका आधार है वह छः द्रव्यका समूहरूप लोक सदा ही है उसके बाहर अनन्तानन्त खाली जो आकाश है वह अलोकाकाश है ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ—आचार्य इस गाथामें छः द्रव्योंके क्षेत्रको बताते हैं। सबसे बड़ा आकारवाला अनन्त आकाश द्रव्य है। इसके मध्यमें अन्य पांच द्रव्य भरे हुए हैं। जितनेमें ये पांच द्रव्य हैं उसको लोक या जगत् कहते हैं। इसके बाहरके आकाशको अलोक कहते हैं—धर्मास्तिकाय लोकाकाशके बराबर एक अखंड द्रव्य है—अधर्मास्तिकाय भी ऐसा ही है—ये दोनों लोकाकाशमें व्यापक हैं। कालद्रव्य गणनामें असंख्यात हैं। वे एक दूसरेसे कभी मिलते नहीं परंतु लोकाकाशमें इसतरह फैले हैं कि कोई प्रदेश कालद्रव्यके विना शेष नहीं है। यदि प्रदेशरूपी गजसे माप करें तो लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश होंगे इस तरह हरएक प्रदेश कालद्रव्यसे छाया हुआ है। जीव अनन्तानंत हैं—सो लोकाकाशमें खचाखच भरे हैं

वे दोष अधिकतासे होते हैं ? स्त्री पुरुषके अस्तित्व मात्रसे ही समानता नहीं है। पुरुषके यदि दोषरूपी विषकी एक कणिका मात्र है तब स्त्रीके दोषरूपी विष सर्वथा मौजूद है। समानता नहीं है। इसके सिवाय पुरुषोंके पहला वज्रवृषभनाराचसंहनन भी होता है जिसके बलसे सर्व दोषोंका नाश करनेवाला मुक्तिके योग्य विशेष संयम हो सक्ता है।

भावार्थ–इस गाथामें पुरुष व स्त्रीके शरीरमें यह विशेषता बताई है कि स्त्रियोंके योनि, नाभि, कांख व स्तनोंमें सूक्ष्मलब्ध्य-पर्याप्त मनुष्य तथा अन्य जंतु उत्पन्न होते हैं सो बहुत अधिकतासे होते हैं। पुरुषोंके भी सूक्ष्म जंतु मलीन स्थानोंमें होते हैं परन्तु स्त्रियोंकी अपेक्षा बहुत ही कम होते हैं। शरीरमें मलीनता व घोर हिंसा होनेके कारण स्त्रियां नग्न, निर्ग्रन्थ पद धारनेके योग्य नहीं हैं। ऊपरकी गाथाओंमें जो दोष सब बताए हैं वे पुरुषोंमें भी कुछ अंशमें होते हैं परन्तु स्त्रियोंके पूर्ण रूपसे होते हैं। इस लिये उनके महाव्रत नहीं होते हैं।

उत्थानिका–आगे और भी निषेध करते हैं कि स्त्रियोंके उसी भवमें मुक्तिमें जानेयोग्य सर्व कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो सकी है।

जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा॥३७॥

यदि दर्शनेन शुद्धा सूत्राध्ययनेन चापि संयुक्ता।
घोरं चरति वा चारित्रं स्त्रियः न निर्जरा भणिता ॥३८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जदि दंसणेण सुद्धा) यद्यपि कोई स्त्री सम्यग्दर्शनमें शुद्ध हो (सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता) तथा

उत्थानिका—आगे द्रव्योंमें सक्रिय और निक्रिय भेदको दिखलाते हैं यह एक पातनिका है। दूसरी यह है कि जीव और पुद्गलमें अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय दोनों होती हैं जबकि शेष द्रव्योंमें मुख्यतासे अर्थपर्याय होती है इसको सिद्ध करते हैं—

उप्पादट्ठिदिभगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स ।
परिणामा जायते सघादादो व भेदादो ॥ ३८ ॥

उत्पादस्थितिभगा पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य ।
परिणामा जायते सघाताद्वा भेदात् ॥ ३८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ—(लोगस्स) इस छ द्रव्यमई लोकके (उप्पादट्ठिदिभगा) उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूपी अर्थ पर्याय होते हैं तथा (पोग्गलजीवप्पगस्स) पुद्गल और जीवमई लोकके अर्थात् पुद्गल और जीवोंके (परिणामा) व्यंजन पर्यायरूप परिणमन भी (सघादादो) सघातसे (व) या (भेदादो) भेदसे (जायते) होते हैं ।

नोट—यहा वृतिकारकी अपेक्षा छोडकर अपनी समझसे अन्वय किया है ।

विशेषार्थ—यह लोक छ द्रव्यमई है। इन सब द्रव्योंमें सत्पना होनेसे समय समय उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमन हुआ करते हैं इनको अर्थ पर्याय कहते हैं। जीव और पुद्गलोंमें केवल अर्थ पर्याय ही नहीं होती किन्तु सघात या भेदसे व्यंजन पर्यायें भी होती हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश तथा कालकी मुख्यतासे एकसमयवर्ती अर्थ पर्याय ही होती हैं तथा जीव और पुद्गलोंके अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय दोनों होती हैं। किस तरह होती हैं सो कहते हैं। जो समय समय परिणमन रूप अवस्था है इसको

भावार्थ—कर्मभूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन संहनन नियमसे होते हैं तथा आदिके तीन नहीं होते है ऐसा जिनेंद्रोंने कहा है।

फिर कोई शंका करता है कि यदि स्त्रियोंको मोक्ष नहीं होती है तो आपके मतमें किस लिये आर्यिकाओंको महाव्रतोंका आरोपण किया गया है? इसका समाधान यह है कि यह मात्र एक उपचार कथन है। कुलकी व्यवस्थाके निमित्त कहा है। जो उपचारकथन है वह साक्षात् नहीं हो सक्ता है। जैसे यह कहना कि यह देवदत्त अग्निके समान क्रूर है इत्यादि। इस दृष्टांतमें अग्निका मात्र दृष्टान्त है, देवदत्त साक्षात् अग्नि नहीं। इसी तरह स्त्रियोंके महाव्रतके करीब२ आचरण है, महाव्रत नहीं, क्योंकि यह भी कहा है कि मुख्यके अभावके होनेपर प्रयोजन तथा निमित्तके वश उपचार प्रवर्तता है।

यदि स्त्रियोंको तद्भव मोक्ष हो सकी हो तो सौ वर्षकी दीक्षाको रखनेवाली आर्यिका आज ही दीक्षा लेनेवाले साधुको क्यों वन्दना करती है? चाहिये तो यह था कि पहले यह नया दीक्षित साधु ही उसको वन्दना करता, सो ऐसा नहीं है। तथा आपके मतमें मल्लि तीर्थंकरको स्त्री कहा है सो भी ठीक नहीं है। तीर्थंकर वे ही होते हैं जो पूर्वभवमें दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओंको भाकरके तीर्थंकर नामकर्म बांधते हैं। सम्यग्दृष्टी जीवके स्त्रीवेद कर्मका बन्ध ही नहीं होता है फिर किस तरह सम्यग्दृष्टी स्त्री पर्यायमें पैदा होगा। तथा यदि ऐसा माना जायगा कि मल्लि तीर्थंकर व अन्य कोई भी स्त्री होकर फिर निर्वाणको गए तो स्त्री रूपकी प्रतिमाकी आराधना क्यों नहीं आप लोग करते हैं

गुणवृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि, अनतगुणवृद्धि, इसी तरह अनत भाग हानि, असख्यात भाग हानि, सख्यात भाग हानि, सख्यात गुण हानि, असख्यात गुण हानि, अनतगुण हानि । श्री देवसेन आचार्य कृत आलाप पद्धतिमें कहा है —

> अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्याया प्रतिक्षणम् ।
> उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥ १ ॥

अर्थ अनादि अनत द्रव्यके भीतर स्वभाव पर्यायें प्रति समयमें इस तरह होती रहती हैं जैसे जलके भीतर लहरें उठती हैं बैठती हैं । इस दृष्टातसे यह भाव झलकता है कि जैसे निर्मल क्षीर समुद्रके जलमें जब तरगें होती हैं तब कहीं पर पानी कुछ ऊचा व कहींपर कुछ नीचा होजाता है पर तु न पानी कमबढ होता न मैला होता है तैसे द्रव्योंके भीतर जो अगुरुलघुगुण है उसमें परिणमन होता है । केवल अवस्थामें परिणमन होते हुए भी गुण कम बढ नहीं होता है न विभाव रूप परिणमता है । इन स्वभाव पर्यायोंका स्वरूप क्या है सो अच्छी तरह नहीं प्रगटा है इसको आगम प्रमाणसे गृहण करना योग्य है । ये स्वभाव अर्थ पर्यायें तो सब द्रव्योंमें सदा होती रहती हैं । जीव और पुद्गलोंमें विभाव अर्थ पर्याय भी होती है जैसे जीवोंमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञानगुणका विभावपरिणमन है । सक्लेश रूप तथा विशुद्ध रूप चारित्र गुणका विभाव परिणमन है । पुद्गलोंमे एक रससे अन्य रस रूप, एक गधसे अन्य गध रूप, एक स्पर्शसे अन्य स्पर्श रूप, एक वर्णसे अन्य वर्णरूप परिणमन विभाव गुणपर्याय है या विभाव अर्थ पर्यायें है ।

विशेषार्थ—क्योंकि स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष नहीं होती है इसलिये सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवानने उन आर्जिकाओंका लक्षण या चिन्ह वस्त्र आच्छादन सहित कहा है। उनका कुल लौकिकमें घृणाके योग्य नहीं ऐसा जिनदीक्षा योग्य कुल हो। उनका स्वरूप ऐसा हो कि जो बाहरमें भी विकारसे रहित हो तथा अंतरगमें भी उनका चित्त निर्विकार व शुद्ध हो तथा उनकी वय या अवस्था ऐसी हो कि शरीरमें जीर्णपना या भग न हुआ हो, न अति बाल हों, न वृद्ध हों, न बुद्धिरहित मूर्ख हों, आचार शास्त्रमें उनके योग्य जो आचरण कहा गया है उसको पालनेवाली हों ऐसी आर्जिकाएं होनी चाहिये।

भावार्थ—जो स्त्रियां आर्जिका हों उनको एक सफद सारी पहनना चाहिये यह उनका भेष है, साथमें मोरपिच्छिका व काष्ठका मंडल होता ही है। वे श्रावकसे घर बैठकर हाथमें भोजन करती हैं। जो आर्जिका पद धारे उनका लोकमान्य कुल हो, शरीरमें विकारका व मुखपर मनके विकारका झल्काव न हो तथा उनकी अवस्था बालक व वृद्ध न होकर योग्य हो जिससे वे ज्ञानपूर्वक तपस्या कर सकें। ग्यारहवीं श्रावककी प्रतिमामें जो चारित्र ऐलक श्रावकका है व.ी प्राय आर्जिकाजीका होता है ॥३८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो पुरुष दीक्षा लेते हैं। उनकी वर्णव्यवस्था क्या होती है।

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥३०॥

गुणवृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि, अनतगुणवृद्धि, इसी तरह अनत भाग हानि, असख्यात भाग हानि, सख्यात भाग हानि, सख्यात गुण हानि, असख्यात गुण हानि, अनतगुण हानि । श्री देवसेन आचार्य कृत आलाप पद्धतिमें कहा है —

> अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्याया प्रतिक्षणम् ।
> उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥ १ ॥

अर्थ अनादि अनत द्रव्यके भीतर स्वभाव पर्यायें प्रति समयमें इस तरह होती रहती हैं जैसे जलके भीतर लहरें उठती हैं बैठती हैं । इस दृष्टातसे यह भाव झलकता है कि जैसे निर्मल क्षीर समुद्रके जलमें जब तरंगे होती हैं तब कहीं पर पानी कुछ ऊचा व कहींपर कुछ नीचा होजाता है पर तु न पानी कमकम होता न अधिक होता है वैसे द्रव्योंके भीतर जो अगुरुलघुगुण है उससें परिणमन होता है । केवल अवस्थामें परिणमन होते हुए भी गुण कम बढ नहीं होता है न विभाव रूप परिणमता है । इन स्वभाव पर्यायोंका स्वरूप क्या है सो अच्छी तरह नहीं प्रगटा है इसको आगम प्रमाणसे ग्रहण करना योग्य है । ये स्वभाव अर्थ पर्यायें तो सब द्रव्योंमें सदा होती रहती हैं । जीव और पुद्गलोंमें विभाव अर्थ पर्याय भी होती है जैसे जीवोंमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञानगुणका विभावपरिणमन है । सक्लेश रूप तथा विशुद्ध रूप चारित्र गुणका विभाव परिणमन है । पुद्गलोंमें एक रससे अन्य रस रूप, एक गधसे अन्य गध रूप एक स्पर्शसे अन्य स्पर्श रूप, एक वर्णसे अन्य वर्णरूप परिणमन विभाव [illegible] विभाव अर्थ पर्यायें हैं ।

हो कि यह कोई गंभीर महात्मा है व आत्माके ध्याता व शुद्ध भावोंके धारी हैं, इनका लोकमें कोई अपवाद न फैला हुआ हो ऐसे महापुरुष ही दीक्षा लेसक्ते हैं। टीकाकारने यह भी दिखलाया है कि सत्‌शूद्र भी मुनि हो सक्ते हैं। यह बात पंडित आशाधरने अनगार धर्मामृतमें भी कही है " अन्यैर्ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यसच्छूद्रै स्वदानुगृहात " (चतुर्थ अ० व्याख्या श्लोक १६७)

इसका भाव यह है कि मुनियोंको दान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सत्‌शूद्र अपने घरसे दे सक्ते हैं।

इसका भाव यही झलकता है कि जब वे दान दे सक्ते हैं तो वे दान लेने योग्य मुनि भी होसक्ते हैं।

मूल गाथा व श्लोक नहीं प्राप्त हुआ तथा यह स्पष्ट नहीं हुआ कि सत्‌शूद्र किसको कहते हैं। पाठकगण इसकी खोज करें।

उत्थानिका–आगे निश्चय नयका अभिप्राय कहते हैं–

जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो।
सेस भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो ॥ ४० ॥

यो रत्नत्रयनाश स भंगो जिनवरैं निर्दिष्ट ।
शेषभंगेन पुन न भवति सल्लेखनार्ह ॥ ४० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जो रयणत्तयणासो) जो रत्नत्रयका नाश है (सो भंगो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो) उसको जिनेन्द्रोंने व्रतभंग कहा है (पुणो सेस भंगेण) तथा शरीरके भंग होनेपर पुरुष (सल्लेहणा अरिहो ण होदि) साधुके समाधिमरणके योग्य नहीं होता है।

विशेषार्थ–विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव निज परमात्मतत्वका

स्कधके साथ सघात या मेल होनेपर जो विशेष स्कध होता है वह विभावव्यजनपर्याय है। अविभागी परमाणु विना किसीके मिलापके जबतक है तबतक स्वभाव व्यजन पर्यायरूप है। इस तरह व्यजन पर्यायें जीव और पुद्गलोंमें होती हैं। ऐसा ही आलापपद्धतिमें कहा है —

धर्माधर्मनभ काला अर्थपर्यायगोचरा ।
व्यञ्जनेन तु सबद्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥

भावार्थ–धर्म, अधर्म, आकाश और कालमें अर्थ पर्यायें ही होती हैं किन्तु जीव पुद्गलोंमें अर्थ पर्याय भी होती है व व्यजन पर्यायें भी होती हैं। इसी कारणसे चार द्रव्य क्रिया रहित अर्थात् हलनचलन रहित नि क्रिय हैं और जीव पुद्गल क्रियावान अर्थात् हलनचलन सहित हैं।

प्रयोजन यह है कि अपने आत्माको ससार अवस्थामें आवागमनरूप क्रियाके भीतर चौरासी लाख योनियोंके द्वारा क्लेश उठाते जानकर उसको सिद्ध अवस्थामें पहुचानेका यत्न करना चाहिये जिससे यह जीव भी नि क्रिय होजावे क्योंकि सिद्धात्मा हलनचलन क्रिया रहित है। स्वभावमें लोकाग्र एक आकारसे विना सकम्प हुए विराजमान है। इसीलिये अभेद रत्नत्रय स्वरूप साम्यभावका आश्रयकर स्वानुभवका अभ्यास करना चाहिये ऐसा तात्पर्य है। इस तरह जीव और अजीवपना, लोक और अलोकपना, सक्रिय निष्क्रियपनाको क्रमसे कहते हुए प्रथम स्थलमें तीन गाथाए समाप्त हुई ॥ ३८ ॥

उत्थानिका–आगे ज्ञानादि विशेष गुणोंके भेदसे द्रव्योंके भेदोंको बताते हैं —

है। आहार, मैथुन, चीर, राज इन चार विकथाओंके भीतर अधिक रजायमान होकर परिणमनेकी सुगमता तथा आत्मध्यानमें जमे रहनेकी शिथिलता है।

(२) स्त्रियोंमें अधिक मोह, ईर्षा, द्वेष, भय, ग्लानि व नाना प्रकार कपटजाल होता है। चित्त उनका मलीनतामें पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक लीन होता है।

(३) स्त्रियोंका शरीर सनोचरूप न होकर चचल होता है। उनके मुख, नेत्र, स्तन आदि अगोंमे सदा ही चचलता व हाव-भाव भरा होता है जिससे सौम्यपना जैसा मुनिके चाहिये नहीं आसक्ता है।

(४) स्त्रियोंके भीतर काम भावसे चित्तका गीलापना होता है व चित्तकी स्थिरताकी कमी होती है।

(५) प्रत्येक मासमें तीन दिन तक उनके शरीरसे रक्त वहता है जो चित्तको बहुत ही मैला कर देता है।

(६) उनकी योनि, उनके स्तन, नाभि, कांखमें लब्ध्यपर्याप्तक समूर्छन मनुष्योंकी उत्पत्ति होती है तथा मरण होता है इससे बहुत ही अशुद्धता रहती है।

(७) स्त्रियोंके तीन अन्तके ही सहनन होते हैं जिनसे वह मुक्ति नहीं प्राप्तकर सक्ती। १६ स्वर्गसे ऊपर तथा छठे नर्कके नीचे स्त्रीका गमन नहीं होसक्ता है-न वह सातवें नर्क जासक्ती न ग्रैवेयक आदिमें जासक्ती है। श्वेतांबर लोग स्त्रियों मोक्षकी कल्पना करते हैं सो बात उनहीके शास्त्रोंमे विरोध रूप भासती है कुछ श्वेतांबरी शास्त्रोंकी बातें—

र्तीक अर्थात् मूर्तीक द्रव्योंके मूर्तीक गुण और अमूर्तीक द्रव्योंके अमूर्तीक गुण समझने चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्य यह बताते हैं कि जीव और अजीव द्रव्योंको किस तरह पहचाना जाता है। जो अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व तथा प्रमेयत्व सामान्यगुण हैं वे तो सर्व छहों द्रव्योंमें व्यापक हैं उनसे जीव और अजीव द्रव्योंकी भिन्नता नहीं जानी जा सकती है। इसलिये भिन्न २ द्रव्योंमें भिन्न२ विशेष गुण हैं जिनसे वह विशेष द्रव्य जाना जा सक्ता है। वे विशेष गुण अपने २ द्रव्यसे तो तन्मयपना रखते हैं परन्तु अन्य द्रव्यसे बिलकुल भिन्न हैं। तथा अपने २ द्रव्यके साथ भी वे गुण प्रदेशोंकी अपेक्षा अभेदरूप हैं परन्तु संज्ञादिकी अपेक्षा भेदरूप या भिन्न हैं। जिन लक्षणोंसे द्रव्योंको भिन्न २ जाने उन लक्षणोंको किसी अपेक्षा मूर्तीक और अमूर्तीक गुण कह सक्ते हैं। अर्थात् जो मूर्तीक द्रव्य हैं उनके विशेष गुण मूर्तीक हैं तथा जो अमूर्तीक द्रव्य हैं उनके विशेष गुण अमूर्तीक हैं। छ द्रव्योंमें पुद्गल द्रव्य मूर्तीक है इसलिये उसके विशेष गुण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण भी मूर्तीक हैं। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल अमूर्तीक हैं इसलिये उनके विशेष गुण चैतन्यादि भी अमूर्तीक हैं। ये छहों द्रव्य अपने अपने विशेष गुणोंसे ही भिन्न २ जाने जाते हैं। तात्पर्य यह है कि इनमें निज आत्मा ही उपादेय है।

श्री योगेन्द्राचार्यने योगसारमें कहा है—

पुग्गलु अण्णु जि अण्णु जिउ अण्ण वि सहु विवहारु।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ लहु पावहु भवपारु॥ ५४॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी स्त्री पर्यायमें नहीं उपजता यही भाव है (सम्पादक), परंतु प्राय शब्दका यह खुलाशा पन्ने ५९१में है कि स्त्री व नपुंसक वेदके आठ आठ भग (नियम विरुद्ध बातें) प्रत्येक चोवीसीमें समझना। इसलिये ब्राह्मी, सुन्दरी, मल्लिनाथ, राजीमती प्रमुख सम्यग्दृष्टी होकर यहां उपने।

इस तरह कथनसे यह बात साफ प्रगट होती है कि जब तीर्थंकर, चक्रवर्तीपद व दृष्टिवाद पूर्वका ज्ञान स्त्रीको शक्तिहीनता व डोघरी मूत्रुरताके कारण नहीं हो सक्ता है तब मोक्ष कैसे हो सक्ती है? यहां श्री कुंदकुंदाचार्यका यह अभिप्राय है कि पुरुष ही निर्ग्रंथ–दिगम्बर पद धारणकर सक्ता है इसलिये वही तद्भव मोक्षका पात्र है। स्त्रियोंके तद्भव मोक्ष नहीं होसक्ती है। वे उत्कृष्ट श्रावकका व्रत रखकर आर्यिकाकी वृत्ति पाल सक्ती है और इस वृत्तिसे स्त्री लिंग छेद सोलहवें स्वर्गतकमें देवपद प्राप्तकर सक्ती हैं, फिर पुरुष हो मुक्ति लाभ कर सक्ती हैं।

श्री मूलाचारके समाचार अधिकारमें आर्यिकाओंके चारित्रकी कुछ गाथाएं ये हैं —

> अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ ।
> धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूपविसुद्धचरियाओ ॥१६०॥
> अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिवाए विसुद्धसंचारे।
> दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति ॥१६१॥
> ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्स गमणिज्जे।
> गणिणीमापुच्छित्ता स घाडेणेव गच्छेज्ज ॥ १६२ ॥
> रोदणण्हाणभोयणपयण सुत्तं च छव्विहारंभे ।
> विरदाण पादमक्खणधोवण गेयं च ण य कुज्जा ॥१६३॥

भावार्थ–इस लोकमे छ द्रव्य है उनमेंसे केवल एक पुद्गल मूर्तीक है क्योंकि उसके वर्ण, गध, रस, स्पर्श गुण चक्षु, घ्राण, रसना तथा स्पर्शन इंद्रियोंके द्वारा क्रमसे जाननेमें आते हैं । और इसी लिये इस पुद्गलके वर्णादि गुणोंको मूर्तीक गुण कहते हैं तथा जीव, धर्म, अधर्म, काल, आकाश ये पाच द्रव्य अमूर्तीक हैं क्योंकि इनके विशेष गुण पाचों ही इंद्रियोंसे नहीं जाने जासक्ते । जीवके केवलज्ञानादि गुण, धर्मका गतिहेतुपना, अधर्मका स्थितिहेतुपना कालका वर्तना तथा आकाशका अवगाह देना ये सर्व कोई भी इंद्रियोंसे देखे, सूघे, चखे, स्पर्शे तथा सुने नहीं जाते हैं इसलिये जैसे ये पाच द्रव्य अमूर्तीक हैं वैसे इनके विशेष गुण भी अमूर्तीक हैं । क्योंकि गुण और गुणी तादात्म्य सम्बन्ध रखते हैं तथा गुणोंके अखट सर्वांग व्यापक समूहका ही नाम द्रव्य है इसलिये मूर्तीक गुणधारी द्रव्य मूर्तीक होते हैं और अमूर्तीक गुणधारी द्रव्य अमूर्तीक होते हैं। यद्यपि पुद्गलके बहुतसे सूक्ष्म स्कध तथा सर्व ही अविभागी परमाणु किसी भी इंद्रियसे नहीं जाननेमें आते तथापि जब भेदसघातसे वे सूक्ष्म स्कध स्थूल होजाते हैं तथा परमाणुओंके सघातसे स्थूलस्कध बन जाते हैं । तब वे किसी न किसी इंद्रियके द्वारा जाननेमें आजाते हैं जैसे आहारक वर्गणाको हम देख नहीं सक्ते परन्तु उनसे बने हुए औदारिक शरीरको देखते हैं, भाषा वर्गणाको हम देख नहीं सकते व सुन नहीं सक्ते परन्तु उनके बने शब्दोंको हम सुन सक्ते हैं । यद्यपि ये सूक्ष्म स्कध तथा परमाणु इंद्रियगोचर नहीं हैं तथापि उनमें इंद्रियगोचर होनेकी शक्ति है तथा वे सब पुद्गल हैं और उन ही स्पर्श, रस, गध, वर्ण

उत्थानिका—आगे पूर्वमें कहे हुए उपकरणरूप अपवाद व्याख्यानका विशेष वर्णन करते हैं।

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च पण्णत्तं ॥ ४१ ॥
उपकरणं जिनमार्गे लिंगं यथाजातरूपमिति भणितम्।
गुरुवचनमपि च विनयः सूत्राध्ययनं च प्रज्ञप्तम् ॥ ४१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जिणमग्गे) जिनधर्ममें (उवयरणं) उपकरण (जहजादरूवम् लिंगं इदि भणिदं) यथाजातरूप नग्न भेष कहा है (गुरुवयणं पि य) तथा गुरुसे धर्मोपदेश सुनना (विणओ) गुरुओं आदिकी विनय करना (सुत्तज्झयणं च पण्णत्तं) तथा शास्त्रोंका पढना भी उपकरण कहा गया है।

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए मार्गमें शुद्धोपयोग रूप मुनिपदके उपकारी उपकरण इस भांति कहे गए हैं (१) व्यवहारनयसे सर्व परिग्रहसे रहित शरीरके आकार पुद्गल पिंडरूप द्रव्यलिंग तथा निश्चयसे भीतर मनके शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप परमात्माका स्वरूप (२) विकार रहित परम चैतन्य ज्योतिस्वरूप परमात्मतत्त्वके बतानेवाले सार और सिद्ध अवस्थाके उपदेशक गुरुके वचन (३) आदि मध्य अन्तसे रहित व जन्म जरा मरणसे रहित निज आत्मद्रव्यके प्रकाश करनेवाले सूत्रोंका पढना परमागमका बाचना (४) अपने ही निश्चय रत्नत्रयकी शुद्धि सो निश्चय विनय और उसके आधाररूप पुरुषोंमें भक्तिका परिणाम सो व्यवहार विनय दोनो ही प्रकारके विनय परिणाम ऐसे चार उपकरण कहे गए हैं ये ही वास्तवमें उपकारी हैं। अन्य कोई कमंडलादि व्यवहारमें व उपचारमें उपकरण हैं।

विशेषार्थ--पुद्गल द्रव्यके विशेष गुण स्पर्श रस गंध वर्ण हैं। वे पुद्गल सूक्ष्म परमाणुसे लेकर पृथ्वी स्कंध रूप स्थूल तक हैं।

जैसे इस गाथामें कहा है--

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥

जैसे सर्व जीवोंमें अनन्तज्ञानादि चतुष्टय विशेष लक्षण यथासंभव साधारण हैं तैसे ही वर्णादि चतुष्टय रूप विशेष लक्षण यथासम्भव सर्व पुद्गलोंमें साधारण है। और जैसे अनन्तज्ञानादि चतुष्टय मुक्त जीवमें प्रगट हैं सो अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय है। हमको अनुमानसे तथा आगम प्रमाणसे मान्य हैं तैसे ही शुद्ध परमाणुमें वर्णादि चतुष्टय भी अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय है। हमको अनुमानसे तथा आगमसे मान्य है। जैसे यही अनतचतुष्टय संसारी जीवमें रागद्वेषादि चिकनईके कारण कर्मबंध होनेके वशसे अशुद्धता रखते हैं तैसे ही स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे दो अणु तीन अणु आदिकी बंध अवस्थामें वर्णादि चतुष्टय भी अशुद्धताको रखते हैं। जैसे रागद्वेषादि रहित शुद्ध आत्माके ध्यानसे इन अनन्तज्ञानादि चतुष्टयकी शुद्धता होजाती है तैसे ही यथायोग्य स्निग्ध रूक्ष गुणके न होनेपर बन्धन न होते हुए एक पुद्गल परमाणुकी अवस्थामें शुद्धता रहती है। और जैसे नरनारक आदि जीवकी विभाव पर्याय हैं तैसे यह शब्द भी पुद्गलकी विभाव पर्याय है-- गुण नहीं है क्योंकि गुण अविनाशी होता है परन्तु यह शब्द विनाशीक है। यहां नैयायिक मतके अनुसार कोई कहता है कि यह शब्द आकाशका गुण है इसका खंडन करते हैं कि यदि शब्द

कारण नहीं होसक्ता इसलिये पुण्यबंधके कारणोंका सहारा लेना अपवाद या जघन्य मार्ग है। वृत्तिकारने अपने मनमें परमात्माके स्वरूपका चिंतवन करना तथा निश्चय रत्नत्रयकी शुद्धिकी भावना जो मनसे की जाती है उनको भी उपकरण कहा है सो ठीक नहीं है क्योंकि भावना व विचार विकल्प रूप हैं-साक्षात वीतराग भावरूप नहीं हैं इसलिये ये भी अपवाद मार्गके उपकरण हैं।

तात्पर्य्य आचार्यका यह है कि इन सहायकोंको साक्षात् मुनिका भावलिंग न समझ लेना किन्तु अपवाद रूप उपकरण समझना जिससे ऐसा न हो कि उपकरणोंकी ही सेवामें मग्न होजावे और अपने निजपदको भूल जावे। मुनिपद वास्तवमें शुद्ध चेतन्य भाव है। वही उपादेय है। उसकी प्राप्तिके लिये इनका आलम्बन लेना हानिकर नहीं है, किन्तु नीचे पतनसे बचानेको और ऊपर चढनेको सहायक है। निश्चयसे भावकी शुद्धता ही मोक्षका कारण है जैसा श्री कुंदकुंद महाराजने स्वयं भावपाहुडमें कहा है—

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊण जइ इच्छसि सासयं सुक्खं ॥६०॥
जो जीवो भावंतो जीवसहाव सुभावसंजुत्तो।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥६१॥

भावार्थ—हे मुनिगण हो जो चार गति रूप संसारसे छूटकर शीघ्र शाश्वता सुख रूप मोक्ष चाहते हो तो भावोंकी शुद्धिके लिये अनन्त विशुद्ध अपने निर्मल आत्माको ध्याओ। जो जीव निज स्वभाव सहित होकर अपने ही आत्माके स्वभावकी भावना करता है सो जरा मरणका नाश करके शीघ्र निर्वाणको पाता है।

जायगे । इन स्कंधोंकी अनेक अवस्थाएं जगतमें होरही हैं । उन्हींका दिग्दर्शन करानेके लिये पुद्गलकी छ जातिकी अवस्थाएं बताई गई हैं–

(१) स्थूल स्थूल–जिसके खंड किये जावें तो वे विना किसी चीजका जोड लगाये स्वय न मिल सकें । जैसे कागज, लकड़ी, कपडा, पत्थर आदि ।

(२) स्थूल–जिसको अलग करनेपर विना दूसरी चीजके जोड़के मिल जावें जैसे पानी, सरबत, दूध आदि बहनेवाले पदार्थ ।

(३) स्थूल सूक्ष्म-जो नेत्र इंद्रियसे जाने जावें तथा जिनको हम पकड न सकें जैसे छाया, आताप, उद्योत ।

(४) सूक्ष्म स्थूल–जो नेत्र इंद्रियसे न जाने जावें किन्तु अन्य चार इंद्रियोंमें किसीसे जाने जासकें जैसे शब्द, रस गध, स्पर्श ।

(५) सूक्ष्म–जो स्कंध पांचों ही इंद्रियोंसे न जाने जासकें जैसे कार्माण वर्गणा आदि ।

(६) सूक्ष्म सूक्ष्म–अविभागी पुद्गल परमाणु । यहांपर पहले मूर्तीकका लक्षण कर चुके हैं कि जो इंद्रियोंसे ग्रहण किया जावे सो मूर्तीक है । सूक्ष्म या सूक्ष्म सूक्ष्म जब इंद्रियोंसे नहीं ग्रहण किये जा सके तब उनको मूर्तीक न मानना चाहिये ? इस शङ्काका समाधान यह है कि उन सबोंमें स्पर्श, रस, गध, वर्ण हैं जिनको इंद्रिया ग्रहण कर सक्ती हैं परन्तु वे ऐसी दशामें हैं जिनको इंद्रिय अगोचर व्यवहारमें कहते हैं । वे ही जब भेद सघातसे परिणमते हैं तब कालांतरमें इंद्रियोंके गोचर हो जाते हैं उनमें शक्ति तो है परन्तु व्यक्ति कालान्तरमें हो जायगी । इसलिये सूक्ष्म भी इंद्रियगोचर मूर्तीक कहे जाते हैं । यदि मूर्तीकपना

लद्धे ण होति तुट्ठा ण वि य अलेद्धेण दुम्मणा होति।
दुक्खे सुहेसु मुणिणो मज्झत्थमणाकुला होति ॥ ८१६ ॥
णवि ते अभित्थुणति य पिंडत्थ णवि य किंचि जायते ।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्ख अभासता ॥ ८१७ ॥

भावार्थ-जैसे गाडीका पहिया लेपके विना नहीं चलता है वैसे यह शरीर भी भोजन विना नहीं चल सक्ता है ऐसा विचार मुनिगण प्राणोंकी रक्षाके निमित्त कुछ भोजन करते हैं। प्राणोंकी रक्षा धर्मके निमित्त करने हैं तथा धर्मको मोक्षके लिये आचरण करते हैं। वे मुनि स्वादकी इच्छा किये बिना ठंडा, गरम, रूखा, सूखा, चिकना, नमकीन व विना निमकका जो शुद्ध भोजन मिले उसे करलेते हैं। भोजन मिलनेपर राजी नहीं होते, न मिलनेसे खेद नहीं मानते हैं। मुनिगण दुःख या सुखमे समानभाव रखते हुए आकुलता रहित रहते हैं। वे भोजनके लिये किसीकी स्तुति नहीं करते न याचना करते हैं-विना मुखसे कहे मौनव्रतसे मुनिगण भिक्षाके लिये जाते हैं ॥ ४२ ॥

उत्थानिका आगे कहते हैं कि पंद्रह प्रमाद हैं इनसे साधु प्रमादी हो सक्ता है।

कोहादिएहि चउहिवि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहिं ॥ ८३ ॥
क्रोधादिभिः चतुर्भिरपि विकथाभिः तथेन्द्रियाणामर्थैः ।
श्रमणो भवति प्रमत्तो उपयुक्तः स्नेहनिद्राभ्याम् ॥ ४३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(चउहिवि कोहादिएहि विकहाहि) चार प्रकार क्रोधादि व चार प्रकार विकथा स्त्री, भोजन

कभी भी स्पर्श, रस, गध, वर्ण गुणोंसे छूट नहीं सक्ता किंतु अनेक प्रकारके स्कधोंमें कोई स्कध किसी गुणको प्रगट रूपसे दिखाते हैं कोई किसी गुणको अप्रगटपने रखते हैं। गुण, गुणीसे कभी जुदे नहीं हो सक्ते। यदि सूक्ष्मतासे देखा जावे तो इन जलादिमें अन्य गुण भी प्रगट झलक जायगे। जलको हम सूघ भी सक्ते हैं परन्तु उसकी गध स्पष्ट नहीं मालूम होगी। कभी किसी जलकी मालूम भी हो जायगी। एक वस्तु जल सयोगके विना भिन्न गधको रखती है वही वस्तु जल सयोगसे गधको बदल देती है। सूखा आटा और गीला आटा भिन्न २ गधको प्रगट करते हैं। यदि जलमें गध न होती तो ऐसा नहीं हो सक्ता। अग्निसे पकाए हुए भोजनोंमें भिन्न प्रकारका रस तथा गध होजाता है। यदि अग्निमें रस या गध नहीं होते तो ऐसा नहीं हो सक्ता था। पवनके सम्बन्धसे वृक्षादिमें भिन्न प्रकारका रस, गध, वर्ण होजाता है। यदि पवनमें ये रस, गध, वर्ण न होते तो इसके सयोगसे विलक्षणता न होती। पुद्गलोंमें अनेक जातिके परिणमन होते हैं। हम अल्पज्ञानी किसी स्कधको प्रगटपने चारों इन्द्रियोंसे न ग्रहण कर सकें परन्तु सूक्ष्मज्ञानी हरएक परमाणुमात्रमें भी चारों ही गुणोंको जानते देखते हैं। हम शक्तिके अभावसे यदि न जानें तो क्या उन गुणोंका अभाव हो सक्ता है? कदापि नहीं। शब्द भी पुद्गलकी अवस्था विशेष है। दो पुद्गलोंके एक दूसरेसे टक्कर खानेपर जो भाषा वर्गणा तीन लोकमें फैली है उनमें शब्दपना प्रगट होजाता है। यह पुद्गलका गुण नहीं है, किन्तु बाह और अतरग निमित्तसे पैदा होनेवाली एक विशेष अवस्था है।

जस्स अणेसणमप्पा तपि तओ तप्पडिच्छगा समणा।
अण्ण भिक्खमणेसणमथ ते समणा अणाहारा ॥ ४४ ॥

यस्यानेषण आत्मा तदपि तप तत्प्रत्येषका श्रमणा।
अन्यद्भैक्षमनेषणमथ ते श्रमणा अनाहारा ॥ ४४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ-(जस्स) जिस साधुका (अप्पा) आत्मा (अणेसणम्) भोजनकी इच्छासे रहित है (तपि तओ) सो ही तप है (तप्पडिच्छगा) उस तपको चाहने वाले (समणा) मुनि (अणेसणम् अण्णम् भिक्ख) एषणादोष रहित निर्दोष अन्नकी भिक्षाको लेते हैं (अथ ते समणा अणाहारा) तो भी वे साधु आहार लेनेवाले नहीं हैं।

विशेषार्थ-जिस मुनिकी आत्मामें अपने ही शुद्ध आत्मीक तत्वकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतके भोजनसे तृप्ति होरही है वह मुनि लौकिक भोजनकी इच्छा नहीं करता है। यही उस साधुका निश्चयसे आहार रहित आत्माकी भावनारूप उपवास नामका तप है। इसी निश्चय उपवासरूपी तपकी इच्छा करनेवाले साधु अपने परमात्मतत्वसे भिन्न त्यागने योग्य अन्य अन्नकी निर्दोष भिक्षाको लेते हैं तौ भी वे अनशन आदि गुणोंसे भूषित साधुगण आहारको ग्रहण करते हुए भी अनाहार होते हैं। तैसे ही जो साधु क्रिया रहित परमात्माकी भावना करते हैं वे पांच समितियोंको पालते हुए विहार करते हैं तो भी वे विहार नहीं करते हैं।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने मुनियोंकी आहार व विहारकी प्रवृत्तिका आदर्श बताया है। वास्तवमें शारीरिक क्रियाका कर्ता कर्ता

भावार्थ–जो संज्ञा आदि भेदसे मूर्तिमान है, प्रदेशापेक्षा वर्णादिमई मूर्तिसे अभेद है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार धातुओंका कारण है, परिणमन स्वभाव है, स्वयं शब्दरहित है सो परमाणु है ।

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो ।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥७९॥

भावार्थ–शब्द स्कंधोंके द्वारा पैदा होता है; स्कंध परमाणुओंके मेलसे बनते हैं और उन स्कंधोंके परस्पर संघट्ट होनेपर शब्द पैदा होता है–भाषा वर्गणा योग्य सूक्ष्म स्कंध जो शब्दके अभ्यंतर कारण हैं लोकमें हर जगह हर समय मौजूद हैं । जब तालु, ओठ आदिका व्यापार होता है या घटेकी चोट होती है या मेघादिका मिलान होता है तब भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल स्वयं शब्द रूपमें परिणमन कर जाते हैं । निश्चयसे भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल ही शब्दोंके उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ ४१ ॥

उत्थानिका–आगे आकाश आदि अमूर्त द्रव्योंके गुणोंको बताते हैं —

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं ।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥ ४२ ॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगोत्ति अप्पणो भणिदो ।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥ ४३ ॥
आकाशस्यावगाहो धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम् ।
धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुणः पुनः स्थानकारणता ॥ ४२ ॥
कालस्य वर्तना स्यात् गुण उपयोग इति आत्मनो भणितः ।
ज्ञेया संक्षेपाद् गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम् ॥४३॥ (युगलम्)

मरणकी व्याधि व वेदनाको तथा सर्व दुखोंको क्षय करनेवाली है। ऐसे साधु जिनवाणीमें निश्चय रखते हुए चारित्रका पालन करते हैं तथा जिनवचनोंको उल्लघन करके किसी भी शरीरादिकी क्रिया करनेका मनमें विचार तक नहीं करते हैं।

ऐसे वीतरागी साधुको आहार व विहारकी इच्छा कैसे हो सक्ती है। वे निरतर आत्मीकरसके पान करनेवाले हैं।

श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चयमें कहते हैं–

> आग्रहो हि शमे येषां विग्रहः कर्मशत्रुभिः ।
> विषयेषु निरासङ्गास्ते पात्रं यतिसत्तमाः ॥ २०० ॥
> निःसङ्गिनोपि वृत्ताढ्या निस्नेहाः सुश्रुतिप्रियाः ।
> अभूषा पि तपोभूषास्ते पात्रं योगिनः सदा ॥ २०१ ॥

भावार्थ–जो मुनि दातारके यहां भोजन लेते हैं वे पात्र मुनि यतियोंमें श्रेष्ठ साम्यभावमें सदा लीन रहते हैं, कर्म शत्रुओंसे सदा झगड़ते हैं तथा इन्द्रियोंके विषयोंक सगसे रहित हैं। परिग्रह व सग रहित होनेपर भी वे चारित्रधारी हैं, स्नेह रहित होनेपर भी जिनवाणीसे परम प्रेम करनेवाले हैं, लौकिक भूषण न रखते हुए भी जो तप भूषणके धारी हैं। इस तरह योगीगण आत्मकल्याण करते हैं उनके भोजन व विहारकी इच्छा कैसे होसक्ती है ॥ ४४ ॥

उत्थानिका–आगे इसी अनाहारकपनेको दूसरी रीतिसे कहते हैं—

> केवलदेहो समणो देहेवि ममेत्ति रहिदपरिकम्मो ।
> आउत्तो त तवसा अणिगूह अप्पणो सत्ति ॥ ८५ ॥
> केवलदेहः श्रमणो देहेपि ममेति रहितपरिकर्मा ।
> आयुक्तवांस्त तपसा अनिगूह्यात्मनः शक्तिम् ॥ ४५ ॥

सर्व जीवोंमें साधारण ऐसा सर्व तरह निर्मल ऐसा केवलज्ञान और केवलदर्शन जीव द्रव्यका विशेष गुण है क्योंकि अन्य पाच अचेतन द्रव्योंमें यह असम्भव है, इसी विशेष उपयोग गुणसे शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म द्रव्यका निश्चय होता है। यहा यह प्रयोजन है कि यद्यपि पाच द्रव्य जीवका उपकार करते है तो भी इनको दु खका कारण जान करके जो अक्षय और अनन्त सुख आदिका कारण विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावरूप परमात्म द्रव्य है उसीको ही मनसे ध्याना चाहिये वचनसे उसका ही वर्णन करना चाहिये तथा शरीरसे उसीका ही साधक जो अनुष्ठान या क्रिया कर्म है उसको करना चाहिये ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने अमूर्तीक पाच द्रव्योंके विशेष गुण बताये है। एक समयमें सर्व द्रव्योंको साधारण अवकाश देनेवाला कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये यह गुण सिवाय आकाशके और किसी द्रव्यमें नहीं हो सक्ता क्योंकि आकाश अनन्त है, उसीके मध्यमे अन्य पाच द्रव्य अवगाह पारहे है तथा लोकाकाशमें जहा कहीं कोई जीव या पुद्गल जगहकी जरूरत रखने है उनको अवकाश देनेवाला उदासीन कारणरूप आकाशका ही अवगाह गुण है। हरएक कार्यके लिये उपादान और निमित्त कारणकी जरूरत पडती है। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और कालके असख्यात कालाणु तो क्रिया अर्थात् हलन चलनरहित हैं, अनादिकालसे लोकाकाश व्यापी हैं। जीव पुद्गल ही क्रियावान तथा हलन चलन करते ह। ये दोनों द्रव्य अपनी ही उपादान शक्तिसे जगह लेते, चलने तथा ठहरते है। इनके इन तीन कार्योंके लिये सर्व जीव पुद्गलोंके

इस कर्म शरीरको-जिसमें आत्मा बैंद है और मुक्तिधामको नहीं जासक्ता-निरन्तर जलानेकी फिक्रमें हैं, इसलिये वे धीरवीर इस कर्म निमित्तसे प्राप्त स्थूल शरीरमें किस तरह मोह कर सक्के हैं। जो वस्त्राभूषणादि यहा ग्रहण कर लिये थे उनका तो त्याग ही कर दिया क्योंकि वे हटाए जा सक्ते थे, परन्तु शरीरका त्यागना अपने सयम पालनेसे वचित हो जाना है। यह विचार करके कि यह शरीर यद्यपि त्यागने योग्य है तथापि जबतक मुक्ति न पहुचे धर्मध्यान शुक्लध्यान करनेके लिये यही आधार है। इस शरीरसे ममता न करते हुए इसकी उसी तरह रक्षा करते हैं जिस तरह किसी सेवकको काम लेनेके लिये रक्खा जावे और उसकी रक्षा की जावे, अतएव आहार विहारमे उसको लगाकर शरीरको स्वास्थ्ययुक्त रखते हैं कि यह शरीर तप करानेमे आलसी न हो जावे। अपनी शक्ति जहा तक होती है वहा तक शक्तिको लगाकर व किसी तरह शक्तिको न छिपाकर वे साधु महात्मा बारह प्रकार तपका साधन करते हुए कर्मकी निर्जरा करते हैं। उन साधुओंको जरा भी यह ममत्व नहीं है कि इस शरीरसे इन्द्रियोंके भोग करू व इसे बलिष्ट बनाऊ-शास्त्रोक्त विधानसे ही वे आहार विहार करते हुए शरीरकी स्थिति रखने हुए परम तपका साधन करते है, इसलिये वे श्रमण भोजन करते हुए भी नहीं करनेवाले है। उनकी दशा उस शोकाकुलके समान है जो किसीके वियोगका ध्यान कर रहे हों, जिनकी रुचि भोजनके स्वादसे हट गई हो फिर भी शरीर न छूट जाय इसलिये कुछ भोजन कर लेते हों। साधुगण निरतर आत्मानदमें मग्न रहते

विशेषार्थ–हरएक जीव ससारकी अवस्थामें व्यवहार नयसे अपने प्रदेशोंमें सकोच विस्तार होनेके कारणसे दीपकके प्रकाशकी तरह अपने प्रदेशोंकी सख्यामें कमी व बढती न होता हुआ शरीरके प्रमाण आकार रखता है तौभी निश्चयसे लोकाकाशके बराबर असख्यात प्रदेशवाला है। धर्म और अधर्म सदा ही स्थित हैं उनके प्रदेश लोकाकाशके बराबर असख्यात ह। स्कध अवस्थामें परिणमन किये हुए पुद्गलोंके सख्यात, असख्यात और अनत प्रदेश होते है, किन्तु पुद्गलके व्याख्यानमें प्रदेश शब्दसे परमाणु ग्रहण करने योग्य हैं, क्षेत्रके प्रदेश नहीं क्योंकि पुद्गलोंका स्थान अनन्त प्रदेशवाला क्षेत्र नहीं है। सर्व पुद्गल असख्यात प्रदेशवाले लोकाकाशमें हैं उनके स्कध अनेक जातिके बनते हैं–सख्यात परमाणुओंके, असख्यात परमाणुओंके तथा अनत परमाणुओंके स्कध बनते हैं वे सूक्ष्म परिणमनवाले भी होते हैं इससे लोकाकाशमें सब रह सके हैं। एक पुद्गलके अविभागी परमाणुमें प्रगटरूपसे एक प्रदेशपना है मात्र शक्तिरूपसे उपचारसे बहुप्रदेशीपना है क्योंकि वे परस्पर मिल सके हैं। आकाशद्रव्यके अनत प्रदेश हैं। कालद्रव्यके बहुत प्रदेश नहीं हैं। हरएक कालाणु कालद्रव्य है सो एक प्रदेश मात्र है। कालाणुओंमें परमाणुओंकी तरह परस्पर सम्बन्ध करके स्कधकी अवस्थामें बदलनेकी शक्ति नहीं है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने पाच अस्तिकायोंको गिनाया है। जितने क्षेत्रको एक अविभागी पुद्गलका परमाणु रोकता है उसको प्रदेश कहते हैं–यह एक प्रकारका माप है। इस मापसे यदि छ द्रव्योंको न [illegible] तो अखड एक जीव द्रव्यके

उत्थानिका-आगे योग्य आहारका स्वरूप और भी विस्तारसे कहते हैं-

एक्क खलु त भत्त अप्पडिपुण्णोदर जधालद्ध ।
चरण भिक्खेण दिवा ण रसावेक्ख ण मधुमस ॥ ४९ ॥

एकः खलु स भक्त अप्रतिपूर्णोदरो यथालब्ध ।
भैक्षाचरणेन दिवा न रसापेक्षो न मधुमास ॥ ४९

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(खलु) वास्तवमे (त भत्त एक) उस भोजनको एक ही बार (अप्पडिपुण्णोदर) पूर्ण पेट न भरके ऊनोदर (जधा लद्ध) जैसा मिलगया वैसा (भिक्खेण चरण) भिक्षा द्वारा प्राप्त (रसावेक्ख ण) रसोंकी इच्छा न करके (मधुमस ण) मधु व मास जिसमें न हो वह लेना सो योग्य आहार होता है।

विशेषार्थ-साधु महाराज दिन रातमें एककाल ही भोजन लेते हैं वही उनका योग्य आहार है इसीसे ही विकल्प रहित समाधिमें सहकारी कारणरूप शरीरकी स्थिति रहनी सभव है। एकवार भी वे यथाशक्ति भूखसे बहुत कम लेते है, जो भिक्षाद्वारा जाते हुए जो कुछ गृहस्थ द्वारा उसकी इच्छासे मिल गया उसे दिनमे लेते है, रात्रिमें कभी नही। भोजन सरस है या रसरहित है। ऐसा विकल्प न करके समभाव रखते हुए मधु मास रहित व उपलक्षणसे आचार शास्त्रमें कही हुई पिंड शुद्धिके क्रमसे समस्त अयोग्य आहारको वर्जन करते हुए लेते हैं। इससे यह बात कही गई कि इन गुणों करके सहित जो आहार है वही तपस्वियोंका योग्य आहार है, क्योंकि योग्य आहार लेनेसे ही दो प्रकार हिंसाका त्याग होसक्ता है। चिदानद ... रूप निश्चय प्राणमें रागादि विकल्पोंकी

गुणोंको उसीरूप बनाए रखता है–न कोई गुण किसी द्रव्यसे छूटकर दूसरेमें मिलता है न कोई द्रव्य अन्य द्रव्य रूप होता है।

तात्पर्य यह है कि इन छहोंद्रव्योंके मध्यमें पड़े हुए अपने आत्माके स्वभावको सर्व पुद्गलादिसे भिन्न अपने निज शुद्ध स्वरूपमें अनुभव करना योग्य है ॥ ४६ ॥

उत्थानिका–जैसे एक परमाणुसे व्याप्त क्षेत्रको आकाशका प्रदेश कहते हैं वैसे ही अन्य द्रव्योंके प्रदेश भी होते हैं, ऐसा कहते हैं—

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं ।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥ ४७ ॥
यथा ते नभःप्रदेशा तथा प्रदेशा भवंति शेषाणाम् ।
अप्रदेशः परमाणु तेन प्रदेशोद्भवो भणितः ॥ ४७ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(जध) जैसे (ते णभप्पदेसा) आकाशद्रव्यके वे अनन्त प्रदेश होते हैं (तधप्पदेसा सेसाणं हवंति) तैसे ही धर्मादि अन्य द्रव्योंके प्रदेश होते हैं। (परमाणू अपदेसो) एक अविभागी पुद्गलका परमाणु बहुप्रदेशी नहीं है (तेण) उस परमाणुसे (पदेसुब्भवो भणिदो) प्रदेशकी प्रगटता कही गई है।

विशेषार्थ–एक परमाणु जितने आकाशके क्षेत्रको रोकता है उसको प्रदेश कहते हैं उस परमाणुके दो आदि प्रदेश नहीं है। इस प्रदेशकी मापसे आकाश द्रव्यकी तरह शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म द्रव्यको आदि लेकर शेष द्रव्योंके भी प्रदेश होते हैं। इनका विस्तारसे कथन आगे करेंगे।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि द्रव्योंके माप करनेका गज प्रदेश है। जितने आकाशके क्षेत्रको एक पुद्गल

लेते हैं। वे यह इच्छा नहीं करते कि हमें अमुक ही मिलना चाहिये, ऐसा उनके रागभाव नहीं उठता है। वृत्तिपरिसंख्यान तपमें व रसपरित्याग तपमें वे तपकी वृद्धिके हेतु किसी रस या भोजनके त्यागकी प्रतिज्ञा ले लेते हैं, परन्तु उसका वर्णन किसीसे नहीं करते हैं। यदि उस प्रतिज्ञामें बाधारूप भोजन मिले तो भोजन न करके कुछ भी खेद न मानते हुए बड़े हर्षसे एकांत स्थलमें जाकर ध्यान मग्न होजाते हैं। चौथी बात यह है कि वे निमंत्रणसे कहीं भोजनको जाते नहीं, स्वयं करते कराते नहीं, न ऐसी अनुमोदना करते हैं। वे भिक्षाको किसी गलीमें जाते हैं वहां जो दातार उनको भक्ति सहित पडगाह लेवे वहीं चले जाते हैं और जो उसने हाथोंपर रख दिया उसे ही खा लेते हैं। वे इतनी बात अवश्य देख लेते हैं कि यह भोजन उद्देशिक तो नहीं है अर्थात् मेरे निमित्तसे तो दातारने नहीं बनाया है। यदि ऐसी शंका होजावे तो वे भोजन न करें। जो दातारने अपने कुटुम्बके लिये बनाया हो उसीका भाग लेना उनका कर्तव्य है।

पांचवीं बात यह है कि वे साधु दिवसमें प्रकाश होते हुए भोजनको जाते हैं। रात्रिमें व अन्धेरेमें भोजनको नहीं जाते हैं। छठी बात यह है कि किसी विशेष रसके खानेकी लोलुपता नहीं रखते। वे जिह्वाइंद्रियके स्वादकी इच्छाको मार चुके हैं। सातवीं बात यह है कि वे ४६ दोष, ३२ अन्तराय व १४ मलरहित शुद्ध भोजन करते हैं उसमें किसी प्रकार मांस, मद्य, मधुका दोष हो तो शंका होनेपर उस भोजनको नहीं करते-जैन साधु अशुद्ध आहारके ... होते हैं। वे इस बातको जानते

विशेषार्थ —समय नामा पर्यायका उपादान कारण कालाणु है इससे कालाणुको समय कहते हैं। वह कालाणु दो तीन आदि प्रदेशोंसे रहित मात्र एक प्रदेशवाला है इससे उसको अप्रदेशी कहते हैं। वह कालाणु पुद्गल द्रव्यकी परमाणुकी गतिकी परिणति रूप सहकारी कारणसे वर्तन करता है। हर एक कालाणुसे हरएक लोकाकाशका प्रदेश व्याप्त है। जब एक परमाणु मंदगतिसे ऐसे पास वाले प्रदेशपर जाता है तब उसकी गतिके सहायसे काल द्रव्य वर्तन करता हुआ समय पर्यायको उत्पन्न करता है। जैसे स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे पुद्गलके परमाणुओंका परस्पर बन्ध होजाता है इस तरहका बंध कालाणुओंका कभी नहीं होसक्ता है इसलिये कालाणुको अप्रदेशी कहते हैं। यहां यह भाव है कि पुद्गल परमाणुका एक प्रदेश तक गमन होना ही सहकारी कारण है, अधिक दूर तक जाना सहकारी कारण नहीं है इससे भी ज्ञात होता है कि कालाणु द्रव्य एक प्रदेशरूप ही है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने काल द्रव्यकी वर्तनाको व उसके एक प्रदेशीपनेको समझाया है। श्री अमृतचन्द्र आचार्यकी संस्कृतवृत्तिका यह भाव है कि कालाणु द्रव्य अप्रदेशी है, वह पुद्गल द्रव्यकी तरह व्यवहारसे भी बहुत प्रदेशी नहीं है क्योंकि वह कालाणु द्रव्य आकाश द्रव्यके प्रदेशोंके प्रमाण असंख्यात द्रव्य हैं, रत्नकी राशिके समान फैले हुए हैं तथापि वे परस्पर कभी मिलते नहीं हैं। एक एक आकाशके प्रदेशको व्याप्त करके कालाणु ठहरे हुए हैं। जब पुद्गल परमाणु मंद गतिसे एक कालाणु व्याप्त आकाश प्रदेशसे निकटवर्ती ५१७ प्रदेशपर जाता है

वह न साधु है और न सम्यग्दृष्टी है। क्योंकि उसने जिन आज्ञाको उल्लंघन किया है।

साधुको बहुत भोजन नहीं करना चाहिये। वही लिखते हैं–

पढम विउलाहार विदिय कायसोहण।
तदिय गधमल्लाइ चउत्थ गीयवादय ॥ ६६७ ॥

भावार्थ–साधुको ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये चार बातें न करनी चाहिये एक तो बहुत भोजन करना दूसरे शरीरकी शोभा करना, तीसरे गंध लगाना मालाकी सुगंध लेना, चौथे गाना बजाना करना, साधु कभी भोजनकी याचना नहीं करते, कहा है—

देहोति दीणकलुस भास णेच्छ ति परिस वत्तु।
अवि णोदि अलाभेण ण य मोण भजदे धीरा ॥ ८१८ ॥

भावार्थ–मुझे ग्रास मात्र भोजन देओ ऐसी करुणा भाषा कभी नहीं कहते, न ऐसा कहते कि म ६ या ७ दिनका भूखा हू यदि भोजन न मिलेगा तो मै मर जाऊंगा मेरा शरीर कृश है, मेरे शरीरमें रोगादि हैं, आपके सिवाय हमार। [illegible]न है ऐसे दया उपजानेवाले वचन साधु नहीं कहते किन्तु भो न लाभ नहीं होनेपर मौनव्रत न हुए लौटते लौट जाते हैं–धीरवी। साधु कभी याचना नहीं करते।

हाथमें भक्तिसे दिये हुए भोजनको भी शुद्ध होनेपर ही लेते ह जैसा कहा है—

ज होज्ज वेहिअ तेहिअ च वेवण्ण जतुस सिद्ध।
अप्पासुग तु णच्चा त भिक्ख मुणी विवज्जेंति ॥ ५६
(मू० अ०)

भावार्थ–जो भोजन दो दिनका तीन दिनका व रसचलित जन्तु मिश्रित ~ अप्रासुक हो ऐसा जानकर मुनि उस

समे भिन्न २ होने पर ही एक पग एकसे उठाकर दूसरेपर नियमित रूपसे रक्खा जा सक्ता है परन्तु यदि चौरस जमीन हो तो एक नियमित रूपसे पग नहीं पड़ सक्ता है—कभी अधिक क्षेत्र उलंघा जायगा कभी कम। इसी तरह कालाणु अलग अलग हैं तब ही परमाणुकी नियमित मदगति संभव है। इस गतिकी सहायतामे ही कालकी समयनामा पर्याय होती है। इसलिये काल द्रव्यका एक प्रदेशपना सिद्ध है। इस विचारसे यह बात भी समझमें आजाती है कि लोकाकाशमें परमाणु भी भरे है और वे सब हलनचलन करते रहते हैं। एक परमाणुका कुछ हिलना ही एक कालाणुसे अन्य कालाणुपर जाना है। यही सहायक कारण है जिससे लोकाकाश व्याप्त सर्व कालाणु सदा परिणमन करते रहते हैं। परमाणु हलन चलन करते कहते हैं अर्थात् चल हैं इसका प्रमाण श्री गोम्मटसार जीवकांडमें इसतरह दिया गया है—

पोग्गलदव्वम्हि अणू संखेज्जादी हवंति चलिदा हु।
चरिममहक्खंधम्मि य चलाचला होंति हु पदेसा ॥५९२॥

भावार्थ—पुद्गलद्रव्यमें परमाणु तथा संख्यात असंख्यात आदि अणुके जितने स्कंध हैं वे सभी चल हैं, किन्तु एक अंतिम महा स्कंध चलाचल है क्योंकि उसमें कोई परमाणु चल हैं, कोई परमाणु अचल हैं। परमाणुसे लेकर पुद्गल स्कंधके २३ भेद हैं। उनमेंसे नेईसवा भेद महास्कंध हैं उसको छोडकर अणु, व संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माणवर्गणा आदि बाईसवर्गणाएं सब चलरूप हैं—हलनचलन करती रहती हैं।

(खादि) खाता है (वा पासदि) अथवा स्पर्श करता है (सो) वह (अणेक कोडीण) अनेक क्रोड (जीवाण) जीवोंके (पिंड) समूहको (क्लि) निश्चयसे (णिहणदि) नाश करता है।

विशेषार्थ—मांसपेशीमें जो कच्ची, पकी व पकती हुई हो हरसमय उस मांसकी रगत, गंध, रस व स्पर्शके धारी अनेक निगोद जीव—जो निश्चयसे अपने शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारी हैं—अनादि व अनंत कालमें भी न अपने स्वभावसे न उपजते न विनशते हैं, ऐसे जंतु व्यवहारनयसे उत्पन्न होते रहते हैं। जो कोई ऐसे कच्चे२ पके मांस खंडको अपने शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतको न भोगता हुआ खाता है अथवा स्पर्श भी करता है वह निश्चयसे लोकोंके कथनसे व परमागममें कहे प्रमाण करोडों जीवोंके समूहका नाशक होता है।

भावार्थ—इन दो गाथाओंमें—जिनकी वृत्ति श्री अमृतचंद्रकृत टीकामें नहीं है—आचार्यने बताया है कि मांसका दोष सर्वथा त्यागने योग्य है। मांसमें सदा सम्मूर्छन जंतु त्रस उसी जातिके उत्पन्न होते हैं जैसा वह मांस होता है। वेगिनती त्रसजीव पैदा हो होकर मरते हैं इसीसे मांसमें कभी दुर्गंध नहीं मिटती है। द्वेन्द्रियसे पचेंद्रिय तक जंतुओंके मृतक कलेवरको मांस कहते हैं। साक्षात् मांस खाना जैसा अनुचित है वैसा ही जिन वस्तुओंमें त्रसजंतु उत्पन्न हो होकर मर उन वस्तुओंको भी खाना उचित नहीं है, क्योंकि उनमें त्रस जंतुओंका मृतक कलेवर मिल जाता है। इसीलिये सदा ही ताजा शुद्ध भोजन गृहस्थको करना चाहिये और उसीमेंसे मुनियोंको दान करना चाहिये। वासी, सड़ा, वसा भोजन

एक समयमें १४ राजू जासक्ता है तथापि उस समयके भाग नहीं हो सक्ते। जितना समय परमाणुको निकटके कालाणुपर आनेमें लगता है उतना ही समय उसको १४ राजू जानेमें लगता है। यह परमाणुकी विलक्षण शक्ति है। जैसे एक आकाशके प्रदेशकी यह विलक्षण शक्ति है कि एक परमाणुसे व्याप्त होनेपर भी अनंत अन्य परमाणुओंको स्थान दे सक्ता है और इस प्रदेशके अंश नहीं होते हैं वैसे समयके अंश नहीं होसक्ते हैं।

यह बात पहले भी कही गई कि कालाणुओंको भिन्न २ माननेपर ही समय पर्याय होसक्ती है। भिन्न २ कालाणुओंके होते हुए एक कालाणु परसे दूसरेपर जाने लगे समय पर्याय प्रगट होती है। एक अखंड लोकाकाश प्रमाण काल द्रव्य माननेसे नियमित गतिका अभाव होनेसे समय पर्याय नहीं होसक्ती। जैन आगममें जो काल द्रव्यका कथन है उसको अच्छी तरह निश्चय करके यह काल अनादि अनन्त है ऐसा जानकर तथा अपने आत्माको अनादि कालसे संसारवनमें भटकता मानकर अब इसको मोक्ष मार्गमें चलानेके लिये निज शुद्धात्माका श्रद्धान, ज्ञान व अनुभव करना चाहिये जिससे यह निज परमात्मस्वभावको पाकर कृतकृत्य और सिद्ध होजावे, यह अभिप्राय है ॥ ४९ ॥

इस तरह कालके व्याख्यानकी मुख्यतासे छठे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे जिसका पहले कथन किया है उस प्रदेशका स्वरूप कहते हैं—

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं ।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवकासं ॥ ५० ॥

भोजनकी भिक्षाको मुनिगण लेते हैं। यहा यह भाव बताया गया है कि शेष कन्दमूल आदि आहार जो एकेंद्रिय अनन्तकाय हैं वे तो अग्निसे पकाए जानेपर प्रासुक होजाते हैं तथा जो अनन्त त्रस-जीवोंकी खान है सो अग्निसे पक्त हो, पक रहा हो व न पका हो कभी भी प्रासुक अर्थात् जीव रहित नहीं हो सक्ता है इस कारणसे सर्वथा अभक्ष्य है ॥ ४८॥

उत्थानिका-आगे इस बातको कहते हैं कि हाथपर आया हुआ आहार जो प्राशुक हो उसे दूसरोंको न देना चाहिये।

अप्पडिकुट्ठ पिंड पाणिगय णेव देयमण्णस्स।
दत्ता भोत्तुमजोग्ग भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ॥ ४९ ॥

अप्रतिकुष्ट पिंड पाणिगत नैव देयमन्यस्मै।
दत्वा भोक्तुमयोग्य भुक्तो वा भवति प्रतिकुष्ट ॥ ४९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(अप्रतिकुष्ट पिंड) आगमसे जो आहार विरुद्ध हो (पाणिगत) सो हाथपर आजावे उसे (अण्णस्स णेव देयम्) दूसरेको देना नहीं चाहिये। (दत्ता भोत्तुमजोग्ग) दे करके फिर भोजन करनेके योग्य नहीं होता है (भुत्तो वा पडिकुट्ठो होदि) यदि कदाचित उसको भोग ले तो प्रायश्चितके योग्य होता है।

विशेषार्थ-यहा यह भाव है-कि जो हाथमें आया हुआ शुद्ध आहार दूसरको नहीं देता है किन्तु खालेता है उसके मोह रहित आत्मतत्वकी भावनारूप मोहरहितपना जाना जाता है।

भावार्थ-इस गाथाका-जो अमृतचद्रकृत टीकामें नहीं है-यह भाव है कि जो शुद्ध प्राशुक भोजन उनके हाथमें रक्खा जावे

उसे प्रदेश कहते हैं उसमें यह ताकत है कि अनन्त परमाणु छुटे हुए उतनी ही जगहमें आसक्ते है इतना ही नहीं सूक्ष्म अनेक स्कंध भी समासक्ते हैं। उस परमाणुमें बाधा डालनेकी शक्ति नहीं है क्योंकि परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म होता है। लोकाकाशके प्रदेश असख्यात हैं तथापि उसमें असख्यात कालाणु धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य, अनन्तानन्त जीव तथा उससे भी अनतगुणे पुद्गल समाए हुए हैं और सुखसे कार्य करते हैं। यह आकाशकी एक विलक्षण अवकाशदान शक्ति है तथा सूक्ष्म स्कंध व परमाणुओंमें भी यथा-सम्भव अवकाशदानशक्ति है। यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है कि प्रकाशके पुद्गल स्थूल सूक्ष्म जातिके हैं। एक कमरेके आकाशमें यदि एक प्रकाश फैल जावे तो भी वहा हजारो दीपक जलाए जासक्ते है और उन सबका प्रकाश उतने ही कमरेमें समा जाता है। उस कमरेके आकाशने तथा स्थूल सूक्ष्म प्रकाशने अन्य प्रकाशके आनेमें कोई बाधा नहीं डाली। ऐसे प्रकाशसे भरे हुए कमरेमे गर्दा डाले तो भी समा जायगी। अनेक छोटे २ जन्तु घरमें उनको भी जगह मिल जगह मिल जायगी। मनुष्य-स्त्री पुरुष बैठे उठे तो भी अवकाश मिल जायगा। यह कमरेका दृश्य ही इस बातका समाधान कर देता है कि लोकाकाशमें अनन्तानत द्रव्योंके अव-काश पानेमें कोई बाधा नहीं है। यद्यपि आकाश अखड है तथापि उसके पदार्थोंकी अपेक्षा खड कल्पना किये जासक्ते हैं जैसे घटा काश, पटाकाश आदि। वृत्तिकारने युगल मुनियोंको ध्यान मग्न अवस्थामें दिखाया है कि उनके हरएकका क्षेत्र अलग २ ही माना जायगा तब ही वे दो भिन्न २ दीखेंगे। उन दोनोंमें एकके क्षेत्र

विशेषार्थ-प्रथम ही उत्सर्ग और अपवादका लक्षण कहते हैं। अपने शुद्ध आत्माके पासमे अन्य सर्व भीतरी व बाहरी परिग्रहका त्याग देना सो उत्सर्ग है इसीको निश्चयनयमे मुनि धर्म कहते हैं। इसीका नाम सर्व परित्याग है, परमोपेक्षा सयम है, वीतराग चारित्र है, शुद्धोपयोग है-इस सबका एक ही भाव है। इस निश्चय मार्गमें जो ठहरनेको समर्थ न हो वह शुद्ध आत्माकी भावनाके सहकारी कुछ भी प्रासुक आहार, ज्ञानका उपकरण शास्त्रादिको ग्रहण कर लेता है यह अपवाद मार्ग है। इसीको व्यवहारनयसे मुनि धर्म कहते है। इसीका नाम एक देश परित्याग है, अपहृत सयम है, सरागचारित्र है, शुभोपयोग है, इन सबका एक ही अर्थ है। जहा शुद्धात्माकी भावनाके निमित्त सर्व त्याग स्वरूप उत्सर्ग मार्गके कठिन आचरणमें वर्तन करता हुआ साधु शुद्धात्मतत्वके साधकरूपमे जो मूल सयम है उसका तथा सयमके साधक मूल शरीरका जिस तरह नाश नहीं होवे उस तरह कुछ भी प्रासुक आहार आदिको ग्रहण कर लेता है सो अपवादकी अपेक्षा या सहायता सहित उत्सर्ग मार्ग कहा जाता है। और जब वह मुनि अपवाद रूप अपहृत सयमके मार्गमे वर्तता है तब भी शुद्धात्मतत्वका साधकरूपसे जो मूल सयम है उसका तथा मूल सयमके साधक मूल शरीरका जिस तरह विनाश न हो उस तरह उत्सर्गकी अपेक्षा सहित वर्तता है-अर्थात् इस तरह वर्तन करता है जिसतरह सयमका नाश न हो। यह उत्सर्गकी अपेक्षा सहित अपवाद मार्ग है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने दयापूर्वक बहुत ही स्पष्ट रूपसे मुनि मार्गपर चलनेकी विधि बताई है। निश्चय मार्ग तो

और केवलज्ञानादि प्रगटरूप अनन्त गुणोंके आधारभूत, लोकाकाश-प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेशोंका जो प्रचय या समूह या समुदाय या राशि है उसको तिर्यक् प्रचय, तिर्यक् सामान्य, विस्तार सामान्य या अक्रम अनेकान्त कहते हैं। यह प्रदेशोंका समुदायरूप तिर्यक् प्रचय जैसे मुक्तात्मा द्रव्यमें कहा गया है तैसे कालको छोड़कर अन्य द्रव्योंमें अपने अपने प्रदेशोंकी संख्याके अनुसार तिर्यक् प्रचय होता है ऐसा कथन समझना चाहिये। तथा समय समय वर्तनेवाली पूर्व और उत्तर पर्यायोंकी सन्तानको ऊर्ध्व प्रचय, ऊर्ध्व सामान्य, आयत सामान्य, या क्रम अनेकान्त कहते हैं। जैसे मोतीकी मालाके मोतियोंको क्रमसे गिना जाता है इसी तरह द्रव्यकी समय २ में होनेवाली पर्यायोंको क्रमसे गिना जाता है। इन पर्यायोंके समूहको ऊर्ध्व सामान्य कहते हैं। यह सब द्रव्योंमें होता है। किन्तु कालके सिवाय पांच द्रव्योंकी पूर्व उत्तर पर्यायोंका सन्तान रूप जो ऊर्ध्व प्रचय है उसका उपादान कारण तो अपना अपना द्रव्य है परन्तु कालद्रव्य उनके लिये प्रति समयमे सहकारी कारण है। परंतु जो कालद्रव्यका समय सन्तान रूप ऊर्ध्व प्रचय है उसका काल ही उपादान कारण है और काल ही सहकारी कारण है। क्योंकि कालसे भिन्न कोई और समय नहीं है। कालकी जो पर्यायें हैं वे ही समय हैं ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ—एक समयमें ही बिना क्रमके अनेक प्रदेशोंके समूहका बोध करानेवाला विस्तार तिर्यक् प्रचय है। अनंत समयोंमें क्रमसे होनेवाली पर्यायोंकी राशिका बोध करानेवाला ऊर्ध्व प्रचय है। जैसे एक मैदान है और एक सीढ़ी है। मैदानकी चौड़ाई

ध्यानमें ही जमे रहेगा वह थक जानेपर यदि अपवाद या व्यवहार मार्गको न पावेगा तो अवश्य संयमसे भृष्ट होगा व शरीरका नाश कर देगा। और जो कोइ अज्ञानी शुद्धात्माकी भावनाकी इच्छा छोडकर केवल व्यवहार रूपसे मूल गुणोंके पालनेमें ही लगा रहेगा वह द्रव्यलिंगी रहकर भावलिंगरूप मूल संयमका घात कर डालेगा। इसलिये निश्चय व्यवहारको परस्पर मित्र भावसे ग्रहण करना चाहिये।

जब व्यवहारमे वर्तना पडे तब निश्चयकी तरफ दृष्टि रक्खे और यह भावना भावे कि कब मैं शुद्धात्माके बागमें रमण करूं और जब शुद्धात्माके बागमें क्रीड़ा करते हुए किसी शरीरकी निर्बलताके कारण असमर्थ हो जावे तबतक निश्चय तथा व्यवहारमें गमनागमन करता हुआ मूल संयम और शरीरकी रक्षा करते हुए वर्तना ही मुनि धर्म साधनकी यथार्थ विधि है। इस गाथासे यह भी भाव झलकता है कि अठाईस मूलगुणोंकी रक्षा करते हुए अनशन ऊनोदर आदि तपोंको यथाशक्ति पालन करना चाहिये। जो शक्ति कम हो तो उपवास न करे व कम करे। वृत्ति परिसंख्यानमें कोई बड़ी प्रतिज्ञा न धारण करें। इत्यादि, आकुलता व आर्त्तध्यान चित्तमें न पैदा करके समताभावसे मोक्ष मार्ग साधन करना साधुका कर्तव्य है।

तात्पर्य यह है कि साधुको जिस तरह बने भावोंकी शुद्धिता बढानेका यत्न करना चाहिये। मूलाचारमें कहा है–

भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गइ होई।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी॥ ९६५॥

भावार्थ–जो अतरंग भावोंसे विरागी है वही विरक्त है।

कारण पुद्गल परमाणुका हिलना है अर्थात् एक कालाणुसे निकटवर्ती कालाणुपर आना है। समय पर्याय कालद्रव्यके विना माने नहीं हो सक्ती है। जैसे आत्माको ध्रौव्य मानते हुए ही उसमें देव पर्यायका नाश और मनुष्य पर्यायका उत्पाद एक समयमें विग्रह गतिकी अपेक्षा मनुष्य आयु कर्मके उदयके कारण सिद्ध होते हैं तैसे ही कालद्रव्यको मानते हुए ही उसमें पूर्व समय पर्यायका नाश और वर्तमान पर्यायका उत्पाद सिद्ध होसक्ता है। वही पर्याय उपजे वही नष्ट हो यह असंभव है। किसी आधाररूप द्रव्यके होते ही उसमें अवस्थाए होसक्ती हैं। जैसे सुवर्ण द्रव्यको मानते हुए ही सोनेकी दशा पलट सक्ती है, वह कुंडलसे कंकणकी पर्यायमें बदला जा सक्ता है अर्थात् सुवर्णके स्थिर रहते हुए कुंडल पर्यायको नाशकर कंकण पर्याय पैदा होती है। कुंडल पर्याय मात्रमें नाश और उत्पाद नहीं बन सके। जब वह नाश होगा तब कुंडलका जन्म नहीं होगा। सुवर्णके रहते हुए ही जब कुन्डल नष्ट होता है तब कंकण पैदा होता है। वास्तवमें अन्वयरूपसे वर्तनेवाले सुवर्णके स्थिर होतेहुए ही उसमें दो भिन्न२ समयोंकी अपेक्षा दो भिन्न पर्यायें होसक्ती हैं। एक क्षणमें तो एक ही पर्याय झलकेगी, दो नहीं रह सकीं, क्योंकि वर्तमानकी पर्याय पूर्व पर्यायको नाश कर ही प्रगट हुई है। वास्तवमें देखा जावे तो हरएक द्रव्य अपने भीतर अपनी अनन्त पर्यायोंको शक्ति रूपसे रखता है उनमेंसे एक क्षणमें एक पर्याय प्रगट होती है तब और सब मात्र शक्ति रूपसे रहती हैं। पर्यायोंका तिरोभाव आविर्भाव हुआ करता है। जो नष्ट हुई ... ाव जो प्रगटी उसका आविर्भाव हो-

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(जदि) यदि (समणो) साधु (आहारे व विहारे) आहार या विहारमें (देस काल समं खम उवधिं ते जाणित्ता) देशको, समयको, मार्गकी थकनको, उपवासकी क्षमता या सहनशीलताको, तथा शरीररूपी परिग्रहकी दशाको इन पांचोंको जानकर (वट्टदि) वर्तन करता है (सो अप्पलेवी) वह बहुत कम कर्मबंधसे लिप्त होता है।

विशेषार्थ-जो शत्रु मित्रादिमें समान चित्तको रखनेवाला साधु तपस्वीके योग्य आहार लेनेमें तथा विहार करनेमें नीचे लिखी इन पांच बातोंको पहले समझकर वर्तन करता है वह बहुत कम कर्मबंध करनेवाला होता है (१) देश या क्षेत्र कैसा है (२) काल आदि किस तरहका है (३) मार्ग आदिमें कितना श्रम हुवा है व होगा (३) उपवासादि तप करनेकी शक्ति है या नहीं (४) शरीर बालक है, या वृद्ध है या थकित है या रोगी है। ये पांच बातें साधुके आचरणके सहकारी पदार्थ हैं। भाव यह है कि यदि कोई साधु पहले कहे प्रमाण कठोर आचरणरूप उत्सर्ग मार्गमें ही वर्तन करे और यह विचार करे कि यदि मैं प्रासुक आहार आदि ग्रहणके निमित्त जाऊंगा तो कुछ कर्मबंध होगा इस लिये अपवाद मार्गमें न प्रवर्ते तो फल यह होगा कि शुद्धोपयोगमें निश्चलता न पाकर चित्तमें आर्तध्यानसे सक्लेश भाव हो जायगा तब शरीर त्यागकर पूर्वकृत पुण्यसे यदि देवगतिमें चला गया तो वहां दीर्घकालतक संयमका अभाव होनेसे महान कर्मका बन्ध होवेगा इसलिये अपवादकी अपेक्षा न करके उत्सर्ग मार्गको साधु त्याग देता है तथा शुद्धात्माकी भावनाको,

किया गया वैसा ही सर्व समयोंमें जानना योग्य है। यहां यह तात्पर्य निकालना चाहिये कि यद्यपि भूतकालके अनन्त समयोंमें दुर्लभ और सब तरहसे ग्रहण करने योग्य सिद्धगतिका काललब्धिरूपसे बाहरी सहकारीकारण काल है तथापि निश्चय नयसे अपने ही शुद्ध आत्माके तत्वका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र तथा सर्व परद्रव्यकी इच्छाका निरोधमई लक्षणरूप तपश्चरण इस तरह यह जो निश्चय चार प्रकार आराधना यही उपादान कारण है, काल उपादान कारण नहीं है इससे कालद्रव्य त्यागने योग्य है यह भावार्थ है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट रूपसे कह दिया है कि काल द्रव्य नित्य है। एक कालाणु एक स्वतंत्र काल द्रव्य है इस तरह असंख्यात कालाणु असंख्यात काल द्रव्य हैं। [illegible] ही रहते हैं जो सदा ही प्रवाह रूपसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य [illegible] को रखता है। यह लक्षण भले प्रकार काल द्रव्यमें [illegible] गया। काल द्रव्यका वर्तना गुण है उस वर्तना [illegible] समय है। पर्याय एक समय मात्र रहती है। हरएक [illegible] एक पर्याय पैदा होती है तब पुरानीको नाश [illegible] और पर्यायोंका उत्पाद व्यय विना किसी आश्रय [illegible] सक्ता है। सुवर्णके रहते हुए ही उसकी कड़ई [illegible] कर कुंडलरूप होसक्ती है। इसी तरह [illegible] रहता है। उसीमें समयपर्याय हर समय [illegible] इससे यह अच्छी तरह निश्चित है कि [illegible] काल द्रव्य है।

आहार ग्रहण करे, शरीरको स्वस्थ रखता हुआ वारवार उत्सर्गमार्गमें आरूढ होता रहे। इसी विधिसे साधु संयमका ठीक पालन कर सक्ता है। जो ऐसा हठ करें कि मैं तो ध्यानमें ही बैठा रहूंगा न शरीरकी थकन मेटूंगा, न उसे आहार दूंगा, न शरीरसे मल हटानेको शौच करूँगा तो फल यह होगा कि शक्ति न होनेपर कुछ काल पीछे मन घबड़ा जायगा और पीड़ा चिन्तवन आर्तध्यान हो जावेगा। तथा मरण करके कदाचित् देव आयु पूर्व बांधी हो तो देवगतिमें जाकर बहुत काल संयमके लाभ विना गमाएगा। यदि वह अपवाद या व्यवहार मार्गमें आकर शरीरकी सम्हाल करता रहता तो अधिक समय तक संयम पालकर कर्मोंकी निर्जरा करता इससे ऐसे उत्सर्ग मार्गका एकांत पकड़नेवालेने थोड़े कर्म बंधके भयसे अधिक कर्म बंधको प्राप्त किया। इससे लाभके बदले हानि ही उठाई। इसलिये ऐसे साधुको अपवादकी सहायता लेकर उत्सर्ग मार्ग सेवन करना चाहिये। दूसरा एकांती साधु मात्र अपवाद मार्गका ही सेवन करे। शास्त्र पढ़े विहार करे, शरीरको भोजनादिसे रक्षित करे, परन्तु शुद्धोपयोगरूप उत्सर्ग मार्गपर जानेकी भावना न करे। निश्चय नय द्वारा शुद्ध तत्वको न अनुभवे, प्रतिक्रमण व सामायिक पाठादि पढ़े सो भी भाव साधुपनेको न पाकर अपना सच्चा हित नहीं कर सकेगा अथवा व्यवहार मार्गका एकांती साधु शरीर शोषक कठिन कठिन तपस्या करे--भोजन आदि करूंगा तो अल्प बंध होगा ऐसा भय करके शरीरको स्वास्थ्ययुक्त व निराकुल न बनावे और अपने योगको शुद्धात्माके [illegible] यह भी एकांती [illegible]

(अत्थीदो अत्थंतरभूदम्) वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप अस्तित्वसे अर्थांतरभूत अर्थात् भिन्न होजायगा क्योंकि उसमें एक प्रदेश भी नहीं है जिससे उसकी सत्ताका बोध हो।

विशेषार्थ—जैसा पूर्व सूत्रमें कहा है उस प्रकार काल पदार्थमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप अस्तित्व विद्यमान है। यह अस्तित्व प्रदेशके विना नहीं घट सक्ता है। जो प्रदेशवान् है वही काल पदार्थ है। कोई कहे कि कालद्रव्यके अभावमे भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य घट जायगा? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं हो सक्ता। जैसे अंगुली द्रव्यके न होते हुए वर्तमान वक्र पर्यायका जन्म और भूतकालकी सीधी पर्यायका विनाश तथा दोनोंके आधारभूत ध्रौव्य किसका होगा? अर्थात् किसीका भी न होगा तैसे ही कालद्रव्यके अभावमें वर्तमान समय रूप उत्पाद व भूत समय रूप विनाश व दोनोंका आधार रूप ध्रौव्य किसका होगा? किसीका नहीं होसक्ता। यदि सत्तारूप पदार्थको न माने तो यह होगा कि विनाश किसी दूसरेका उत्पाद किसी अन्यका व ध्रौव्य किसी औरका होगा। ऐसा होते हुए सर्व वस्तुका स्वरूप बिगड़ जायगा। इसलिये वस्तुके नाशके भयसे यह मानना पड़ेगा कि उत्पाद व्यय ध्रौव्यका कोई भी एक आधार है। वह इस प्रकरणमें एक प्रदेश मात्र कालाणु पदार्थ ही है। यहां यह तात्पर्य समझना कि भूत अनन्त कालमें जितने कोई सिद्ध सुखके पात्र हो चुके हैं व भविष्यकालमें अपने ही उपादानसे सिद्ध व स्वयं अतिशयरूप इत्यादि विशेषणरूप अतीन्द्रिय सिद्ध सुखके पात्र होवेंगे वे सब ही काल लब्धिके वशसे ही हुए हैं व होंगे। तो भी

(२) कालका भी विचार करना जरूरी है। यह ऋतु कैसी है, शीत है या उष्ण है या वर्षाकाल है, अधिक उष्णता है या अधिक शीत है, सहनयोग्य है या नहीं, कालका विचार देशके साथ भी कर सके है कि इस समय किस देशमें कैसी ऋतु है वहा सयम पल सकेगा या नहीं। भोजनको जाते हुए अटपटी आखडी देश व कालको विचार कर लेवे कि जिससे शरीरको पीडा न उठ जावे। जब शरीरकी शक्ति अधिक देखे तब कड़ी प्रतिज्ञा लेवे जब हीन देखे तब सुगम प्रतिज्ञा लेवे। जिस रस या वस्तुके त्यागसे शरीर बिगड जावे उसका त्याग न करे। ऋतुके अनुसार क्या भोजन लाभकारी होगा उसको बला करके त्याग न कर बैठे। प्रयोजन तो यह है कि मैं स्वरूपाचरणमें रमू उसके लिये शरीरको बनाए रक्खू। इस भावनासे योग्यताके साथ वर्तन करे।

(३) अपने परिश्रमकी भी परीक्षा करे—कि मैंने ग्रथ लेखनमें, शास्त्रोपदेशमे, विहार करनेमें इतना परिश्रम किया है अब शरीरको स्वास्थ्य लाभ कराना चाहिये नहीं तो यह किसी कामका न रहेगा। ऐसा विचार कर शरीरको आहारादि करानेमें प्रमाद न करे।

(४) अपनी सहनशीलताको देखे कि मैं कितने उपवासादि तप व कायक्लेशादि तप करके नहीं घबडाऊगा। जितनी शक्ति देखे उतना तप करे। यदि अपनी शक्तिको न देखकर शक्तिसे अधिक तप कर ले तो आर्तध्यानी होकर धर्मध्यानसे डिग जावे और उल्टी अधिक हानि करे।

(५) अपने शरीरकी दशाको देखकर योग्य आहार ले या थोडी या अधिक दूर विहार करे। मेरा शरीर बालक है या वृद्ध

जब कालाणु द्रव्य एक प्रदेश मात्र भिन्न२ होगा तब ही एक पुद्गलका परमाणु एक कालाणुसे दूसरे कालाणुपर जायगा और तब ही समयपर्याय उत्पन्न होगी। जो कालाणु जुदे जुदे होनेसे ही समयपर्यायका भेद सिद्ध होगा। जो लोकाकाशप्रमाण अखण्ड एक कालद्रव्य होवे तो समयपर्यायकी सिद्धि कैसे होसक्ती है? यदि कोई कहे कि कालद्रव्य लोकाकाश प्रमाण असख्यात प्रदेशी है उसके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जब पुद्गल परमाणु जायगा तब समयपर्यायकी सिद्धि होजायगी? तो उसका उत्तर यह है कि ऐसा नहीं होसक्ता क्योंकि एक प्रदेशरूप वर्तनेका सर्व प्रदेशोंमें वर्तनेसे विरोध है "एकदेशवृत्ते सर्ववृत्तित्वविरोधात्" अर्थात् जब एक प्रदेशमात्रमें वर्तन हुआ और शेषमें न हुआ तब काल द्रव्यका वर्तन ही न बना तथा अखड कालद्रव्यमें परमाणुके जानेका नियम नहीं रहेगा कि वह इतनी दूर जावे क्योंकि प्रदेशोंकी भिन्नता नहीं है। इससे समय पर्यायका भेद नहीं होसकेगा, क्योंकि काल पदार्थका जो सूक्ष्म परिणमन है वही समय है वह भेद भिन्न २ कालाणुओंके माननेसे ही सिद्ध हो सक्ता है, एकतासे नहीं। जैसा श्री अमृतचद्रजीने कहा है कि "सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य य सूक्ष्मो वृत्त्यश स समयो, न तत्तदेकदेशस्य" अर्थात् सर्व ही काल पदार्थका जो सूक्ष्म वर्तन है वह समय है उसके एक देशके वर्तनसे समय नहीं हो सक्ता। दूसरा दोष यह होगा कि जो तिर्यक् प्रचय है वही ऊर्ध्व प्रचय हो जायगा। जैसे आकाशका तिर्यक् प्रचय है वैसे कालके तिर्यक् प्रचय होगा क्योंकि वह कालद्रव्य पहले एक प्रदेशमें वर्तेगा फिर दूसरेमें फिर तीसरेमें

तथानुष्ठेयमेतद्धि पण्डितेन हितैषिणा ।
यथा न विक्रिया याति मनोऽत्यर्थं विपत्स्वपि ॥१६५॥
सङ्क्लेशो नहि कर्तव्य स क्लेशो बन्धकारण ।
स क्लेशपरिणामेन जीवो दु खस्य भाजन ॥ १६७ ॥
स क्लेशपरिणामेन जीव प्राप्नोति भूरिश ।
सुमहत्कर्मसम्बन्ध भवकोटिषु दु खदम् ॥ १६८ ॥

भावार्थ—आत्महितको चाहनेवाले पंडितजनका कर्तव्य है कि इस तरह चारित्रको पाले जिससे विपत्ति या उपसर्ग परीषह आनेपर भी मन अतिशय करके विकारी न हो, मनमें सक्लेश या दु खित परिणाम कभी नहीं करना चाहिये ।

क्योंकि यह सक्लेश कर्मबधका कारण है । ऐसे आर्त्तभावोंसे यह जीव दु खका पात्र हो जाता है—सक्लेश भावमे यह जीव करोड़ों भवोंमें दु ख देनेवाले महान् कर्मबन्धको प्राप्त होजाता है ।

भाव यही है कि मनमें शुद्धोपयोग और शुभोपयोग इन दोके सिवाय कभी अशुभोपयोगको स्थान नहीं देना चाहिये ।

इस तरह 'उवयरण जिणमग्गे' इत्यादि ग्यारह गाथाओंसे अपवाद मार्गका विशेष वर्णन करते हुए चौथे स्थलका व्याख्यान किया गया । इस तरह पूर्व कहे हुए क्रमसे ही "णिरवेक्खो-जोगो" इत्यादि तीस गाथाओंसे तथा चार स्थलोंसे अपवाद नामका दूसरा अतर अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ९१ ॥

इसके आगे चौदह गाथाओं तक श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्ग नामका अधिकार कहा जाता है । इसके चार स्थल हैं उनमेंसे पहले ही आगमके अभ्यासकी मुख्यतासे "एयग्गमणो" इत्यादि यथाक्रमसे पहले स्थलमें चार गाथाएं हैं । इसके पीछे भेद व

काल पर्याय समय है वह कालाणुके भिन्न२पनेसे सिद्ध होता है, एकतासे नहीं। और भी कालके अखंड माननेसे दोष आता है। कालके तिर्यक् प्रचय नहीं है, ऊर्ध्व प्रचय है। जो कालको असंख्यात प्रदेशी माना जावे तो कालके तिर्यक् प्रचय होना चाहिये वही तिर्यक्, ऊर्ध्व प्रचय हो जावेगा। वह इस तरहसे होगा कि असंख्यात प्रदेशी काल प्रथम तो एक प्रदेशकर प्रवृत्त होता है इससे आगे अन्य प्रदेशकर प्रवृत्त होता है। इससे भी आगे अन्य प्रदेशकर प्रवृत्त होता है इस तरह क्रमसे असंख्यात प्रदेशोंमें प्रवृत्त होवे तो तिर्यक् प्रचय ही ऊर्ध्व प्रचय हो जायगा। एक एक प्रदेश विषै कालद्रव्यको क्रमसे प्रवृत्त होनेसे कालद्रव्य भी प्रदेश मात्र ही सिद्ध होता है। इस कारण जो पुरुष तिर्यक् प्रचयको ऊर्ध्व प्रचय दोष नहीं चाहते हैं वे पहले ही प्रदेशमात्र कालद्रव्यको मानें जिससे कि कालद्रव्यकी सिद्धि अच्छी तरह होव।"

भाव यह है कि यदि असंख्यात प्रदेशी कालको अखंड माना जावे तो उस अखंडकी एक साथ एक पर्याय होनी चाहिये [illegible] लिये [illegible] कोई हो नहीं सक्ता। [illegible] एक परमाणु भिन्न२ [illegible] कालाणु होनेपर ही एक कालाणुसे दूसरेपर मंद गतिसे जा सक्ता है तब समयपर्याय होती है। अखंड द्रव्यमें कहांसे कहां कालाणु जावे यह नियम न रहेगा। इस लिये कालद्रव्यको एक प्रदेशमात्र मानना होगा।

इस गाथामें आचार्यने यह बता दिया है कि कालद्रव्य है क्योंकि समय पर्यायका प्रगटपना है। एक समय जब उदय होता है तब पिछला समय नष्ट होता है। यह समयकी अवस्थाके पलटनेका,

लगा हुआ है सो श्रमण है। टांकीमें उकेरेके समान ज्ञाता द्रष्टा एक स्वभावका धारी जो परमात्मा पदार्थ हैं उसको आदि लेकर सर्व पदार्थोंमें जो साधु श्रद्धाका धारी हो उसीके एकाग्रभाव प्राप्त होता है। तथा इन जीवादि पदार्थोंका निश्चय आगमके द्वारा होता है। अर्थात् जिस आगममें जीवोंके भेद तथा कर्मोंके भेदादिका कथन हो उसी आगमका अभ्यास करना चाहिये। केवल पढ़नेका ही अभ्यास न करे किन्तु आगमोंमें सारभूत जो चिदानन्दरूप एक परमात्मतत्वका प्रकाशक अध्यात्म ग्रंथ है व जिसके अभ्याससे पदार्थका यथार्थ ज्ञान होता है उसका मनन करे। इस कारणसे ही उस ऊपर कहे गए आगम तथा परमागममें जो उद्योग है वह श्रेष्ठ है। ऐसा अर्थ है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बतलाया है कि शुद्धोपयोगका लाभ उसी समय होगा जब कि जीव अजीव आदि तत्वोंका यथार्थज्ञान और श्रद्धान होगा। जिसने सर्व पदार्थोंके स्वभावको समझ लिया है तथा अध्यात्मिक ग्रन्थोंके मननसे निज आत्माको परमशुद्ध केवलज्ञानका धनी निश्चय किया है वही श्रद्धा तथा ज्ञान पूर्वक स्वरूपाचरणमें रमण कर सक्ता है। पदार्थोंका ज्ञान जिन आगमके अच्छी तरह पठन पाठन व मनन करनेसे होता है इस लिये साधुको जिन आगमके अभ्यासकी चेष्टा अवश्य करनी चाहिये, विना आगमके अभ्यासके भाव लिंगका लाभ होना अतिशय कठिन है, उपयोगकी थिरता पाना बहुत कठिन काम है। ज्ञानी जीव ज्ञानके बलसे पदार्थोंका स्वरूप ठीक ठीक समझके समदर्शी होसक्ता है।

व्यवहारनयसे पदार्थोंका स्वरूप अनेक भेदरूप व अनेक पर्यायरूप है जब कि निश्चयनयसे हरएक पदार्थ अपने२ स्वरूपमें

हुआ (लोगो) यह लोकाकाश (सपदेसेहिं समग्गो) अपने ही असंख्यात प्रदेशोमे पूर्ण है और (अट्ठेहिं णिट्ठिदो) महज शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप परमात्म पदार्थको आदि लेकर अन्य पदार्थोंसे भरा हुआ है अथवा अपने अपने प्रदेशोको रखनेवाले पदार्थोंसे भरा हुआ है (जो तं जाणदि) जो कोई इस ज्ञेय रूप लोकको जानता है (जीवो) सो जीव पदार्थ है तथा यह (पाणचदुक्काहिसंबद्धो) संसार अवस्थामें व्यवहारसे चार प्राणोंका सम्बन्ध रखता है।

विशेषार्थ–निश्चयसे यह जीव शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी है इसलिये यह ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है। शेष सब पदार्थ मात्र ज्ञेय ही हैं इस तरह ज्ञाता और ज्ञेयका विभाग है। तथा यद्यपि निश्चय यह स्वयसिद्ध परम चैतन्य स्वभावरूप निश्चय प्राणसे जीता है तथापि व्यवहारसे अनादिसे कर्मबन्धके वशसे आयु आदि अशुद्ध चार प्राणोंसे भी सम्बन्ध रखता हुआ जीता है। यह चार प्राणोंका सम्बन्ध शुद्ध निश्चयनयसे जीवका स्वरूप नहीं है, ऐसी भेद भावना समझना चाहिये यह अभिप्राय है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि यह अखड असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश सब तरह अन्य पाच द्रव्योसे भरा हुआ है, कोई प्रदेश आकाशका ऐसा नहीं है जहा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल न हों पर ये छहों पाच द्रव्य एक स्थलमें रहते हुए भी अपने अपने गुणोंमें भिन्न रहते हैं तथा यह लोक अकृत्रिम व अविनाशी है और अनन्त आकाशके मध्यमें ठहरा हुआ है। चेतनपनेसे आत्मा अपनेको भी जानता है और इस लोकके सर्व पदार्थोंको भी जानता है, इसलिये यह आत्मा ज्ञाता भी है ज्ञेय

वश ऐसा सम्यग्दृष्टी जीव चौथे पांचवें गृहस्थके गुणस्थानोंमें भी थोडी२ एकाग्रता अपने स्वरूपमें प्राप्त करता है, फिर जब साधु हो जाता है तब इस रत्नत्रय धर्मके प्रतापसे स्वरूपकी एकाग्रतारूप उत्सर्ग मार्गको या शुद्धोपयोगको भले प्रकार प्राप्त कर लेता है। प्रयोजन कहनेका यही है कि आगमज्ञान ही भाव मुनिपदका मूल कारण है। मूलाचारमें कहा भी है—

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एअग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥४१०॥
बारसविधह्मिवि तवे सब्भतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
णवि अत्थि णवि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं ॥४०९॥
सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण ।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तहा पमाददोसेण ॥८०॥

भावार्थ—जो साधु स्वाध्याय करता है वही पचेन्द्रियोंको संकोचित रखता हुआ, मन वचन कायकी गुप्तिमें लगा हुआ, एकाग्र मन रखता हुआ विनय सहित होता है। स्वाध्यायके विना इंद्रिय मनका निरोध व स्वरूपमें एकाग्रता तथा रत्नत्रयका विनय नहीं हो सक्ता है। तीर्थंकरादिने जो अभ्यन्तर बारह बारह प्रकारका तप प्रदर्शित किया है उनमें स्वाध्याय करनेके समान न कोई तप है, न कभी हुआ है, न कभी होगा। जैसे सूतमें परोई हुई सुई प्रमाद दोषसे भी नहीं नष्ट होती है अर्थात् भूल जानेपर भी मिल जाती है, वैसे ही जो शास्त्रका अभ्यासी पुरुष है वह प्रमाद दोषसे नष्ट होकर संसाररूपी गर्तमें नहीं पड़ता है। शास्त्रज्ञान सदा ही परिणामोंको मोक्ष मार्गमें उत्साहित रखता है। इसलिये साधुको शास्त्रोंका अभ्यास निरंतर करना चाहिये कभी भी शास्त्रका

व्यापारसे रहित परमात्मा द्रव्यसे भिन्न बल प्राण है। अनादि और अनन्त स्वभावमई परमात्मा पदार्थसे विपरीत आदि और अतसहित आयु प्राण है। श्वासोच्छ्वासके पैदा होनेके खेदसे रहित शुद्धात्म-तत्वसे विपरीत श्वासोच्छ्वास प्राण है। इस तरह आयु, इंद्रिय, बल, श्वासोच्छ्वासके रूपमें व्यवहारनयसे जीवोके चार प्राण होते हैं। ये प्राण शुद्ध निश्चयनयसे जीवसे भिन्न हैं ऐसी भावना करनी योग्य है।

भावार्थ—इंद्रिय, बल, आयु, आनपान ये चारों ही प्राण संसारी जीवमें व्यवहारसे हैं इसलिये यह संसारी जीव इन प्राणोंसे किसी शरीरमें जीता रहता है। ये प्राण शुद्धात्माके शुद्ध ज्ञानदर्शनमई स्वभावसे भिन्न हैं। मैं निश्चयसे इन प्राणोंसे भिन्न हूं। ऐसी भावना परमकल्याणकारिणी है ॥ ९६ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भेद नयसे ये प्राण दस तरहके होते हैं —

पंचवि इन्दियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥ ९७ ॥

पञ्चापि इंद्रियप्राणा मनवचनकाया च त्रीणि बलप्राणाः।
आनपानप्राणा आयुप्राणेन भवंति दश प्राणा ॥ ९७ ॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण [illegible] प्राण हैं। मन, वचन, काय ये तीन बल प्राण हैं; [illegible] तथा आयु प्राणको लेकर दश प्राण होते हैं। [illegible] चिदा-नन्दमई एक स्वभाव रूप [illegible] से निश्चयसे [illegible] चाहिये, यह अभि

विशेषार्थ–" गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य, उवओगोवि य कमसो वीस तु परूवणा भणिदा ' श्री गोमटसारकी इस गाथाके अनुसार जिसका भाव यह है कि इस गोमटसार जीव काडमें २० अध्याय हैं, १ गुणस्थान, २ जीवसमास, ३ पर्याप्ति, ४ प्राण, ५ सज्ञा, ६ गतिमार्गणा, ७ इन्द्रिय मा०, ८ काय मा०, ९ योग मा०, १० वेद मा०, ११ कषाय मा०, १२ ज्ञान मा०, १३ सयम मा०, १४ दर्शन मा०, १५ लेश्या मा०, १६ भव्य मा०, १७ सम्यक्त मा०, १८ सज्ञि मा०, १९ आहार, २० उपयोगसे जिसने व्यवहारनयसे आगमको नहीं जाना तथा–

" भिण्णउ जेण ण जाणियउ णियदेहपरमत्थु।
सो अंधउ अवरहाह किं दावरिसइपत्थु॥

इस दोहा सूत्रके अनुसार जिसका भाव यह है कि जिसने अपनी देहसे परमपदार्थ आत्माको भिन्न नहीं जाना वह आर्त्तरौद्रध्यानी किस तरह अपने आत्म पदार्थको देख सक्ता है, समस्त आगममें सारभूत अध्यात्म शास्त्रको नहीं जाना वह पुरुष रागादि दोषोंसे रहित तथा अव्याबाध सुख आदि गुणोंके धारी अपने आत्म द्रव्यको भाव कर्मसे कहने योग्य राग द्वेषादि नाना प्रकार विकल्प जालोंसे निश्चयनयसे भेदको नहीं जानता है और न कर्मरूपी शत्रुको विध्वश करनेवाले अपने ही परमात्म तत्वको ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मोंसे जुदा जानता है और न शरीर रहित शुद्ध आत्म पदार्थको शरीरादि नोकर्मोंसे जुदा समझता है। इस तरह भेद ज्ञानके न होनेपर यह शरीरमें विराजित अपने शुद्धात्माकी भी रुचि नहीं रखता है और न उसकी भावना सर्व रागादिका त्याग करके करता है, ऐसी दशामें

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवित पूर्वम्।
स जीव प्राणा पुन पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ता ॥ ५८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जो हि) जो कोई वास्तवमें (चदुहिं पाणेहिं) चार प्राणोंसे (जीवदि) जीता है, (जीवस्सदि) जीवेगा व (पुव्व जीविदो) पहले जीता था (सो जीवो) वह जीव है (पुण) तथा (पाणा) ये प्राण (पोग्गलदव्वेहिं) पुद्गल द्रव्योंसे (णिव्वत्ता) रचे हुए हैं।

विशेषार्थ—यह जीव निश्चय नयसे सत्ता, चैतन्य, सुख, ज्ञान आदि शुद्ध भाव प्राणोंसे जीता चला आरहा है तथा जीता रहेगा तथापि व्यवहारनयसे यह संसारी जीव इस अनादि संसारमें जैसे वर्तमानमें द्रव्य और भावरूप अशुद्ध प्राणोंसे जीता है ऐसे ही पहले जीता था व जबतक संसारमें है जीता रहेगा, क्योंकि ये अशुद्ध प्राण उदयप्राप्त पुद्गल कर्मोंसे रचे गए हैं इसलिये ये प्राण पुद्गल द्रव्यसे विपरीत अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनंत सुख, अनन्त वीर्य आदि अनन्त गुण स्वभावधारी परमात्म तत्त्वसे भिन्न हैं ऐसी मानना करनी योग्य है यह भाव है।

भावार्थ—इस आत्माके निश्चय प्राण सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध आदि हैं ये कभी इस जीवसे भिन्न नहीं होते हैं। अशुद्ध अवस्थामें इनका परिणमन अशुद्ध होता है जबकि शुद्ध अवस्थामें शुद्ध परिणमन होता है। इंद्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास ये चार अशुद्ध प्राण पुद्गल कर्मके सम्बन्धसे हैं। पाच इंद्रियोंकी रचना तथा कायका वर्तन, वचनका वर्तन व मनकी रचना, श्वासोच्छ्वासका वर्तन नामकर्मके उदयसे व आयु प्राण आयुकर्मके उदयसे होता है। ये

अत्यन्त आवश्यक्ता है। भिन्न आत्माके ज्ञानके विना आत्म मनन कभी नहीं हो सक्ता है।

सूत्रपाहुडमें कहा है–

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासण च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णोवि ॥ ३ ॥
सुत्तत्थ जिणभणिय जीवाजीवादि वहुविह अत्थ।
हेयाहेय च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठो ॥ ५ ॥

भावार्थ–जो शास्त्रोंका जाननेवाला है वही ससारके उपजनेका नाश करता है। जैसे लोहेकी सूई डोरे विना नष्ट होती है परन्तु डोरा सहित होनेपर नष्ट नहीं होती है। सूत्रके अर्थको जिनेन्द्र भगवानने कहा है तथा सूत्रमे जीव अजीव आदि बहुत प्रकार पदार्थोंका वर्णन किया गया है तथा यह बताया गया है कि त्यागने योग्य क्या है तथा ग्रहण करने योग्य क्या है? जो सूत्रको जानता है वही सम्यग्दृष्टी है।

इस लिये आगमज्ञानको बडा भारी अवलम्बन मानना चाहिये। विना इसके स्वपरका ज्ञान नहीं होगा और न स्वात्मानुभाव होगा जो कर्मोंके नाशमे मुख्य हेतु है ॥ ९३ ॥

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि मोक्ष मार्गपर चलनेवालोंके लिये आगम ही उनकी दृष्टि है—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहि चक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥९४॥

आगमचक्षु साधुरिन्द्रियचक्षूंषि सर्वभूतानि।
[illegible] सिद्धा पुन सर्वतश्चक्षुष ।

रखता है वही परम समाधिसे उत्पन्न जो नित्यानन्दमई एक सुखामृतका भोजन उसको न भोगता हुआ इन इन्द्रियादि प्राणोंमे कडवे विषके समान ही कर्मोके फलरूप सुख दु खको भोगता है और वही जीव कर्मफल भोगता हुआ कर्म रहित आत्मासे विपरीत अन्य नवीन कर्मोसे बध जाता है इसीसे जाना जाता है कि ये प्राण नवीन पुद्गल कर्मके कारण भी है ।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने स्पष्ट रीतिसे यह दिखलाया है कि जिन शरीर, वचन, मनकी क्रियाओंमें और इन्द्रियोंके विषयभोगमें यह ससारी जीव लुब्ध हो रहा है वे सब मन वचन काय और इन्द्रिय रूपी प्राण तथा आयु और श्वासोच्छ्वासपूर्व बद्ध कर्मोके फलसे पैदा होते हैं । जिन शुद्धात्माओंके शरीर ही नहीं होते वहा ये प्राण नहीं पाये जाते हैं इसीसे प्रमाणित है कि ये कर्मबद्ध जीवमें कर्मोके उदयसे पैदा होते हैं । पुद्गलमई ये प्राण हैं इसलिये इनका कारण भी कर्मपुद्गल है । इन पुद्गलमई शरीरादि और इन्द्रियोंके द्वारा यह जीव पुद्गलकर्मोके उदयसे प्राप्त ससारीक पराधीन सुखदु खको भोगता रहता है । पुद्गलीक प्राणोसे ही पुद्गलीक भोग होता है । भोगोंके भोगमें रागद्वेष करता हुआ जीव फिर नवीन पुद्गलकर्मोको बाध लेता है । सिद्ध यह किया गया है कि ये प्राण पुद्गलके कारणसे उपजे हैं व पुद्गलको ही भोगते हैं तथा पुद्गल कर्मोको उपजाते हैं इससे ये चार प्राण पौद्गलिक हैं--आत्माके निज स्वभाव नहीं हैं । इनको सदा अपने आत्माके शुद्ध स्वभावसे भिन्न जानना चाहिये । श्री पुज्यपादस्वामीने समाधिशतकमें कहा भी है--

द्वारा जाने जाते हैं, क्योंकि श्रुतज्ञान रूप आगम केवलज्ञानके समान है। आगम द्वारा पदार्थोंको जान लेनेपर जब स्वसंवेदन ज्ञान या स्वात्मानुभव पैदा हो जाता है तब इस स्वसंवेदनके बलसे जब केवल ज्ञान पैदा होता है तब वे ही सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इस कारणसे आगमकी चक्षुसे परम्परा सर्व ही दीख जाता है।

भावार्थ–इस गाथामें यह ज्ञान बताई है कि श्रुतज्ञान व शास्त्रज्ञानमें बड़ी शक्ति है। जैसे केवलज्ञानी सर्व पदार्थोंको जानते हैं वैसे श्रुतज्ञानी सर्व पदार्थोंको जानते ह। केवल अंतर यह है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। अरहंतकी वाणीसे जो पदार्थोंका स्वरूप प्रगट हुआ है उसीको गणधरोंने धारणामें लेकर आचारांग आदि द्वादश अंगकी रचना की। उसके अनुसार उनके शिष्य प्रशिष्योंने और शास्त्रोंकी रचना की। जैन शास्त्रोंमें वही ज्ञान मिलता है जो केवली महाराजने प्रत्यक्ष जानकर प्रगट किया। इसलिये आगमके द्वारा हम सब कुछ जानने योग्य जान सक्ते हैं।

वास्तवमें जानने योग्य इस लोकके भीतर पाए जानेवाले छ द्रव्य हैं–अनंतानंत जीव, अनंतानंत पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्यात काल द्रव्य। इन सबका स्वरूप जानना चाहिये–कि इनमें सामान्य गुण क्या क्या हैं तथा विशेष गुण क्या क्या हैं? आगम अच्छी तरह बता देता है कि अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व ये छ प्रसिद्ध सामान्य गुण हैं। तथा चेतनादि जीवके विशेष गुण, स्पर्शादि पुद्गलके विशेष गुण, गति सहकारी धर्मका विशेष गुण, स्थिति सहकारी अधर्मका, अवकाश दान सहकारी आकाशका, वर्तना सहकारी कालका विशेष

कर्मके साथ बंध होता है जो बंध अपने आत्माकी प्राप्तिरूप मोक्षसे विपरीत है तथा मूल और उत्तरप्रकृतियोंके भेदसे अनेक रूप है। इससे जाना गया कि प्राण पुद्गल कर्मबंधके कारण होते हैं। यहां यह भाव है कि जैसे कोई पुरुष दूसरेको मारनेकी इच्छासे गर्म लोहेके पिंडको उठाता हुआ पहले अपनेको ही कष्ट दे लेता है फिर अन्यका घात हो सके इसका कोई नियम नहीं है तैसे यह अज्ञानी जीव भी तप्त लोहेके स्थानमें मोहादि परिणामोंसे परिणमन करता हुआ पहले अपने ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानस्वरूप शुद्ध प्राणको घातता है उसके पीछे दूसरेके प्राणोंका घात हो व न हो ऐसा कोई नियम नहीं है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह बताया है कि मन वचन काय व स्पर्शन आदि इंद्रियोंके द्वारा व्यापार करता हुआ यह संसारी जीव जब रागद्वेष मोह भावोंमें परिणमन करता है तब यह हिंसक हो जाता है। यह बात भी ठीक ही है कि बुद्धिपूर्वक इन प्राणोंमें काम लेते हुए इच्छा अवश्य होती है जो रागका अंग है। यह मोह राग या द्वेष जब जब थोडे या बहुत आत्माके परिणाममें झलकेंगे उसी समय आत्माके स्वाभाविक वीतराग ज्ञानभाव रूप भाव प्राणका और कुछ अंशमें शरीर बल आदि द्रव्य प्राणोंका घात करेंगे। इसलिये इच्छापूर्वक इन प्राणोंका व्यापार अपना घात करता है। इतना ही नहीं वह भाव यदि परकी हिंसारूप होता है तो एकेन्द्रिय आदि अन्य जीवोंके कष्ट पहुंचानेके व्यापारमें लगा हुआ अन्य जीवोंको भी पीड़ा पहुंचाता है—अन्य जीवोंके भाव और द्रव्य प्राणोंका घात करता है। इस हिंसककी चेष्टा होनेपर भी कभी

जिन आगमको स्याद्वाद भी कहते हैं। क्योंकि इसमें पदार्थोंके भिन्न२ स्वभावोंको भिन्न२ अपेक्षाओंसे बताया गया है।

श्री समन्तभद्राचार्य आप्तमीमांसामें स्याद्वादको केवलज्ञानके समान बताते हैं, जैसे—

स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १०५ ॥

भावार्थ—स्याद्वाद और केवलज्ञानमें सर्व तत्वोंके प्रकाशनेकी अपेक्षा समानता है, केवल प्रत्यक्ष और परोक्षका ही भेद है। यदि दोनोंमेंसे एक न होय तो वस्तु ही न रहे। जो पदार्थ केवलज्ञानसे प्रगट होते हैं उन सबको परोक्षरूपसे शास्त्र बताता है। इसलिये सर्व द्रव्य गुण पर्यायोंको दोनो बताते हैं—केवलज्ञान न हो तो स्याद्वादमय श्रुतज्ञान न हो—और यदि स्याद्वादमय श्रुतज्ञान न हो तो केवलज्ञान सबको जानता है यह बात कौन कहे। जो जिनवाणीसे तत्वोंको निश्चय तथा व्यवहार नयसे ठीक २ समझ लेता है वह ज्ञानापेक्षा परम संतुष्ट होजाता है। जैसे केवलज्ञानी ज्ञानापेक्षा निराकुल और संतोषी है वैसे शास्त्रज्ञानी भी निराकुल और संतोषी होजाता है। मूलाचार अनागार भावनामें कहा है कि साधु ऐसे ज्ञानी होते हैं—

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी।
णिउणत्थ सत्थकुसला परमपदवियाणया समणा ॥६७॥

भावार्थ—श्रुतरूपी रत्नसे जिनके कान भरे हुए हैं अर्थात् जो शास्त्रके ज्ञाता हैं, हेतु और नयके ज्ञाता पंडित हैं, तीव्र बुद्धि वाले हैं, अनेक सिद्धांत व्याकरण, तर्क, साहित्यादि शास्त्रोंमें कुशल

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥ ४५ ॥

व्युत्थानावस्थाया रागादीना वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियता जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुव हिंसा ॥ ४६ ॥

यस्मात्सकषाय सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्य तराणा तु ॥ ४७ ॥

भाव यह है–कषायरूप मन, वचन, कायके योगोके द्वारा द्रव्य और भाव प्राणोंको पीड़ित करना निश्चयसे हिंसा है। अपने भावोंमें रागादिभावोंका प्रगट न होना ही अहिंसा है तथा उनहीका पैदा हो जाना ही हिंसा है, यह जिनमतका सार है। रागद्वेपके विना योग्य आचरण करते हुए मात्र अन्य प्राणियोंके प्राण घात होजानेसे कभी भी हिंसाका दोष नहीं होता है। इसीके विपरीत जब प्रमादके द्वारा राग आदिके वश प्रवृत्ति की जायगी तब इस व्यापारसे कोई जीव मरो या न मरो हिंसा निश्चयसे होती रहती है, क्योंकि कषायके आधीन होकर यह जीव पहले ही अपनेसे ही अपने आत्माकी हिंसा करता है फिर दूसरे प्राणियोंके प्राणोंकी हिंसा होय भी व न भी होय, नियम नहीं है। प्रयोजन यह है कि इस जीवके मोह रागद्वेषरूप भाव ही हिंसक परिणाम है। जो भाव इन शरीर आदि प्राणोंके निमित्तको पाकर हो जाते है, इन परिणामोंसे ही कर्म पुद्गलोंका बन्ध होता है जिस बधके कारण ससारमें जन्ममरणादि दु खोंको उठाता हुआ यह जीव भ्रमण करता है और स्वाधीन आत्मानन्दरूप मोक्षका लाभ नहीं कर सक्ता है इसलिये इन शरीरादि प्राणोंका सम्बन्ध त्यागने योग्य है, और

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने यह बात दिखलाई है कि परमागमके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जबतक पदार्थोंका ज्ञान होकर उनका नित्य मनन न किया जायगा तबतक मिथ्यात्व कर्म और अनंतानुबंधी कषायका बल नहीं घटेगा। स्याद्वादरूप जिनवाणीमें रमण करनेसे ही सम्यग्दर्शनको रोकनेवाली कर्म प्रकृतियें उपशम होनेकी निकटताको प्राप्त होती है, तब यह जीव उन परिणामोंकी प्राप्ति करता है जो समय २ अनंतगुणी विशुद्धताको प्राप्त होते जाते हैं जिनको करणलब्धि कहते हैं। चाहे जितना भी शास्त्रोंका ज्ञाता है जबतक वह मंद कषायसे भेद विज्ञानका अभ्यास न करेगा और संसार शरीर भोगसे उदासपनेकी भावना न भाएगा तबतक करणलब्धिका पाना दुर्लभ है। करणलब्धिके अंतर्मुहूर्ततक रहनेसे ही अनादि मिथ्यादृष्टीके पांच व सादि मिथ्यादृष्टीके कभी सात व कभी पांच प्रकृतियोंके उपशम होनेसे उपशम सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। जिस समय तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है उस समय तक शास्त्रका ज्ञान ठीक होनेपर भी वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जासक्ता है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान एक ही समयमें होजाते हैं और इनके होनेपर ही उसीसमय स्वरूपाचरण चारित्र अर्थात् स्वानुभव भी होजाता है। इन तीनोंका अविनाभाव सम्बन्ध है। अनंतानुबंधी कषाय चारित्र मोहनीय है, क्योंकि वह सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाली स्वरूपाचरणरूप स्वानुभूतिको रोकता है। उसके उपशम होने ही सम्यग्चारित्र भी होजाता है।

यद्यपि सम्यग्दर्शनके होते हुए यथार्थ ज्ञान और यथार्थ चारित्र होजाता है तथापि पूर्ण ज्ञान और पूर्ण चारित्र नहीं होता

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने बतलाया है कि इस ससारी जीवके ससारमें भ्रमण करते हुए जो वारवार प्राणोंका धारण प्रत्येक नए२ शरीरमें आकर होता है उसका अन्तरग कारण शरीर आदिमें मोह-ममत्त्व है। हरएक ससारी आत्मा अनादिकालसे ही प्रवाहरूपमे कर्मोसे बन्धा चला आरहा है-उन कर्मोके उदयसे एक गतिको छोड़कर दूसरी गतिमें जाता है। जहा जाता है वहा जो शरीर व एक या दो या तीन या चार या पाच इद्रियें प्राप्त होती हैं उनहीके विषयभोगोंकी चाहनामे पडकर उस शरीरमे अत्यन्त रागी हो जाता है, जन्मभर इसी रागभावकी पूर्तिकी चेष्टा किया करता है, इच्छाके अनुसार भोग सामग्रीको पानेका उद्यम करके उनको एकत्र किया करता है। इसी ही उद्यममें एक क्षणमें आयु समाप्त होनेपर शरीर छोडता है और जैसी आयु बाधी होती है उसके अनुसार दूसरे शरीरमें पहुच जाता है। वहा भी इसी तरह शरीरके विषयोंमें फस जाता है। मोह या ममताभाव जबतक बना रहता है तबतक ससारके पार पहुचनेका मार्ग ही नहीं मिलता है। वश मोही जीव यदि ममत्त्वको न त्यागे तो अनन्त कालतक भ्रमण ही करता रहेगा। और जब कभी भी श्री गुरुके सम्यक् उपदेशसे ससार शरीरभोगोंको असार जानकर इनसे मोह त्याग अपनी शुद्ध परिणतिमें प्रेम करेगा तब ही इसकी ममताकी डोरी टूट जायगी। वस मिथ्यात्त्व भावके जाते ही इसका ससारका पार निकट आ जायगा-थोडे ही कालमें शरीर रहित हो मुक्त हो जायगा।

श्री पूज्यपाद स्वामीने "समाधिशतक" में कहा भी है-

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊण।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥ ७३ ॥

भावार्थ—जो पहले मिथ्यात्व अज्ञान आदि दोषोंको त्यागकर अपने भावोंमें नग्न होकर एक रूप शुद्ध आत्माका श्रद्धान ज्ञान आचरण करता है वही पीछे द्रव्यसे जिन आज्ञा प्रमाण बाहरी नग्न भेष मुनिका प्रगट करे, क्योंकि धर्मका स्वभाव भी यही है। जैसा वहीं कहा है—

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
ससारतरणहेदू धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठ ॥ ८५ ॥

भावार्थ—रागादि सकल दोषोंको छोड़कर आत्माका आत्मामें रत होना सो ही ससार समुद्रसे तारनेका कारण धर्म है ऐसा जिनेन्द्रोंने कहा है।

जो रत्नत्रय धर्मका सेवन करतीं है वही साधु होसक्ता है ॥९६॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आगमका ज्ञान, तत्त्वार्थका श्रद्धान तथा सयमपना इन तीनोंका एक कालपना व एक साथपना नहीं होवे तो मोक्ष नहीं होसक्ती है।

णहि आगमेण सिज्झदि सद्दहण जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असजदो वा ण णिव्वादि ॥ ९७ ॥

न ह्यागमेन सिद्ध्यति श्रद्धान यदि नास्त्यर्थेषु।
श्रद्धधानः अर्थानसंयतो वा न निर्वाति ॥ ९७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जदि) यदि (अत्थेसु सद्दहण ण अत्थि) पदार्थोंमें श्रद्धान नहीं होवे तो (णहि आगमेन सिद्ध्यति) मात्र आगमके ज्ञानसे सिद्ध नहीं होसक्ता है। (अत्थे सद्दहमाणो)

उपाय जितेंद्रिय होकर निज शुद्ध आत्माका अनुभव है। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्राचार्यने समयसारकलशमे कहा है —

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां,
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा,
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥ २० ॥

भावार्थ—किसी भी तरह मोहको हटाकर जो निश्चल ज्ञानमई आत्मीक भावकी भूमिका आश्रय करते हैं वे मुक्तिके साधकपनेको पाकर सिद्ध हो जाते हैं। जो मिथ्यादृष्टी मूर्ख हैं वे इस भूमिको न पाकर ससारमें भ्रमण करते हैं—

श्री अमितिगति महाराज सामायिकपाठमे कहते हैं—

सर्वारंभकषायसंगरहितं शुद्धोपयोगाश्रितं,
तद्रूपं परमात्मनो विकलिलं बाह्यव्यपेताऽस्तिग ।
तनि श्रेयसकारणाय हृदये ध्याय सदा नापर,
कृत्य क्वापि निकीय वो न सुधियः कुर्वन्ति तद्ध्वंसकं ॥७१॥

भावार्थ—जो परमात्माका स्वभाव सर्व आरम्भ व कषाय या परिग्रहसे रहित है, शुद्धोपयोगमें लीन है, कर्म रहित है, बाहरी पदार्थोंके आलम्बसे शून्य है उसी स्वभावको मुक्तिके लाभके लिये अपने हृदयमें सदा ध्याना चाहिये, अन्य किसीको नहीं। जो संसारके बन्धको मेटना चाहते हैं वे बुद्धिमान इस निज शुद्ध स्वभावके नाशक किसी भी कामको कभी भी नहीं करते हैं। ऐसा जानकर शरीरके त्यागके लिये शरीरका मोह छोडकर निज शुद्ध आत्माका एक ध्यान ही कार्यकारी है ऐसा निश्चय करना चाहिये यह तात्पर्य है ॥ ६३ ॥

भावार्थ यह है–जो जीव द्रव्यको क्षणिक मानते उनके मतमें मोक्ष नहीं सिद्ध होती अथवा जो जीव द्रव्यको पर्याय रहित कूटस्थ नित्य मान लेते ह उनके मतमे भी ससारावस्थामे मोक्षावस्था नहीं बन सकी परन्तु जो द्रव्य पर्यायरूप अथवा नित्यानित्यरूप जीवको मानते हैं वहीं आत्मा ही अरहंत होसकी है। ऐसा जीव द्रव्यको मानते हुए जब इस जीवके "अपना शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है' ऐसी रुचि पैदा होजाती है, तबसे उसमें अन्तरात्मावस्था पैदा हो जाती है। यही अवस्था मोक्षका हेतु है। इसी कारण रूप भावका ध्यान करते करते यह आत्मा गुणस्थानोंकी परिपाटीके क्रमसे अरहंत परमात्मा होकर फिर गुणस्थानोंसे बाहर परमात्मा होजाता है॥९७॥

उत्थानिका–आगे कहते ह कि परमागम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान तथा संयमीपना इन भेदरूप रत्नत्रयोंके मिलाप होनेपर भी जो अभेद रत्नत्रय स्वरूप निर्विकल्प समाधिमई आत्मज्ञान है वही निश्चयसे मोक्षका कारण है —

ज अण्णाणी कम्म खवेद भवसयसहस्सकोडीहिं।
त णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण॥ ९८॥
यदज्ञानी कर्म क्षपयति भवशतसहस्रकोटिभि।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्त क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण॥ ९८॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(अण्णाणी) अज्ञानी (ज कम्म) जिस कर्मको (भवसयसहस्सकोडीहिं) एकलाखकरोडभवोंमें (खवेइ) नाश करता है। (त) उस कर्मको (णाणी) आत्मज्ञानी (तिहिंगुत्तो) मन वचन काय तीनोंकी गुप्ति सहित होकर (उस्सासमेत्तेण) एक उच्छ्वास मात्रमे (खवेइ) क्षय कर देता है।

पयडीहिं पोग्गलमर्म्मेहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो ॥ ८१ ॥
पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ८२ ॥

भावार्थ—एकेंद्रिय, द्वेंद्रिय, तेंद्रिय चौंद्रिय, पचेंद्रिय जाति, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त ये सब नामकर्मकी प्रकृतियें हैं। जो ये १४ जीव समासरूप जीवोंके भेद अर्थात् एकेंद्रिय सूक्ष्म, एकेंद्रिय बादर, द्वेंद्रिय, तेंद्रिय, चौंद्रिय, पचेंद्रिय असैनी, पचेंद्रिय सैनी ये सात पर्याप्त व सात अपर्याप्त पैदा हुए हैं सो सब पुद्गलमई नामकर्मकी प्रकृतियोंके कारणसे पुद्गलरूप ही बने हुए हैं। इनको निश्चयसे जीव कैसे कहा जा सक्ता है? सिद्धांतमें जो पर्याप्त अपर्याप्त सूक्ष्म, बादर जीवोंके नाम कहे हैं सो शरीरको ही जीवकी संज्ञा व्यवहारनयसे कही गई है। निश्चयसे जीव इन शरीरादिसे रहित शुद्ध टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा स्वभावका धरनेवाला है। यही मेरा स्वभाव है। ऐसी भावना करके अपने आत्माको सर्व नरनारक आदि पर्यायोंसे भिन्न एकाकाररूप अनुभव करना चाहिये, यह तात्पर्य है।

उत्थानिका—आगे यह प्रकाश करते हैं कि जो कोई अपने स्वरूपमें अस्तित्वको रखनेवाले परमात्मद्रव्यको जानता है वह परद्रव्यमें मोहको नहीं करता है—

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं ।
जाणदि जो सवियप्पं, ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥९६॥
तं सद्भावनिबद्धं द्रव्यस्वभावं त्रिधा समाख्यातम् ।
जानाति यः सविकल्पं न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये ॥ ९६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जो) जो ज्ञानी (सब्भावणिबद्धं) अपने स्वभावमें ... (तिहा समक्खादं) व तीन प्रकार कहे हुए

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है कि आत्मज्ञान ही यथार्थ मोक्षका मार्ग है, क्योंकि आत्मज्ञानके प्रभावसे ज्ञानी जीव करोटों भवोंमें क्षय करने योग्य कर्म बधनोंको क्षण मात्रमें क्षय कर टालता है। आत्मज्ञान रहित जिन कर्मोंको करोडों जन्म ले लेकर और उनका फल भोग भोगकर क्षय करता है उन कर्मोंको ज्ञानी जीव विना ही उनका फल भोगे उनकी अपनी सत्तासे निर्जरा कर टालता है। यह आत्मज्ञान निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है। यही स्वानुभव है। यह निश्चय सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यग्चारित्र है। यही ध्यानकी अग्नि है जिसकी तीव्रतासे भरत चक्रवर्तीने एक अतर्मुहूर्तमे चारो घातिया कर्मोंका क्षय कर डाला। जिनको यह स्वानुभवरूप आत्मज्ञान नहीं प्राप्त है वे व्यवहार रत्नत्रयके धारी है तौ भी मोक्षमार्गी नहीं है।

वृत्तिकारने आत्मज्ञान प्राप्त होनेकी सीढ़िया बताई है पहली (१) सीढी यह है कि जिनवाणीको अच्छी तरह पढकर हमें सात तत्त्वोंको जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिये तथा विषय कषायोंके घटानेके लिये मुनि वा गृहस्थके योग्य व्रतादि पालना चाहिये। (२) दूसरी सीढी यह है कि सिद्ध परमात्माका ज्ञान, श्रद्धान करके उनके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। (३) तीसरी सीढी यह है कि अपने ही आत्माके निश्चयमें शुद्ध परमात्मा जानना, श्रद्धान करना व रागादि छोड उसीकी भावना भानी। (४) चौथी सीढी यह है कि विकल्प रहित स्वानुभव प्राप्त करना। जहा यद्यपि श्रद्धान ज्ञान, चारित्र है तथापि कोई विकल्प या विचार नहीं है मात्र अपने स्वरूपानंदमें मग्नता है। यही आत्मज्ञान है। यह सीढी साक्षात्

शरीरमें विराजित अनुभव करता है ऐसे अनुभवी जीवका स्वभावसे ही मोह अपने ही निज द्रव्यको छोडकर अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं रहता है–वह जगतकी अवस्थाओंको ज्ञातादृष्टाके समान देखता जानता है–उनके किसी पर्यायके होनेमें हर्ष व किसी पर्यायके बिगडनेमें द्वेष नहीं करता है, वीतरागी रहता हुआ ज्ञानी बन्धमें नहीं पडता है। वास्तवमें मोहकी जड काटनेवाला पदार्थोंका सम्यग्श्रद्धान और सम्यग्ज्ञान है। इनके होनेपर मोहकी गाठ टूट जाती है और कुछ काल पीछे ही मोहका सर्वथा क्षय हो जाता है, और आत्मा केवलज्ञानी हो जाता है। इस तरह जिस तरह बने यथार्थज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

ज्ञानलोचन स्तोत्रमें श्री वादिराज महाराज कहते हैं–

अनाद्यविद्यामयमूर्छिताङ्ग, कामोदग्रक्रोधहुताशनस्तम्।
स्याद्वादपीयूषमहौषधेन, त्रायस्व मा मोहमहाहिदष्टम् ॥२१॥

भावार्थ–मैं अनादिकालके अज्ञानमई रोगमें मूर्छित हूं, काम क्रोधकी अग्निसे जल रहा हूं, मोह महा सर्पसे डसा गया हूं, मुझे स्याद्वादरूपी अमृतमई महा औषधि पिलाकर मेरी रक्षा कर।

श्री आत्मानुशासनमें गुणभद्राचार्य कहते हैं–

मुहुः प्रसार्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान्।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥ १७७ ॥

भावार्थ–वारवार सच्चे ज्ञानका विस्तार करके व पदार्थोंके यथार्थ स्वभावोंको देखता हुआ एक अध्यात्मज्ञानी मुनि रागद्वेष दूरकर निज आत्माका ध्यान करे।

इससे यह सिद्ध है कि ज्ञानी जीव ही मोहका क्षय कर सक्ता है ॥ ८९ ॥

भावार्थ—जो पर द्रव्योंमें लीन है वह बंधको प्राप्त होता है, परंतु जो विरक्त है वह नानाप्रकार कर्मोंसे मुक्त होजाता है ऐसा जिनेन्द्रका उपदेश बंध मोक्षके सम्बन्धमें संक्षेपसे जानना चाहिये ॥९८॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण आत्मज्ञानसे रहित है उसके एक साथ आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान तथा संयमपना होना भी कुछ कार्यकारी नहीं है। मोक्ष प्राप्तिमें अकिंचित्कर है —

परमाणुपमाण वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरोवि ॥९९॥

परमाणु प्रमाण वा मूर्छा देहादिकेषु यस्य पुनः।
विद्यते यदि स सिद्धिं न लभते सर्वागमधरो पि ॥ ५६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(पुणो) तथा (जस्स) जिसके भीतर (देहादियेसु) शरीर आदिकोंमें (परमाणुपमाण वा) परमाणु मात्र भी (मुच्छा) ममत्वभाव (जदि विज्जदि) यदि है तो (सो) वह साधु (सव्वागम धरो वि) सर्व आगमको जाननेवाला है तो भी (सिद्धिं ण लहदि) मोक्षको नहीं पासक्ता है।

विशेषार्थ—सर्व आगमज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान तथा संयमीपना एक कालमें होते हुए जिसके शरीरादि पर द्रव्योंमें ममता जरासी भी है उसके पूर्व सूत्रमें कहे प्रमाण निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय रत्नत्रय मई स्वसंवेदनका लाभ नहीं है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि तत्वज्ञानी साधुको सर्व प्रकारसे रागद्वेष या ममत्वभावसे शून्य होकर ज्ञान वैराग्यसे परिपूर्ण होजाना चाहिये। सिवाय अपने

कारण है। मोक्षका कारण साक्षात् शुद्धोपयोग है जहां मात्र शुद्ध आत्मामें ही आप तन्मय रहकर वीतरागभावमें लीन रहता है। इसलिये शुद्धोपयोगको ही उपादेय मानकर उस रूप होनेकी चेष्टा करते हुए जबतक शुद्धोपयोग न हो शुभोपयोगमें वर्तना चाहिये।

वास्तवमें शुभोपयोग धार्मिक भाव है सो सम्यग्दृष्टिके पाया जाता है, मिथ्यादृष्टीके नहीं। तथापि जहां व्यवहारकी दृष्टिसे देखा जाता है वहां निश्चय सम्यक्त न होते हुए जो व्यवहार सम्यक्ती देवगुरु शास्त्रकी भक्ति तथा दया मार्गमें व परोपकारमे वर्तन करता है उसको भी मंदकषाय होनेसे शुभोपयोग कह सक्ते हैं। यह शुभोपयोग अतिशय रहित साधारण पुण्य कर्म बंध करता है जब कि सम्यक्त्व सहित शुभोपयोग अतिशयरूप भारी विशेष पुण्य कर्म बांधता है ॥ ६८ ॥

उत्थानिका—आगे अशुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं—

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥ ६९ ॥

विषयकषायावगाढ़ो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुत ।
उग्र उन्मार्गपर उपयोगो यस्य सोऽशुभ ॥ ६९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जस्स) जिस जीवका (उवओगो) उपयोग (विसयकसाओगाढो) विषयोंकी और कषायोंकी तीव्रतामे भरा हुआ है (दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो) खोटे शास्त्र पढने सुनने, खोटा विचार करने व खोटी संगतिमें वार्तालापमें लगा हुआ है, (उग्गो) हिंसादिमें उद्यमी दुष्ट रूप है, (उम्मग्गपरो) [illegible] में तत्पर है [illegible]

है (सो असु[illegible]

परदव्व देहाई कुणइ ममत्ति च जाम तस्सुवरिं।
परसमयरदो ताव वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं॥ ३४॥

भावार्थ—देहादिक परद्रव्य है। जबतक इनके ऊपर ममता करता है तबतक परसमयरत है और नाना प्रकार कर्मोंसे बंधता है।

दसणणाणचरित्तं जोई तस्सेह णिच्छय भणिय।
जो चेयइ अप्पाण सचेयण सुद्धभावट्ठ॥ ४५॥

भावार्थ—जो शुद्ध भावोंमें स्थित ज्ञानचेतना सहित अपने आत्माको अनुभवमें लेता है उसीके ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र निश्चयनयसे कहे गए हैं।

सारसमुच्चयमें श्री कुलभद्र आचार्य कहते हैं—

निममत्त्व पर तत्त्व निर्ममत्त्व पर सुख।
निर्ममत्त्व पर बीज मोक्षस्य कथित बुधे॥ २३४॥
निर्ममत्त्वे सदा सौख्य ससारस्थितिच्छेदनम्।
जायते परमोत्कृष्टमात्मन सस्थिते सति॥ २३५॥

भावार्थ—ममतारहितपना ही उत्कृष्ट तत्त्व है। यही परम सुख है, यही मोक्षका बीज है ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है। जो आत्मा ममतारहित भावमें स्थिति प्राप्त कर लेता है उसको परम उत्तम संसारकी स्थितिको छेदनेवाला सुख उत्पन्न हो जाता है।

इसलिये जहा पूर्ण स्वस्वरूपमे रमणता न होकर कुछ भी किसी जातिका पर पदार्थसे रागका अंश है वह कभी भी मुक्ति नही प्राप्त करसक्ता है। युधिष्ठिरादि पाच पाडव शत्रुंजय पर्वतपर आत्मध्यान कर रहे थे जब उनके शत्रुओंने गर्म गर्म लोहेके गहने पहनाए तब तीन बड़े भाई तो ध्यानमें मग्न निश्चल रहे किंचित् भी किसीकी ममता न करी इससे वे उसी भवमें मोक्ष होगए, परतु

इन्द्रियोंकी तीव्र इच्छासे विवश हो इन्द्रिय भोगोंके सकल्परूप सरभमें, उनके प्रबन्ध रूप समारभमें व उनके भोगने रूप आरभमें वर्तन करता है, व क्रोध, मान, माया, लोभ कपायोंकी तीव्रतामें फसकर इन कपायोंके साथ मनके, वचनके व कायके वर्तनमें लग जाता है, जिससे मारपीट करता है, गाली बकता है, दूसरेको तुच्छ समता है, कपटसे ठगता है, अन्यायसे धन एकत्र करता है, व विषय कपायोमें तथा मिथ्या एकात धर्ममें फसानेवाले खोटे शास्त्रोंके पढनेमें लग जाता है, व कामभोगकी या अन्य दुष्ट चितारूप फिक्रोंमें लगा रहता है व खोटे मित्रोंके साथ बैठकर परनिन्दा, आत्मप्रशसा व खोटे मत्र करनेकी गोष्टीमें उलझा रहता है व जुआरमण, चौपड, सतरज, तास खेलन, भडरूप वचन व चेष्टाके व्यवहारमें रति करता है व सदा भयानकरूप हो हिसा प्रवृत्ति, मृषावाद, चोरीकरण, कुशील व परिग्रहवृद्धिमे फसा रहता है व जिनेन्द्रप्रणीत मार्गमे विरुद्ध अन्य समारके बढानेवाले मिथ्यामार्गोंकी सेवा पुजा भक्ति व श्रद्धामें लगा रहता है उसको अशुभोपयोग कहते हैं। यह अशुभोपयोग पापकर्मका बाधनेवाला है जिस पापकर्मके फलसे यह जीव नरक, निगोद, तिर्यंच व खोटी मनुष्य पर्यायमें जाकर महान् असह्य सकटोंको उठाता है। श्री पचास्तिकायमें भी आचार्यने अशुभोपयोगका स्वरूप इसतरह कहा है —

चरिया पमादबहुला कालुस्स लोलदा य विसयसु ।
परिपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥ १३९ ॥

भावार्थ—स्त्री, भोजन, राजा व देश कथा सम्बन्वी
उपजानेवाली प्रमादरूप

यह सयम विशेष करके होता है। यहा अभ्यतर परिणामोकी शुद्धिको भाव सयम तथा बाह्यमें त्यागको द्रव्यसयम कहते हैं।

भावार्थ–इस गाथामें सयमके चार विशेषण बताए हैं–(१) त्याग अर्थात् जहा जो कुछ त्याग कर सकता है सो उसे छोड देना चाहिये। जन्मनेके पीछे जो कुछ वस्त्रादि परिग्रह ग्रहण की थी सो सब त्याग देना, भीतरसे औपाधिक भावोको भी छोड देना, यहा तक कि शरीरसे भी ममता छोड देना सो त्याग है (२) अनारम्भ–अर्थात् असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, विद्या इन छ प्रकारके साधनोंसे आजीविका नहीं करना तथा बुहारी, उखली, चक्की, पानी, रसोई आदि बनानेका आरम्भ नहीं करना, मन वचन कायको आत्माके आराधनमें व सयमके पालनमें लवलीन रखना, गृहस्थके योग्य कोई व्यापार नहीं करना। (३) विषय विरागता–अर्थात् पाचो इन्द्रियोंकी इच्छाओको रोककर आत्मानदकी भावनामें तृप्ति पानेका भाव रखना। ससार शरीर व भोगोमे उदासीनता भजना। (४) कषाय क्षय–क्रोध, मान, माया, लोभ व हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुवेद, नपुसकवेद इन सर्व अशुद्ध भावोंको बुद्धिपूर्वक त्याग देना, अबुद्धिपूर्वक यदि कभी उपज आवें तो अपनी निन्दा गर्हा करके प्रायश्चित्त लेकर भावोंमें वीतरागताको जमाते रहना। ये चार विशेषण जहा होते हैं वहा ही मुनिका सयम होसक्ता है। यहा नियमसे परिणामोंमें भी वैराग्य होता है तथा बाहरी क्रियामें भी-आहार विहार आदिमें भी-यत्नाचार पूर्वक वर्तन पाया जाता है। द्रव्य सयम और भाव सयम तथा इन्द्रिय सयम और प्राण सयम जहा हो वही मुनिका सयम

उत्थानिका—आगे शुभ अशुभ उपयोगसे रहित शुद्ध उपयोगको वर्णन करते हैं—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्मि ।
होज्ज मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥ ६० ॥
अशुभोपयोगरहित शुभोपयुक्तो न अन्यद्रव्ये ।
भवन्मध्यस्थोऽहं ज्ञानात्मकमात्मकं ध्यायामि ॥ ७० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(अहं) मैं (असुहोवओगरहिदो) अशुभोपयोगसे रहित होता हूं (सुहोवजुत्तो ण) शुभोपयोगमें भी परिणमन नहीं करता हूं तथा (अण्णदवियम्मि) निज परमात्मा सिवाय अन्य द्रव्यमें तथा जीवन मरण, लाभ, अलाभ, सुख दुःख, शत्रु मित्र, निंदा प्रशंसा आदिमें (मज्झत्थो होज्ज) मध्यस्थ होता हुआ (णाणप्पगम्) ज्ञानस्वरूप (अप्पगं) आत्माको (झाए) ध्याताहूं।

विशेषार्थ—अशुभोपयोग तथा शुभोपयोगमें परिणमन न करके वीतरागी होकर ज्ञानसे निर्मित ज्ञानस्वरूप तथा उस केवलज्ञानमें अन्तर्भूत अनंतगुणमई अपनी आत्माको शुद्ध ध्यानके विरोधी सर्व मनोरथरूप चिंताजालको त्यागकर ध्याताहूं। यह शुद्धोपयोगका लक्षण जानना चाहिये।

भावार्थ—इस गाथामें शुद्धोपयोगका स्वरूप जो वास्तवमें अनुभवगम्य है, वचनगोचर नहीं है, उसका संकेत मात्र कथन किया है।

जहां ध्याताका उपयोग मिथ्यामार्ग, व विषय कषायरूप अशुभोपयोगमे [illegible] रहकर भक्ति, पूजा, दान, परोपकार आदि मंद कषा [illegible] शुभोपयोगोंसे भी छुटा हुआ होता

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पचसमिदो) जो पाच समितियोका धारी है, (तिगुत्तो) तीन गुप्तिमें लीन है, (पचेंदियसवुडो) पाच इंद्रियोका विजयी है, (जिदकसाओ) कषायोको जितनेवाला है (दसणणाणसमग्गो) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे पूर्ण है (सो समणो) वह साधु (सजदो) सयमी (भणिदो) कहा गया है।

विशेषार्थ-जो व्यवहार नयसे पाच समितियोसे युक्त है परन्तु निश्चय नयसे अपने आत्माके स्वरूपमें भले प्रकार परिणमन कर रहा है, जो व्यवहार नयसे मन वचन कायको रोक करके त्रिगुप्त है, परन्तु निश्चय नयसे अपने स्वरूपमें लीन है, जो व्यवहारके स्पर्शनादि पाचो इंद्रियोके विषयोमे हटकरके सवृत है, परतु निश्चयमें अतींद्रिय सुखके स्वादमें रत है जो व्यवहार नयसे क्रोधादि कषायोको जीत लेनेसे जितकषाय है, परतु निश्चयनयसे कषाय रहित आत्माकी भावनामें रत है तथा जो अपने शुद्धात्माका श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन तथा स्वसंवेदन ज्ञान इन दोनोमें पूर्ण है सो ही इन गुणोका धारी साधु सयमी है ऐसा कहा गया है। इससे यह सिद्ध किया गया कि व्यवहारमें जो बाहरी पदार्थोंके सम्बन्धरूप व्याख्यान किया गया उससे सविकल्प सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनोंका एक साथ होना चाहिये, भीतरी आत्माकी अपेक्षा व्याख्यानसे निर्विकल्प आत्मज्ञान लेना चाहिये। इस तरह एक ही सविकल्प ने रहित तीनपना तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान दोनों घटता है।

भावार्थ-इस गाथामे आचार्यने यह बात झलका दी है कि आत्मज्ञान या आत्मध्यान ही मुनिपना है तथा यही सयम है जो

भावार्थ—उसी ही अपने आत्माको अनुभव करताहुआ परम एकाग्रभावको पाता है तथा वचनअगोचर स्वाधीन आनन्दका लाभ करता है। जैसे वायु रहित प्रदेशोंमें रक्खा हुआ दीपक नहीं कंपता है—अखंड जलता है तैसे योगी अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर होता हुआ एकाग्रभावको नहीं त्यागता है तब बाहरी अन्य पदार्थोंके होते हुए भी अपने आत्मामें अपने आत्माको अनुभव करते हुए और कुछ भी नहीं झलकता है। इस तरह अपने आत्माको एकाग्रभावसे अनुभव करते हुए वह योगी 'जिसका सर्व अहंकार ममकार नष्ट होगया है' आगामी आने योग्य कर्मोंको रोक देता है और पुराने बांधे हुए कर्मोंका क्षय करता है। यही शुद्धोपयोगकी दशा है। श्री देवसेनाचार्य तत्वसारमें कहते हैं —

ससहाव वेदतो णिच्चलचित्तो विमुक्कपरभावो ।
सो जीवो णायव्वो दसणणाण चरित्त च ॥५६ ॥
जो अप्पा त णाण ज णाण त च दंसण चरण ।
सा सुद्धचेयणावि य णिच्छयणयमस्सिए जीवे ॥५७॥

भावार्थ—वह योगी निश्चल चित्तको परभावोंसे छूटा हुआ अपने स्वभावको जब अनुभव करता है तब वही जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप जानना चाहिये। जो जीव निश्चयनयके विषयरूप शुद्ध भावमें आश्रय लेता है उसके अनुभवमें जो आत्मा है सो ही ज्ञान है, जो ज्ञान है वही सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र है अथवा वही शुद्ध ज्ञान चेतना है।

शुद्धोपयोग परम कल्याणकारी है ऐसा जान इसीको उपादेय मान इसीका उद्यम करना चाहिये। इसतरह शुभ, अशुभ, शुद्ध ... हुए तीसरे स्थलमें तीन गाथाएं पूर्ण

था कि मैं समिति पाऊं, गुप्ति रक्खूं, इंद्रिय दमूं, कषायोंको जीतूं, सात तत्व ही यथार्थ है, आगमसे ही श्रुतज्ञान होता है तबतक व्यवहार मार्गपर चल रहा था। जब यह विकल्प रह गया कि मेरा आत्मा ही मैं कुछ हूँ, यही एक मेरा निजद्रव्य है, उसीमें ही तन्मय होना चाहिये तब वह निश्चय मार्गपर चल रहा है। इस तरह चलने २ अर्थात् आत्माकी भावना करते २ जब स्वानुभव प्राप्त करलेता है तब विचारोंकी तरंगोंसे छूटकर कल्लोल रहित समुद्रके समान निश्चल होजाता है। इसीको आत्मध्यान कहते हैं। यद्यपि यह ध्यान निश्चय और व्यवहार नयके विकल्पसे रहित है तथापि वहां दोनों ही मार्ग गर्भित हैं। उसने एक आत्माको ही ग्रहण किया है इससे निश्चय मार्ग है तथा उसकी इंद्रिया निश्चल हैं, मन थिर है, कषायोंका वेग नहीं है, गमन भोजन शौचादि नहीं है, तत्वार्थश्रद्धान व आत्मश्रद्धान है, आगमका यथार्थज्ञान है तथा निज आत्माका ज्ञान है, ये सब उस आत्म-ध्यानमें इसी तरह गर्भित हैं जैसे एक शर्बतमें अनेक पदार्थ मिले हों, एक चटनीमें अनेक मसाले मिले हों, एक औषधिमें अनेक औषधियें मिली हों। इस तरह जहां आत्मज्ञान है उसी समय वहां तत्वार्थश्रद्धान, आगमज्ञान तथा संयमपना है—इन सबकी एकता है। इस एकतामें रमणकर्ता ही संयमी श्रमण है। जैसा श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीने द्रव्यसंग्रहमें कहा है—

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता यूयं झाणं समब्भसह॥

अर्थात्—मुनि ध्यानमें ही निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गको

वचन, कायके व्यापारसे होती है। यहां आचार्य शुद्धात्माकी तरफ लक्ष्य करके कहते हैं कि यह आत्मा न शरीर है, न मन है, न वाणी है, न उनका कारण है, न उनका कर्ता है, न करनेवाला है, न इनका होना किसीके चाहता है। निश्चय नयसे आत्मा ज्ञायक-स्वभाव है। उसका स्वभाव न शरीर लेना न उसकी क्रिया करना है, न वचनोंका व्यवहार करना है न मनका संकल्प विकल्प करना है। जितनी मन वचन कायकी क्रियाएं होती हैं वे मुख्यतासे मोहके कारणसे सराग अवस्थामें तथा नामकर्मके कारणसे वीतराग अवस्थामें होती हैं। इनकी क्रियाओंमें बारहवें गुणस्थान तक क्षयोपशम ज्ञानोपयोग काम करता है जो आत्माके शुद्ध ज्ञानसे भिन्न है। जैसे मन वचन कायकी क्रियाएं स्वभावसे शुद्ध कर्म रहित आत्मामें नहीं होती हैं वैसे मन, वचन, कायकी रचना भी आत्मासे नहीं होती है न आत्मा उनरूप है, न उनका कारण है क्योंकि आत्मा चैतन्यरूप अमूर्तीक है, जब कि मन वचन काय जड़रूप मूर्तीक है। हृदयस्थानमें मनोवर्गणासे बना हुआ द्रव्य मन आठ पत्रके कमलके आकार है। भाषा वर्गणाओंसे वचन, तथा आहारक वर्गणाओंसे हमारा शरीर बनता है। इस तरह ये मन वचन काय पुद्गलमई हैं। इनका कारण भी पुद्गल है। मेरे चैतन्य स्वभावमें ये सर्वथा भिन्न हैं ऐसा समझकर इनसे वैराग्यमान लाकर शरीरमें विराजित शुद्धात्माको ही अपना स्वरूप समझना चाहिये।

जबतक इन मन वचन कायोंमें अहंबुद्धि न छोडेगा तबतक इस जीवको स्वपदका भान नहीं होसक्ता। श्री पूज्यपादस्वामीने

जिस महात्माके भीतर राजता है वही जैन साधु है। वास्तवमें सुखदु:ख मानने, अच्छाबुरा समझने, मान अपमान गिननेके जितने भाव हैं वे सब रागद्वेषकी पर्यायें हैं—कषायके ही विकार हैं। परम तत्वज्ञानी साधुने कषायोंको त्याग करके वीतराग भावपर चलना शुरू किया है इसलिये उनके कषायभाव नहीं होते। वे बाहरी अच्छी बुरी दशामें समताभाव रखते हुए उसे पुण्य पापका नाटक जानते हुए अपने निष्कषाय भावसे हटते नहीं। ऐसे साधु आत्मानुभवरूपी समताभावमें तल्लीन रहते हैं इसीसे बाहरी चेष्टाओंसे अपने परिणामोंमें कोई असर नहीं पड़ा करते। साधुओंको मुक्ति द्वीपमें जन्मना ही सच्चा जन्म भासता है। शरीरका बदलना वस्त्रोंके बदलनेके समान दिखता है। जो भावलिंगी साधु हैं उनके ये ही लक्षण हैं।

सो ही मोक्षपाहुडमें कहा है—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो शरीरकी ममता रहित हैं, रागद्वेषसे शून्य हैं, यह मेरा इस बुद्धिको जिसने त्याग दिया है, व जो लौकिक व्यापारसे रहित हैं तथा आत्माके स्वभावमें रत हैं वही योगी निर्वाणको पाता है।

मूलाचार अनगारभावनामें कहा है—

जो सव्वगंथमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा।
वोसट्ठचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति ॥ १५ ॥
सव्वारंभणियत्ता जुत्ता जिणदेसिदम्मि धम्मम्मि।
ण य इच्छंति ममत्तिं परिग्गहे वालमित्तम्मि ॥ १६ ॥

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पगत्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्व पि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाण ॥ ७२ ॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टा ।
पुद्गलद्रव्यमपि पुन पि॰ परमाणुद्रव्याणाम् ॥ ७२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ –(देहो य मणो वाणी) शरीर, मन और वचन (पोग्गलदव्वप्पगत्ति) ये तीनों ही पुद्गल द्रव्य-मई (णिद्दिट्ठा) कहे गए है । (पुणो) तथा (पोग्गलदव्व पि) पुद्गल द्रव्य भी (परमाणुदव्वाण पिंडो) परमाणुरूप पुद्गल द्रव्योंका समूहरूप स्कध है ।

विशेषार्थ–जीवके साथ इन मन वचन कायकी एकता व्यवहार नयसे माने जानेपर भी निश्चयनयसे ये तीनों ही परम चैतन्य-रूप प्रकाशकी परिणतिसे भिन्न है । वास्तवमें ये परमाणुरूप पुद्ग-लोंके बने हुए स्कधरूप वर्गणाओंसे बनकर पुद्गलद्रव्यमई ही हैं।

भावार्थ–पहली गाथामें जिस बातको दिखलाया है उसीका यहा स्पष्ट कथन है कि जब निश्चय नयसे आत्माके निज परम स्वभावकी तरफ दृष्टि डालते हैं तो वहा शुद्ध ज्ञानादिमई आत्माका ही राज्य है। वहा न क्षयोपशम ज्ञान है, न क्षयोपशम वीर्य है, न मोहका उदय है, न नामकर्मका उदय है जिनके कारण भाव मन, भाव वचन व भाव काय योग काम करते हैं और न वहा पुद्गलीक मनोवर्गणाओंमे बना मन है, न भाषा वर्गणाओमे बना वचन है, न आहारक वर्गणासे बना हुआ औदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर है, न [illegible] वर्गणामे बना हुआ तैजस शरीर है और न कार्माण [illegible] हुआ कार्माण शरीर है। अतएव मैं [illegible]

आइरियत्तणमुवणयइ जो मुणी आगमं ण याणतो ।
अप्पाण पि विणासिय अण्णे वि पुणो विणासेई ॥ ७२ ॥

भावार्थ–इतने प्रकारके साधुओंसे सगति न करनी चाहिये। जो विष वृक्षके समान मारनेवाला रौद्रपरिणामी हो, वचन आदि क्रियाओंमें चपल हो, चारित्रमें आलमी हो, पीठ पीछे चुगली करनेवाला,हो, अपनी गुरुता चाहता हो, कषायमे पूर्ण हो ॥६४॥ दुग्वी मादे साधुओंकी वैयावृत्य न करता हो, पाच प्रकार विनय रहित हो, खोटे शास्त्रोंका रसिक हो, निन्दनीय आचरण करता हो, नग्न होकर भी वैराग्य रहित हो ॥६५॥ कुटिल वचन बोलता हो, पर निंदा करता हो, चुगली करता हो, मारणोच्चाटन वशीकरणादि खोटे शास्त्रोंका सेवनेवाला हो, बहुत कालका दीक्षित होनेपर भी आरम्भका त्यागी न हो, ॥६६॥ दीर्घकालका दीक्षित होकर भी जो मिथ्यात्व सहित हो, इच्छानुमार वचन बोलनेवाला हो, नीचकर्म करता हो, लौकिक और पारलौकिक धर्मको न जानता हो तथा जिससे इसलोक परलोकका नाश हो ॥६७॥ जो आचार्यके सघको छोड़कर अपनी इच्छासे अकेला घूमता हो व जिसको शिक्षा देनेपर भी उस उपदेशको ग्रहण नहीं करता हो ऐसा पाप श्रमण हो, जो पूर्वमें शिष्यपना न करके शीघ्र आचार्यपना करनेके लिये घूमता हो अर्थात् जो मत्त हाथीके समान पूर्वापर विचार रहित ढोंढाचार्य हो ॥६९॥ जो दुर्जनकेमे वचन कहता हो, आगे पीछे विचार न कर ऐसे दुष्ट वचन कहता हो जैसे नगरके भीतरसे कूडा बाहर किया जाता हो ॥ ७१ ॥ तथा जो स्वय आगमको न जानता हुआ अपनेको आचार्य थापकर अपने आत्माको और दूसरे आत्माओंका नाश करता हो ॥ ७२ ॥

उत्थानिका–आगे फिर दिखाते हैं कि इस आत्माके जैसे शरीररूप पर द्रव्यका अभाव है वैसे उसके कर्तापनेका भी अभाव है।

णाह पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंड ।
तम्हा हि ण देहोऽह कत्ता वा तस्स देहस्स ॥ ७३ ॥

नाहं पुद्गलमयो न ते मया पुद्गला कृता पिण्डम् ।
तस्माद्धि न देहोऽहं कर्ता वा तस्य देहस्य ॥ ७३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ –(णाह पोग्गलमइयो)मैं पुद्गल मई नहीं हूं (ते पोग्गला पिंड मया ण कया) तथा वे पुद्गलके पिंड जिनमे मन वचन काय बनते हैं मेरेसे बनाए हुए नहीं हैं (तम्हा) इस लिये (हि) निश्चयसे (अह देहो ण) मैं शरीररूप नहीं हूं (वा तस्स देहस्स कत्ता) और न उस देहका बनानेवाला हूं।

विशेषार्थ–मैं शरीर नहीं हूं क्योंकि मैं असलमें शरीर रहित सहज ही शुद्ध चैतन्यकी परिणतिको रखनेवाला हूं इसमें मेरा और शरीरका विरोध है। और न मैं इस शरीरका कर्ता हूं क्योकि मैं क्रियारहित परम चैतन्य ज्योतिरूप परिणतिका ही कर्ता हूं–मेरा कर्तापना देहके कर्तापनसे विरोधरूप है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने आत्मा और शरीरका भेद-ज्ञान और भी अच्छी तरह दिखा दिया है कि आत्माका स्वरूप स्पर्श, रस, गंध, वर्णसे रहित चैतन्यमई है। जब कि शरीर जिन पुद्गलोंसे बना है उन पुद्गलोंका स्वरूप स्पर्श, रस, गंध, वर्णमई जड अचेतन है। तथा आत्मा अपनी चेतनामई परिणतिका करनेवाला है-वह जडकी परिणतिको करनेवाला नहीं है-हरएक द्रव्य अपनी उपादान शक्तिसे अपने ही अनंत गुणोंमें परिणमन किया

करके हमसे आहार, औषधि, विद्या तथा प्राणदान करना चाहिये। यह शुभ भाव पुण्यबंधका कारण है।

श्री वसुनंदी श्रावकाचारमें करुणादानको बताया है—

अइवुड्ढबालमूयंधबहिरदेसंतरीयरोड्ढ ।
जह जोग्गं दायव्वं करुणादाणेति भणिऊण ॥ २३५ ॥

भावार्थ—बहुत बूढा, बालक, गूगा, अंधा, बहरा, परदेशी, रोगी इनको यथायोग्य देना सो करुणादान कहा गया है। पंचाध्यायीमें अनुकम्पाका स्वरूप है—

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥ ४४६ ॥

भावार्थ—सर्व प्राणी मात्रपर उपकार बुद्धि रखना व उसका आचरण सो अनुकम्पा कहलाती है, मैत्रीभाव रखना भी दया है, अथवा द्वेष त्याग मध्यमवृत्ति रखना व वैर छोडकर शल्य या कषाय भाव रहित होना भी अनुकम्पा है।

दीनेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।
दानेभ्यो दयादानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥ ७३१ ॥

भावार्थ—पात्रोंके सिवाय जो कोई भी दुःखी प्राणी अपने पापके उदयमें भूखे, प्यासे, रोगादिमें पीडित हो, दयावानोंको उन्हें दया दान आदि करना चाहिये ॥ ९० ॥

उत्थानिका—आगे लौकिक साधु जनका लक्षण बताते है—

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं ।
सो लोगिगोदि भणिदो संजमतवसंपजुत्तोवि ॥ ९१ ॥

निर्ग्रंथः प्रव्रजितो वर्तते यद्यैहिकैः कर्मभिः ।
स लौकिक इति

इस जीवको अशुद्ध अवस्थामें व्यवहार नयसे कर्मोंका व शरीरका कर्ता कहते हैं क्योंकि जिन कर्मोंके निमित्तसे शरीर बने हैं उन कर्मोंके सचय होने योग्य अशुद्ध भावोंको इस जीवने किया था। जैसे किसी आदमीको शीतज्वर होजाय तो उसको शीतज्वरका कर्ता व्यवहारसे कहेंगे परतु निश्चयसे उसने अपनेमें कभी भी शीतज्वरका होना नहीं चाहा है। वह ज्वर स्वय शरीरके भीतर वायु आदि कारणोंसे पैदा हुआ है क्योंकि उसने शरीरकी रक्षाका यत्न नहीं किया परन्तु वायुका प्रवेश होने दिया। इसलिये वह शीतज्वरका निमित्त हुआ। इस निमित्त नैमित्तिक भावके कारण उसको शीत ज्वरका कर्ता कहसक्ते हैं वैसे ही आत्माने अशुद्ध रागादि भाव किये थे जिनके निमित्तसे शरीर प्राप्त हुए इसलिये व्यवहार नयसे आत्माको शरीरोंका निमित्त कर्ता कह सक्ते हैं परन्तु वास्तवमें इन शरीरोंका उपादान कारण पुद्गल ही है आत्मा नहीं।

व्यवहारमें कुम्हार घटको बनाता है, जुलाहा पटको बनाता है, राज मकानको बनाता है, ऐसा जो कहते हैं यह भी व्यवहार नयका वचन है। वास्तवमें कुम्हार, जुलाहा, व राजके अशुद्ध भाव व उसकी आत्माके प्रदेशोंका हलनचलन निमित्त सहकारी कारण है उनके निमित्तको पाकर उनका पुद्गलमई शरीर भी निमित्त होजाता है परन्तु वे घट पट मकान अपने ही उपादान कारणसे स्वय ही घट, पट, मकानरूप बन जाते हैं। मिट्टी आप ही घटकी सूरतमें बदलती है। रुई आप ही तागे बनकर कपड़ेकी सूरतमें बदलती है, ईंट पत्थर लकडी चूना गारा आप ही मकानकी सूर- ते हैं। इन घट पट मकानमें कुम्हार

लौकिक साधु हो जाता है। ऐसा साधु मोक्षके साधनमें शिथिल पट जाता है इसलिये लौकिक है। अतएव ऐसे साधुकी संगति न करनी योग्य है।

कभी कहीं धर्मके आयतनपर विघ्न पडे तब साधु उसके निवारणके लिये उदासीन भावसे मंत्र यंत्र करें तो दोष नहीं है। अथवा धर्म कार्यके निमित्त मुहूर्त देखदें व रोगी धर्मात्माको देख-कर उसके रोगका यथार्थ इलाज बतावें अथवा गृहस्थोंके प्रश्न होनेपर कभी कभी अपने निमित्तज्ञानसे उत्तर बतादें। यदि इन बातोंको मात्र परोपकारके हेतुसे कभी कभी कोई शुभोपयोगी साधु करे तो दोष नहीं होसक्ता है। परन्तु यदि नित्यकी ऐसी आदत बनाले कि इससे मेरी प्रसिद्धि व मान्यता होगी तो ये कार्य्य साधुके लिये योग्य नहीं हैं, ऐसा साधु साधु नहीं रहता। श्री मूलाचार समयसार अधिकारमें कहा है कि साधुको लौकिक व्यवहार नहीं करना चाहिये–

अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भवे णिरारम्भो।
चत्तकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य ॥ ५ ।

भावार्थ–जो लोक व्यवहारसे रहित है व अपने आत्माको असहाय जानकर व आरंभ रहित रहकर व कषाय और परिग्रहका त्यागी होता हुआ, अत्यन्त विरक्त मोक्षमार्गकी चेष्टा करता हुआ आत्मध्यानमें एकाग्र मन होता है वही साधु है।

मुनिके सामायिक नामका चारित्र मुख्यतासे होता है। उसीके कथनमें मूलाचार षडावश्यक अधिकारमें कहा है –

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
जीवो सामाइयं णाम संजमट्ठाणमुत्तमं ॥ २३ ॥

ऐसा वस्तुका स्वरूप जानकर मैं न देहरूप हू, न देहका कर्ता हू, ऐसा श्रद्धान दृढ जमाकर देहसे भिन्न निज आत्माको ही अनुभव करके शुद्धोपयोगमई साम्यभावमें कल्लोल करके सदा सुखी होना चाहिये।

इस तरह मन वचन कायका शुद्धात्माके साथ भेद है ऐसा कथन करते हुए चौथे स्थलमें तीन गाथाए पूर्ण हुईं। इस तरह पूर्वमें कहे प्रमाण "अस्थित्तणिच्छिदस्स हि" इत्यादि ग्यारह गाथाओंसे चौथेस्थलमें प्रथम विशेष अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

अब केवल पुद्गलकी मुख्यतासे नव (९) गाथा तक व्याख्यान करते हैं। इसमें दो स्थल हैं। परमाणुओंमें परस्पर बध होता है इस बातके कहनेके लिये "अपदेसो परमाणू" इत्यादि पहले स्थलमें गाथाए चार हैं। फिर स्कधोंके बधकी मुख्यतासे "दुपदेसादी खधा" इत्यादि दूसरे स्थलमें गाथा पाच हैं। इस तरह दूसरे विशेष अतर अधिकारमें समुदायपातनिका है।

उत्थानिका–यदि आत्मा पुद्गलोंको पिंडरूप नहीं करता है तो किस तरह पिंडकी पर्याय होती है इस प्रश्नका उत्तर देते हैं–

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥ ७४ ॥

अप्रदेश परमाणु प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो वा।
स्निग्धो वा रूक्षो वा द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ॥ ७४ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(परमाणू) पुद्गलका अविभागी खड [illegible] (अपदेसो) जो बहुत प्रदेशोंसे रहित है ([illegible] तो य) [illegible] है और (सयमसद्दो) स्वय व्यक्तरूपसे

जाता है, ऐसा जानकर तपोधनको अपने समान या अपनेसे अधिक गुणधारी तपोधनका ही आश्रय करना चाहिये। जो साधु ऐसा करता है उसके रत्नत्रयमई गुणोंकी-रक्षा अपने समान गुणधारीकी संगतिसे इस तरह होती है जैसे शीतल पात्रमे रखनेसे शीतल जलकी रक्षा होती है। और जैसे उसी जलमे कपूर शक्कर आदि ठडे पदार्थ और डाल दिये जावें तो उस जलके शीतलपनेकी वृद्धि हो जाती है। उसी तरह निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके साधनमे जो अपनेसे अधिक हैं उनकी संगतिसे साधुके गुणोंकी वृद्धि होती है "ऐसा भाव है।"

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने स्पष्टपने इस बातको दिखा दिया है कि साधुको ऐसी संगति करनी चाहिये जिससे अपने रत्नत्रयरूप धर्ममें कोई कमी न आवे—या तो वह धर्म वैसा ही बना रहे या उसमें बढ़वारी हो। अल्पज्ञानीका मन दूसरोंके अनुकरणमें बहुत शीघ्र प्रवर्तता है। यदि खोटी संगति होती है तो उसके औगुणोंमें जाता है। यदि अच्छी संगति होती है तो उसके गुणोंमे ऐसाही होता है। वस्त्रको यदि साधारण पिटारीमें रख दिया जावे तो वह न बिगड़कर वैसा ही रहेगा। यदि सुगंधित पिटारीमें रक्खा जावे तो वस्त्रमें सुगंध बढ जायगी। इसी तरह समान गुणधारीकी संगतिसे अपने गुण बने रहेंगे तथा अधिक गुणधारीकी संगतिसे अपने गुण बढ जायगे। इसलिये जिसने मोक्ष मार्गमें चलना स्वीकार किया है उसको मोक्षपद पर पहुचनेके लिये उत्तम संगति सदा रखनी योग्य है। गुणवानोकी ही महिमा होती है। कहा है—कुलभद्राचार्यने सारसमुच्चयमें—

जाते है। पानी स्वय नीमकी सगतिसे कडुवा, ईखकी सगतिसे मीठा नींबूकी सगतिसे खट्टा हो जाता है। पानीके बहावसे नदीके किनारे टूट जाते हैं–पानी मट्टीको बहा ले जाता है व मट्टी कहीं जमकर टापूसा बन जाती है। सूर्यकी गरमी पाकर मोम स्वय पिघल जाता है। हवाके लगनेसे मकान, कपडे, बर्तनादिकी अवस्था पलट जाती है। इत्यादि जगतमें अकेले ही पुद्गल अपने भिन्न २ स्वभावमें बडे २ काम करते दिखाई पडते हैं। इसी तरह परमाणु भी दो अधिक चिकने या रूखे अशधारी परमाणुसे बध जाते हैं। जैसे परमाणु बधकर स्कन्ध हो जाते हैं वैसे स्कध टूटकर परमाणुकी अवस्थामें भी आजाते हैं। जिसमें मिलने बिछुडनेकी शक्ति हो उसे ही पुद्गल कहते हैं। इससे यह बात बताई गई है कि शरीर, बचन तथा मन जिन स्कधोंसे बने है वे स्कध स्वय परमाणुओंके बधनेमे पैदा होते रहते हैं। आत्मा स्वभावसे पुद्गलसे भिन्न है ऐसा समझकर शुद्ध आत्माके मननमें उपयुक्त हो साम्यभावकी प्राप्ति करनी चाहिये, यह तात्पर्य्य है।

उत्थानिका–आगे वे स्निग्ध रूक्ष गुण किस तरह हैं ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर देते हैं –

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तण व लुक्खत्त।
परिणामादो भणिद जाव अणतत्तमणुहवदि ॥ ७५ ॥

एकोत्तरमेकाद्यणो स्निग्धत्व वा रूक्षत्वम्।
परिणामाद् भणित यावदनन्तत्वमनुभवति ॥ ७५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ –(अणुस) परमाणुका (णिद्धत्तण वा लुक्खत्त) [illegible]पना या रूखापना (एगादी) एक

जाता है, ऐसा जानकर तपोधनको अपने समान या अपनेसे अधिक गुणधारी तपोधनका ही आश्रय करना चाहिये। जो साधु ऐसा करता है उसके रत्नत्रयमई गुणोंकी रक्षा अपने समान गुणधारीकी सगतिमे इस तरह होती है जैसे शीतल पात्रमें रखनेसे शीतल जलकी रक्षा होती है। और जैसे उसी जलमें कपूर शकर आदि ठडे पदार्थ और डाल दिये जावें तो उस जलके शीतलपनेकी वृद्धि हो जाती है। उसी तरह निश्चय व्यवहार रत्नत्रयके साधनमें जो अपनेस अधिक हैं उनकी सगतिसे साधुके गुणोंकी वृद्धि होती है " ऐसा भाव है। "

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने स्पष्टपने इस बातको दिखा दिया है कि साधुको ऐसी सगति करनी चाहिये जिससे अपने रत्नत्रयरूप धर्ममें कोई कमी न आवे-या तो वह धर्म वैसा ही बना रहे या उसमे बढ़वारी हो। अल्पज्ञानीका मन दूसरोंके अनुकरणमें बहुत शीघ्र प्रवर्तता है। यदि खोटी सगति होती है तो उसके दोगुणोंमें जाता है। यदि अच्छी सगति होती है तो उसके गुणोंमें प्रेमालु होता है। वस्त्रको यदि साधारण पिटारीमें रख दिया जावे तो वह न बिगडकर वैसा ही रहेगा। यदि सुगंधित पिटारीमें रक्खा जावे तो वस्त्रमें सुगध बढ जायगी। इसी तरह समान गुणधारीकी सगतिमे अपने गुण बने रहेंगे तथा अधिक गुणधारीकी सगतिसे अपने गुण बढ जायगे। इसलिये जिसने मोक्ष मार्गमें चलना स्वीकार किया है उसको मोक्षपद पर पहुचनेके लिये उत्तम सगति सदा रखनी योग्य है। गुणवानोंकी ही महिमा होती है। कहा है-कुलभद्राचार्यने सारसमुच्चयमें—

चिकने या रूखेपनके हो जाते हैं—अथवा कोई परमाणु अधिक अंश चिकने या रूखेपनेको रखता था सो अंशोंमें घटते हुए एक अंश तक शक्तिका धारी हो सक्ता है । जैसे जलकी चिकनईसे बकरीके दूधमें चिकनई ज्यादा है, बकरीके दूधसे गायके दूधमें, गायके दूधसे भैंसके दूधमें ज्यादा है । इसी तरह एक ही समयमें अनंत परमाणुओंमें भिन्न२ प्रकारकी कमती बढती अंशोंको रखने-वाली चिकनई या रूखापन होता है । संभव है बहुतसे परमाणु समान अविभाग परिच्छेदोंके धारक एक समयमें हों । वास्तवमें प्रत्येक परमाणु अनंत, स्निग्ध या रूक्ष शक्तिका धारक है । तथापि उसके अंशोंमें पर निमित्तके वशसे परिणमन होता रहता है जिस परिणमनको हम तिरोभाव या आविर्भाव कहसक्ते हैं । जितनी चिकनई या रूखापन प्रगट है उसका तो आविर्भाव है व जितनी चिकनई या रूखापन अप्रगट है उसका तिरोभाव है । जैसे जीव कषायके मंद उदयसे मंदराग द्वेषको, मध्यम कषायोदयसे मध्यम राग-द्वेषको तथा उत्कृष्ट कषायके उदयसे उत्कृष्ट राग द्वेषको प्रगटता है । जीवका चारित्रगुण कषायोंके उदयके निमित्त [illegible] तिरोहित होता है—जितना कम उदय होता है उतना कम [illegible] है ।

परमाणुमें यह परिणमन शक्ति न होती [illegible] आम पक जानेपर अधिक चिकना न होता [illegible] शरीरमें स्पर्शसे दूधकीसी चिकनईमें न परिणमन [illegible] ।

यह परिणमनशक्ति वस्तुका स्वभाव है, [illegible] अनुभव गोचर है । कालादिके [illegible] पुद्गल द्रव्य [illegible] हुए दिखाई पड़ते हैं । एक [illegible] स्पर्शका [illegible] है [illegible]सीकी [illegible]

विशेषार्थ—जो कोई साधु या अन्य आत्मा सात तत्त्व नव पदार्थोंका स्वरूप स्याद्वाद नयके द्वारा यथार्थ न जानकर औरका और श्रद्धान कर लेते हैं और यही निर्णय कर लेते हैं कि आगममें तो यही तत्व कहे हैं वे मिथ्या श्रद्धानी या मिथ्याज्ञानी जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव स्वरूप पाच प्रकार संसारके भ्रमणसे रहित शुद्ध आत्माकी भावनासे हटे हुए इस वर्तमान कालसे आगे भविष्यमें भी नारकादि दु खोंके अत्यन्त कटुक फलोंसे भरे हुए संसारमे अनन्तकाल तक भ्रमण करते रहते हैं। इसलिये इस तरह संसार भ्रमणमे परिणमन करनेवाले पुरुष ही अभेद नयसे संसार स्वरूप जानने योग्य हैं।

भावार्थ—वास्तवमे जिन जीवोंके तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान व ज्ञान नहीं है वे ही अन्यथा आचरण करते हुए पाप कर्मोंको व पापानुबन्धी पुण्य कर्मोंको बाधते हुए नर्क, तिर्यंच, मनुष्य, देव चारों ही गतियोंमें अनतकाल तक भ्रमण किया करते हैं। रागद्वेष मोह संसार हैं। इन ही भावोंसे आठ कर्मोंका बन्ध होता है। कर्मोंके उदयसे शरीरकी प्राप्ति होती है। शरीरमें वासकर फिर राग द्वेष मोह करता है। फिर कर्मोंको बाधता है। फिर शरीरकी प्राप्ति होती है। इस तरह बराबर यह मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव भ्रमण करता रहता है। आत्मा और अनात्माके भेदज्ञानको न पाकर परमें आत्मबुद्धि करना व सासारिक सुखोंमें उपादेय बुद्धि रखना सो ही मोह है। मोहके आधीन हो इष्ट पदार्थोंमें राग और अनिष्ट पदार्थोंसे द्वेष करना ये ही संसारके कारणीभूत अनन्तानुबंधी कषाय रूप रागद्वेष हैं। इन ही भावोंको यथार्थमें संसार

णुमें दो अंश अधिक होगए तब वह परमाणु चार अंशरूप शक्तिमें परिणमन करनेवाला होजाता है। इस चार गुणवाले परिमाणुका पूर्वमें कहे हुए किसी दो अंशधारी परमाणुके साथ बंध होजायगा तैसे ही दो परमाणु तीन तीन अंश शक्तिधारी हैं उनमेंसे एक तीन अंश शक्ति रखनेवाले परमाणुमें मानलो परिणमन होनेसे दो शक्तिके अंश अधिक होनेसे वह परमाणु पांच अंशवाला होगया। इस पंच अंशवालेका पहले कहे हुए किसी तीन अंशवाले परमाणुसे बंध होजावेगा। इसतरह दो अंशधारी चिकने परमाणुका दूसरे दो अधिक अंशवाले चिकने परमाणुके साथ या दो अंशवाले रूखेका दो अधिक अंशवाले रूखेके साथ, या दो अंशवाले चिकनेका दो अधिक अंशवाले रूखे परमाणुके साथ बंध होजावेगा। इसी तरह समका या विषमका बंध दो अंशकी अधिकता होनेपर ही होगा। जो परमाणु जघन्य चिकनाईको जैसे जलमें मान ली जावे या जघन्य रूखेपनेको जैसे बालूकणमें मान लीजावे, रखता होगा उनका बंध उस दशामें किसी भी परमाणुसे नहीं होगा। यहां यह भाव है कि जैसे परमचैतन्यभावमें परिणतिको रखनेवाले परमात्माके स्वरूपकी भावनामई धर्मध्यान या शुक्ल ध्यानके बलसे जब जघन्य चिकनाईकी शक्तिके समान सब राग क्षय होजाता है या जघन्य रूखेपनेकी शक्तिके समान सर्व द्वेष क्षय होजाता है तब जैसे जलका और बालूका बंध नहीं होता वैसे जीवका कर्मोंसे बंध नहीं होता। वैसे ही जघन्य, स्निग्ध या रूक्ष [illegible] का भी किसीसे बंध नहीं होता यह अभिप्राय है।

अवैतु शास्त्राणि नरो विशेषतः करोतु चित्राणि तपांसि भावत ।
अतत्वसंसक्तमनास्तथापि नो विमुक्त सौख्य गतवाधमश्नुते ॥१४४

भावार्थ—कोई चाहे क्षमादि दश प्रकार धर्मको पालो व निर्दोष भिक्षासे भोजन ग्रहण करो, व चित्तके विस्तारको रोककर ध्यान करो तथापि मिथ्यात्व सहित जीव कभी मुक्ति नही पासक्ता है। तरह२ से चार प्रकार दान चाहे देओ, अनि भक्तिसे अर्हतोकी भक्ति करो, शील पालो, उपवास करो तथापि मिथ्यादृष्टी सिद्धि नहीं पासक्ता है। कोई मनुष्य चाहे खूब शास्त्रोंको जानो व भावसे नाना प्रकार तपस्या करो तथापि जिसका मन मिथ्यातत्त्वोंमें आसक्त है वह कभी भी बाधारहित मोक्षके आनन्दको नही भोग सक्ता है।

विचित्रवर्णाञ्चितचित्रमुत्तम यथा गताक्षो न जनो विलोक्यते ।
प्रदर्श्यमान न तथा प्रपद्यते कुदृष्टिजीवो जिननाथशासनम् ॥१४५

भावार्थ—जैसे नाना प्रकार वर्णोंमे रचित उत्तम चित्रको अंधा पुरुष नहीं देख सक्ता है वैसे ही मिथ्यादृष्टी जीव जिनेन्द्रके शासनको अच्छी तरह समझाए जानेपर भी नही श्रद्धान करता है।

वास्तवमें जब तक नित्य अनित्य, एक अनेक आदि स्वभावमई सामान्य विशेष गुण रूप आत्माका गुणपर्याय रूपसे व उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूपसे श्रद्धान नही होगा तथा अतरगमे निजात्मानन्दका स्वाद नही प्रगट होगा, तबतक मिथ्यादर्शनके विकारसे नहीं छूटता हुआ यह जीव कभी भी सुख शातिके मार्गको है। यही ससार तत्व है।

सारसमुच्चयमे कहते हैं–

बधका भाव यह है कि परस्पर मिल्के एकरूप होजाना। यदि तीन गुणवाले रूखे परमाणुके साथ पाच गुणवाले चिकने परमाणुका वध होगा तो बध होनेपर वह स्कध चिकना होजायगा जैसा श्री उमास्वामी महाराजने श्री तत्वार्थसूत्रमें कहा है "बधेऽधिकौ पारिणामिकौ च।" ३७।५॥ अर्थात् बध होते हुए अधिक गुणवाला दूसरेको अपनेरूप परिणमा लेता है। सर्वज्ञज्ञानमें जिस तरह परमाणुओंकि स्कध बननेकी रीति झलकी थी उसका यहा कथन किया गया है। वर्तमानमें यदि विज्ञान उन्नति करे तो इस नियमको प्रत्यक्ष करके दिखा सकेगा। सर्वज्ञके ज्ञानकी अपूर्व शक्ति है, इसलिये सर्वज्ञ भाषित कथन किसी तरह असत्य नहीं पड सक्ता, ऐसा जानकर निज आत्माको सर्वज्ञत्त्व प्राप्त करानेके लिये रागद्वेष त्याग शुद्धोपयोगमें ही हमको प्रवर्तना योग्य है ॥ ७६ ॥

उत्थानिका–आगे इसी ही पूर्व कहे हुए भावको विशेष समर्थन करते हैं–

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पञ्चगुणजुत्तो ॥७७॥

स्निग्धत्वेन द्विगुणश्चतुर्गुणस्निग्धेन बधमनुभवति ।
रूक्षेण वा त्रिगुणितोऽणुर्बध्यते पचगुणयुक्त ॥ ७७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ –(णिद्धत्तणेण) चिकनेपनेकी अपेक्षा (दुगुणो) दो अशधारी परमाणु (चदुगुणणिद्धेण वा लुक्खेण) चार अशधारी चिकने या रूखे परमाणुके साथ (बधम् अणुभवदि) बन्धको प्राप्त हो जाता है। (तिगुणिदो अणु) तीन अशधारी चिकना [illegible] रमाणु (पचगुणजुत्तो) पाच अशधारी

पदार्थोंके ज्ञान सहित होनेसे जो यथार्थ वस्तु स्वरूपका ज्ञाता है, तथा विशेष परम शात भावमें परिणमन करनेवाले अपने आत्म-द्रव्यकी भावना सहित होनेसे जो शातात्मा है ऐसा पूर्ण साधु शुद्धात्माके अनुभवमे उत्पन्न सुखामृत रसके स्वादसे रहित होनेके कारणसे इस फल रहित ससारमें दीर्घकाल तक नहीं ठहरता है अर्थात् शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करलेता है। इस तरह मोक्ष तत्वमें लीन पुरुष ही अभेद नयसे मोक्ष स्वरूप है ऐसा जानना योग्य है।

भावार्थ-यहा मोक्ष तत्त्वका झलकाव साधुपदमें होजाता है ऐसा प्रगट किया है। जो साधु शास्त्रोक्त अठाईस मूल गुणोंको उनके अतिचारोंको दूर करता हुआ पालता है अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप वीर्य रूप पाच प्रकार आचारोंको व्यवहार नयकी सहायतासे निश्चय रूप आराधन करता है-इस आचरणमें जिसके रच मात्र भी विपरीतता नहीं होती है। तथा जो आत्मा और अनात्माके स्वरूपको भिन्न २ निश्चय किये हुए है ऐसा कि जिसके सामने ससारी प्राणी जो अजीवका समुदाय है सो जीव और अजी-वके पिंड रूप न दिखकर भिन २ झलक रहा है। और जिसने अपनी कषायोंको इतना जला डाला है कि वीतरागताके रसमें हर समय मगनता हो रही है ऐसा पूर्ण मुनि पदका आराधनेवाला अर्थात् अपने शुद्ध आत्मीक भावमें तल्लीन होकर निश्चय रत्नत्रय-मई निज आत्मामें एकचित्त होता हुआ श्रमण वास्तवमें मोक्षतत्व है क्योंकि मोक्ष अवस्थामें जो ज्ञान श्रद्धान व तल्लीनता तथा स्व-स्वरूपानन्दका भोग है वही इस महात्माको भी प्राप्त हो रहा है-इस कारण इस परम धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानकी अग्निसे अन

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि आत्मा तो परमाणु आदि धारी परमाणुओंके स्कधोंको आदि लेकर अनेक प्रकारके स्कधोंका कर्ता नहीं है —

दुपदेसादी खधा सुहुमा या बादरा ससठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥ ७८ ॥

द्विप्रदेशादय स्कन्धा सूक्ष्मा वा बादरा ससस्थाना।
पृथिवीजलतेजोवायव स्वकपरिणामैर्जायन्ते ॥ ७८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ –(दुपदेसादी खधा) दो परमाणुके स्कधसे आदि लेकर अनन्त परमाणुके स्कध तक तथा (सुहुमा वा बादरा) सूक्ष्म या बादर (ससठाणा) यथासभव गोल, चौखुटे आदि अपने अपने आकारको लिये हुए (पुढविजलतेउवाऊ) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु (सगपरिणमेहिं) अपने ही चिकने रूखे परिणामोंकी विचित्रतासे परस्पर मिलते हुए (जायते) पैदा होते रहते हैं।

विशेषार्थ–ससारी अनत जीव यद्यपि निश्चयसे टांकीमें उकेरी मूर्तिके समान ज्ञायक मात्र एक स्वरूपकी अपेक्षासे शुद्ध बुद्धमई एक स्वभावके धारी हैं तथापि व्यवहारनयसे अनादि कर्मबधकी उपाधिके वशसे अपने शुद्ध आत्मस्वभावको न पाते हुए पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायुकायिक होकर पैदा होते हैं। यद्यपि वे इन पृथ्वी आदि कार्योंमें आकर जन्मते हैं तथापि वे जीव अपनी ही भीतरी सुख दुःख आदि रूप परिणतिके ही अशुद्ध उपादान कारण हैं, पृथ्वी आदि कार्योंमें परिणमन किये हुए पुद्गलोंके नहीं। कारण ... –उनका उपादान कारण पुद्गलके

स्कधोंके गोल, चौखुटे, तिखुटे आदि आकर मन परस्पर बधकी अपेक्षासे होजाते हैं । एक रतन पाषाणकी खानमें अनेक प्रकारके स्पर्श, रस, गध वर्णधारी छोटे बडे, टेढे सीधे, पाषाण खड परमाणुओंके स्निग्ध रूक्ष गुणोंके विचित्र परिणमनकी अपेक्षा सभावमे ही बन जाते हैं—उनको वहा कोई बनाता नहीं है । जैसे प्रत्यक्ष जगतमें मेघ जल आदिके व इन्द्र धनुष, बिजली आदिके स्वाभाविक परिणमन देखनेमें आते हैं वैसे सर्वत्र पुद्गलोंकि ही विचित्र परिणमनसे नानाप्रकार स्कध बन जाते हैं । जैसे श्री नेमिचन्द्रसिद्धातचक्रवर्तीने गोम्मटसारमें कहा है —

णिद्धिदरगुणअहिया हीण परिणामयति बधम्मि ।
सखेज्जासखेज्जाणतपदेसाण खधाण ॥ ६१८ ॥

अर्थ—सख्यात, असख्यात व अनत प्रदेशवाले स्कधोंमें स्निग्ध या रूक्षके अधिक गुणवाले परमाणु या स्कध अपनेसे हीन गुणवाले परमाणु या स्कधोंको अपनेरूप परणमाते हैं । जैसे एक हजार स्निग्ध या रूक्ष गुणके अशोंमे युक्त परमाणु या स्कधको एक हजार दो अशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु या स्कध परणमाता है।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि दो अधिक अशके होते हुए रूखे या चिकने परमाणु या स्कध परस्पर एक दूसरेसे अपनी ही शक्तिसे बन्ध जाते हैं। इसी शक्तिके कारण पुद्गलोंकी विचित्रता जगतमें प्रगट हो रही है ।

ऐसा [illegible]ल पर्यायका उपादान कारण पुद्गल है व सब [illegible]रीरोंकी रचना पुद्गलके [illegible]

आयारादीणाण जीवादीदसण च विण्णेय ।
छज्जीवाण रक्खा भणदि चरित्त तु ववहारो ॥ २६४ ॥
आदा खु मज्झणाणे आदा मे दसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे सवरे जोगे ॥ २६५ ॥

भावार्थ—व्यवहार नयसे आचाराङ्ग आदि शास्त्रोंको जानना सम्यग्ज्ञान है, जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, तथा छ कायके प्राणियोंकी रक्षा करना सम्यग्चारित्र है ये व्यवहार रत्नत्रय है। निश्चय नयसे एक आत्मा ही मेरे ज्ञानमें है, वही आत्मा मेरे सम्यग्दर्शनमें है वही चारित्रमें है वही आत्मा त्यागमें है वही सवरमें और वही ध्यानमें है अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयसे युक्त होकर जो निज आत्माके शुद्ध स्वभावमें लय होजाता है वही निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षमार्गका आराधन करता हुआ मोक्षमार्गका सच्चा साधनेवाला होता है।

श्री मूलाचार समयसार अधिकारमें कहा है —
भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुगई होई ।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थो ॥ १०४ ॥

भावार्थ—जो साधु भावोंमें वैरागी हैं वे ही सच्चे विरक्त है। जो बाहरी मात्र त्यागी हैं उनके मोक्षकी प्राप्ति नहीं होसक्ती। इस लिये पाचों इन्द्रियोंके विषयोंके वनमें रमन करनेमें लोलुपी मनरूपी हाथीको वशमें रखना योग्य है।

श्री मूलाचार अनगार भावनामें कहा है —
णिट्ठविदकरणचरणा कम्म णिद्धुदुदं धुणित्ताय ।
जरमरणविप्पमुक्का उवेंति सिद्धि धुदकिलेसा ॥ ११६ ॥

भावार्थ—जिन साधुओंने ध्यानके बलसे निश्चयचारित्रमें

इससे जाना जाता है कि जितने शरीरको रोककर एक जीव ठहरता है उसी ही क्षेत्रमें कर्मयोग्य पुद्गल भी तिष्ठरहे हैं—जीव उनको कहीं बाहरसे नहीं लाता है।

भावार्थ—इस गाथामे आचार्यने यह दिखलाया है कि जीव स्वभावसे कर्मवर्गणाओंको कहींसे लाते नहीं हैं—यह असख्यात प्रदेशीलोक सर्व तरफ अनतानत पुद्गल स्कधोसे भराहुआ है। एक आकाशके प्रदेशमें सूक्ष्म परिणमनको प्राप्त अनतवर्गणाए मौजूद हैं। सामान्यसे जगतमें सूक्ष्म तथा बादर दो प्रकारके पुद्गल स्कध हैं। जो किसी भी इद्रियसे ग्रहण योग्य हैं उनको बादर कहते हैं। परतु जो किसी भी इद्रियसे ग्रहणयोग्य नहीं हैं उनको सूक्ष्म कहते ह। कर्मरूप होनेको योग्य कार्माण वर्गणा सूक्ष्म हैं। ऐसी कर्म वर्गणाए उन आकाशके प्रदेशोंमें भी भरी हुई हैं जहा एक जीव किसी छोटे या बडे शरीरमें तिष्ठा हुआ है। कोई भी जीव बुद्धिपूर्वक उन वर्गणाओंको लेकर या खींचकर बाधता नहीं है। किंतु जब ससारी जीवोंके नाम कर्मके उदयसे आत्मामें सकम्पपना होता है तब आत्माकी योग शक्तिके परिणमनके निमित्तसे कर्म वर्गणाए यथायोग्य बन्धके सम्मुख होकर बन्ध जाती हैं, ऐसा कोई निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे गर्म लोहेका गोला चारो ओरसे पानी ग्रहण करनेको निमित्त है वैसे अशुद्ध जीव कर्म वर्गणाओंको ग्रहण कर लेता है।

अथवा जैसे गर्मीका निमित्त पाकर जल स्वय भाफरूप परिणमन करजाता है व सूर्यका निमित्त पाकर कमल स्वय खिल जाता है इसी तरह जीवके योगका निमित्त पाकर कर्म वर्गणाए

विशेषार्थ-जो शुद्धोपयोगका धारक साधु है उसीके ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्रकी एकतारूप तथा शत्रु मित्र आदिमें समभावकी परिणतिरूप साक्षात् मोक्षका मार्ग श्रमणपना कहा गया है। शुद्धोपयोगीके ही तीनलोकके भीतर रहनेवाले व तीन काल वर्ती सर्व पदार्थोंके भीतर प्राप्त जो अनन्त स्वभाव उनको एक समयमें विना क्रमके सामान्य तथा विशेष रूप जाननेको समर्थ अनन्तदर्शन व अनन्तज्ञान होते हैं, तथा शुद्धोपयोगीके ही बाधा रहित अनन्त सुख आदि गुणोंका आधारभूत पराधीनतासे रहित स्वाधीन निर्वाणका लाभ होता है। जो शुद्धोपयोगी है वही लौकिक माया, अंजन, रस, दिग्विजय, मंत्र, यंत्र आदि सिद्धियोंसे विलक्षण, अपने शुद्ध आत्माकी प्राप्तिरूप, टांकीमें उकेरेके समान मात्र ज्ञायक एक स्वभावरूप तथा ज्ञानावरणादि आठ विध कर्मोंसे रहित होनेके कारणसे सम्यक्त्व आदि आठगुणोंसे गर्भित अनंत गुण सहित सिद्ध भगवान हो जाता है। इसलिये उसी ही शुद्धोपयोगीको निर्दोष निज परमात्मामें ही आराध्य आराधक संबंध रूप भाव नमस्कार होहु। भाव यह कहा गया है कि इस मोक्षके कारणभूत शुद्धोपयोगके ही द्वारा सर्व इष्ट मनोरथ प्राप्त होते हैं। ऐसा मानकर शेष सर्व मनोरथको त्यागकर इसी शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी योग्य है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने उसी शुद्धोपयोगरूप समता भावको स्मरण किया है जिसमें उन्होंने ग्रन्थके प्रारम्भके समय अपना आश्रय रखनेकी प्रतिज्ञा की थी। तथा यह भी बता दिया है कि जैसा कार्य होता है वैसा ही कारण होना चाहिये। आत्माका

अयोग्य हैं। इस प्रकार एक क्षेत्र स्थित योग्य, १ एक क्षेत्र स्थित अयोग्य २, अनेक क्षेत्र स्थित योग्य ३, अनेक क्षेत्र स्थित अयोग्य ये चार भेद हुए। इन चारोंमें भी एक एकके सादि तथा अनादि भेद जानना। जो पहले ग्रहण किये जाचुके हैं उनको सादि कहते हैं व जिनको अभीतक ग्रहण नहीं किया गया है उनको अनादि कहते हैं। यह जीव मिथ्यात्वादिके निमित्तसे समय समय प्रति कर्मरूप परिणमने योग्य समय प्रबद्ध प्रमाण परमाणुओंको ग्रहणकर कर्मरूप परिणमाता है। वहां किसी समय तो पहले ग्रहण किये हुए जो सादि द्रव्यरूप परमाणु हैं उनका ही ग्रहण करता है। किसी समयमें अभीतक ग्रहण करनेमें नहीं आए ऐसे अनादि द्रव्यरूप परमाणुओंको ग्रहण करता है और कभी मिश्ररूप ग्रहण करता है। समय प्रबद्धका यह प्रमाण है—

सयरसगन्धवण्णेहिं परिणद चरमचदुहिं फासेहिं।
सिद्धादोऽभव्वादोऽणन्तिमभाग गुण दव्व ॥ १९१ ॥

यह समय प्रबद्ध मन पांच प्रकार रस, पांच प्रकार वर्ण, दो प्रकार गन्ध तथा शीतादि चार अन्तके स्पर्श इन गुणोंकर सहित परिणमता हुआ सिद्ध राशिके अनन्तवें भाग अथवा अभव्य राशिसे अनन्तगुणा पुद्गल द्रव्य जानना।

भावार्थ—इतना द्रव्यकर्मरूप या नोकर्मरूप यह संसारी जीव हरसमय ग्रहण करके बांधता रहता है। इनमें योगोंकी विशेषतासे कुछ कम व अधिक संख्या होती है।

श्री अकलङ्कदेवकृत तत्त्वार्थराजवार्तिकमें आश्रव और

बद्ध देवदत्त जो है सो पराधीनपणातें वांछित स्थानने प्राप्त होनेका अभावतें अति दु खी होय है तैसे ही आत्मा कर्म बंधनकरि बद्ध हुवो सतो पराधीनपणातें शरीर सम्बन्धी दु खकरि पीडित होय है ॥ १७ ॥

श्लोकवार्तिकके छठे अध्यायमें आश्रवका स्वरूप कहते हुए कहा है–" स आश्रव इह प्रोक्त कर्मागमनकारण " वह योग ही आश्रव है। क्योंकि कर्मोंके आगमनका कारण है। योग भाव आश्रव है। इससे यह सिद्ध है कि कर्मोंका आगमन होना वह द्रव्याश्रव है। आगे " शुभ पुण्यस्याशुभ पापस्य " सूत्रकी व्याख्यामें कहा है कि " सम्यग्दर्शनाद्यनुरंजितो योग शुभो विशुद्ध्यंगत्वात्। मिथ्यादर्शनाद्यनुरंजितोऽशुभ सक्लेशांगत्वात्। स पुण्यस्य पापस्य च वक्ष्यमाणस्य कर्मण आश्रवो वेदितव्य।

अर्थात् सम्यग्दर्शनादिसे रंजित शुभ योग है क्योंकि विशुद्धता है तथा मिथ्यादर्शनादिसे अनुरंजित योग अशुभ है क्योंकि संक्लेशता है। ये ही क्रमसे पुण्य पाप कर्मके आश्रव जानने चाहिये। इन योगोंसे पुद्गल आते हैं। जैसा कहा है "शुभाशुभफलाना तु पुद्गलाना समागम " कि शुभ या अशुभ पुद्गलोंका समागम होता है। इस पूर्व कथनसे यही बात सिद्ध होती है जसे कि द्रव्यसंग्रहमें कही है—

आसवदि जेण कम्म परिणामेणप्पणो स विण्णेयो।
भावासवो जिणुत्तो दव्वासवण परो होदि ॥
णाणावरणादीण जोग्ग ज पुग्गल समासवदि।
[illegible] अणेयभेयो जिणक्खादो ॥

अणयारपरमधम्म धीरा काऊण सुद्धसम्मत्ता ।
गच्छन्ति केई सग्गे केई सिज्झन्ति सुद्धप्पा ॥१८९॥

भावार्थ–मुनिपदरूपी शुद्धोपयोग ही परम धर्म है। शुद्ध सम्यग्दृष्टी धीर पुरुष इस धर्मका साधन करके कोई तो स्वर्गमें जाते तथा कोई सब कर्मका नाशकर सिद्ध हो जाते हैं ॥९६॥

उत्थानिका–आगे शिष्य जनको शास्त्रका फल दिखाते हुए इस शास्त्रको समाप्त करते हैं–

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो ।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥ ९७ ॥

बुध्यते शासनमेतत् सागारानगारचर्यया युक्तः ।
यः स प्रवचनसारं लघुना कालेन प्राप्नोति ॥ ९७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जो) जो कोई (सागारणगार चरियया जुत्तो) श्रावक या मुनिके चारित्रसे युक्त होकर (एयसासण) इस शासन या शास्त्रको (बुज्झदि) समझता है (सो) सो भव्यजीव (लहुणा कालेण) थोड़े ही कालमें (पवयणसार) इस प्रवचनके सारभूत परमात्मपदको (पप्पोदि) पालेता है।

विशेषार्थ–यह प्रवचनसार नामका शास्त्र रत्नत्रयका प्रकाशक है। तत्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उसके विषयभूत अनेक धर्मरूप परमात्मा आदि द्रव्य हैं–इन्हींका श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त है इससे साधने योग्य अपने शुद्धात्माकी रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है, जाननेयोग्य परमात्मा आदि पदार्थोंका यथार्थ जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है, इससे साधने योग्य विकार रहित स्वसंवेदन [illegible] निश्चय सम्यग्ज्ञान है। व्रत, समि

कर्मत्वप्रायोग्याः स्कधा जीवस्य परिणतिं प्राप्य ।
गच्छन्ति कर्मभाव न तु ते जीवेन परिणमिताः ॥ ८० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ –(कम्मत्तणपाओग्गा) कर्मरूप होनेको योग्य (खधा) पुद्गलके स्कध (जीवस्स परिणइ) जीवकी परिणतिको (पप्पा) पाकर (कम्मभाव) कर्मपनेको (गच्छति) प्राप्त हो जाते हैं (दु) परतु (जीविण) जीवके द्वारा (ते ण परिणमिदा) वे कर्म नहीं परिणमाए गए हैं।

विशेषार्थ–निर्दोष परमात्माकी भावनासे उत्पन्न स्वाभाविक आनदमई एक लक्षणस्वरूप सुखामृतकी परिणतिसे विरोधी मिथ्यादर्शन, रागद्वेष आदि भावोंकी परिणतिको जब यह जीव प्राप्त होता है तब इसके भावोंका निमित्त पाकर वे कर्मयोग्य पुद्गल स्कध आप ही जीवके उपादान कारणके बिना ज्ञानावरणादि आठ या सात द्रव्य कर्मरूप हो जाते हैं। उन कर्म स्कधोंको जीव अपने उपादानपनेसे नहीं परिणमाता है। इस कथनसे यह दिखलाया गया है कि यह जीव कर्म स्कधोंका कर्ता नहीं है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने आत्माको द्रव्य कर्मोंका अकर्त्ता और भी स्पष्ट रूपसे बतादिया है। कर्तापना दो प्रकारका होता है–एक उपादान कर्तापना, दूसरा निमित्त कर्तापना। जो वस्तु दूसरे क्षणमें आप ही बदलकर किसी पर्यायरूप होजावे उसको किसी समयकी अपेक्षा कार्य और उसके पूर्व समयकी अपेक्षा उसको उपादान कारण कहते हैं। जैसे रोटीका उपादान कारण आटा, आटेका उपादान कारण गेहू, इत्यादि। सुवर्णकी मुद्रिकाका उपादान कारण सुवर्णकी डली। पुद्गलकी अवस्थाका उपादान कारण पुद्गल

त्यक्त्वाशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं ।
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ॥
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो कोई रागद्वेषादि अशुद्धिके निमित्त कारण सर्व परद्रव्यके संसर्गको स्वयं त्यागकर और नियमसे सर्व रागादि अपराधोंसे रहित होता हुआ अपने आत्माके स्वभावमें लवलीन हो जाता है वही महात्मा कर्मबन्धका नाश करके नित्य प्रकाशमान होता हुआ [illegible] निर्मल परिणमनरूप [illegible]

जायगा। अथवा हम यह चाहें कि अग्निपर रखते ही पानी एक दमका आवसेर होजाने तौभी हमारी चाहके अनुसार कार्य न होगा। वह पानी अपनी शक्तिसे ही अपने यथायोग्य कालमें ही आधा होगा। ससारी आत्माओंके ससार होनेमें जीवके अशुद्धभाव और कर्मके बधका निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध बीज और वृक्षकी तरह अनादिसे है। अनादि प्रवाहसे जैसे बीजसे वृक्ष, फिर इस वृक्षसे दूसरा बीज, इस बीजसे दूसरा वृक्ष, फिर इस वृक्षसे तीसरा बीज इसतरह जबतक बीज भस्म न हो व उगनेकी शक्तिसे रहित न हो तबतक बराबर यह बीज वृक्षकी सतानको करता रहेगा। इसी तरह बधरूप कर्मके असरसे आत्माके अशुद्ध योग और उपयोग होते हैं। अशुद्ध योग उपयोगसे नवीन कर्मोंका बध होता है। इनही कर्मोंके उदय होनेपर फिर अशुद्ध योग उपयोग होते हैं। उनसे फिर नवीन कर्मोंका बध होता है इस तरह जबतक आत्मासे योग तथा उपयोगके अशुद्ध होनेके कारण यथायोग्य नाम कर्म तथा मोहनीय कर्मके उदयका नाश न हो तबतक अशुद्ध योग और उपयोग होते रहेंगे। जिस आत्मासे स्वात्मध्यानके बलसे सर्व कर्म भस्म होजाते हैं वह शुद्ध होजाता है। यह शुद्ध उपयोगका धारी आत्मा सिद्ध होकर कर्मके द्वारा होनेवाली ससारकी सन्तानसे सदाके लिये मुक्त होजाता है।

निश्चय नयसे आत्माको द्रव्य कर्मोंका अकर्त्ता समझकर उसके ज्ञायकभावमें तिष्ठकर साम्यभावसे निजानदका स्वाद लेना योग्य है।

श्री अमृतचद आचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

एवमय कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति बालिशाना प्रतिभास स खलु भवबीजम् ॥१४॥

रहित स्फटिकके समान सर्व रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित है। वही आत्मा अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा उपाधि सहित स्फटिकके समान सर्व रागद्वेषादि विकल्पोंकी उपाधि सहित है, वही आत्मा शुद्धसद्भूत व्यवहार नयसे शुद्ध स्पर्श, रस, गध, वर्णोंका आधारभूत पुद्गल परमाणुके समान केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोंका आधारभूत है, वही आत्मा अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नयसे अशुद्ध स्पर्श, रस, गध, वर्णका आधारभूत दो अणु तीन अणु आदि परमाणुओंके अनेक स्कधोंकी तरह मतिज्ञान आदि विभाव गुणोंका आधारभूत है। वही आत्मा अनुप चरित असद्भूत व्यवहारनयसे द्वणुक आदि स्कधोंके सम्बन्धरूप बधमे स्थित पुद्गल परमाणुकी तरह अथवा परमौदारिक शरीरमे वीतराग सर्वज्ञकी तरह किसी खास एक शरीरमें स्थित है। (नोट—आत्माको कार्माण शरीरमे या तैजस शरीरमें स्थित कहना भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे है)। तथा वही आत्मा उपचरित असद्भूत व्यवहारनयमे काठके आसन आदिपर बैठे हुए देवदत्तके समान व समवशरणमे स्थित वीतराग सर्वज्ञके समान किसी विशेष ग्राम ग्रह आदिम स्थित है। इत्यादि परस्पर अपेक्षारूप अनेक नयोंके द्वारा जाना हुआ या व्यवहार किया हुआ यह आत्मा क्रमक्रमसे विचित्रता रहित एक किसी विशेष स्वभावमे व्यापक होनेकी अपेक्षासे एक स्वभावरूप है। वही जीव द्रव्य प्रमाणकी दृष्टिसे जाना हुआ विचित्र स्वभावरूप अनेक धर्मोंमें एक ही काल चित्रपटके समान व्यापक होनेसे अनेक स्वभाव स्वरूप है। इस तरह नय प्रमाणोंके द्वारा तत्वके विचारके समयमें जो कोई परमात्म द्रव्यको

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शरीरके आकार परिणत होनेवाले पुद्गलके पिंडोंका भी जीव कर्ता नहीं है—

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो हि जीवस्स ।
सजायंते देहा देहंतरसक्रम पप्पा ॥ ८१ ॥

ते ते कर्मत्वगता पुद्गलकाया पुनर्हि जीवस्य ।
सजायन्ते देहा देहान्तरसंक्रम प्राप्य ॥ ८१ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ –(ते ते) वे वे पूर्व बाधे हुए (कम्मत्तगदा) द्रव्यकर्म पर्यायमें परिणमन किये हुए (पोग्गलकाया) पुद्गल कर्मवर्गणास्कध (पुणो वि) फिर भी (जीवस्स) जीवके (देहतर सक्रम) अन्य भवको (पप्पा) प्राप्त होनेपर (देहा) शरीर (सजायते) उत्पन्न करते हैं ।

विशेषार्थ—औदारिक आदि शरीर नामा नामकर्मसे रहित परमात्मस्वभावको न प्राप्त किये हुए जीवने जो औदारिक शरीर आदि नामकर्म बाधे हैं उस जीवके अन्य भवमें जानेपर वे ही कर्म उदय आते हैं। उनके उदयके निमित्तसे नोकर्म वर्गणाए औदारिक आदि शरीरके आकार स्वयमेव परिणमन करती है इससे यह सिद्ध है कि औदारिक आदि शरीरोंका भी जीव कर्ता नहीं है ।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्य मुख्यतासे इस बातको बताते हैं कि जैसे द्रव्य कर्मोंका कर्ता आत्मा नहीं है वैसे नोकर्मोंका भी कर्ता नहीं है । द्रव्यकर्मोंके उदयसे विशेष करके शरीर नामा नामकर्मके उदयसे औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस शरीरके आकाररूप परिणमन करनेको वर्गणाए आती हैं और बधन सघात आदि उदयसे इन चारों शरीरोंके आकाररूप स्वय

समाधिसे उत्पन्न जो रागादिकी उपाधिसे रहित परमानन्दमई सुधा-मृत रस उसके स्वादके अनुभवके लाभ होते हुए जैसे अमावसके दिन समुद्र जलकी तरंगोंसे रहित निश्चल क्षोभरहित होता है इस तरह राग, द्वेष, मोहकी कल्लोलोंके क्षोभसे रहित होकर जैसा जैसा अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थिर होता जाता है तैसा तैसा उसी ही अपने शुद्धात्मस्वरूपको प्राप्त करता जाता है।

भावार्थ-भव्य जीवको उचित है कि प्रथम आत्माको भले प्रकार नय प्रमाणोंसे निश्चय कर ले फिर व्यवहार रत्नत्रयके आलम्बनसे निश्चयरत्नत्रयमई आत्मस्वभावका अनुभव करे। बस यही स्वात्मानुभव आत्माके बन्धनोंको काटता चला जायगा और यह आत्मा शुद्धताको प्राप्त करते करते एक समय पूर्ण शुद्ध पर-मात्मा हो जायगा।

* * *

इस तरह श्री जयसेन आचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिमें पूर्वमें कहे क्रमसे "एस सुरासुर" इत्यादि एकसौएक गाथाओं तक सम्य-ग्ज्ञानका अधिकार कहा गया। फिर 'तम्हा तस्स णमाइं' इत्यादि एकसौ तेरह गाथाओं तक ज्ञेय अधिकार या सम्यग्दर्शन नामका अधिकार कहा गया। फिर 'तव सिद्धे णयसिद्धे' इत्यादि सत्तानवे गाथा तक चारित्रका अधिकार कहा गया। इस तरह तीन महा अधिकारोंके द्वारा तीनसौ ग्यारह गाथाओंसे यह प्रवचनसार प्राभृत पूर्ण किया गया।

इस तरह श्री समयसारकी तात्पर्यवृत्ति टीका समाप्त हुई।

कर्मके उदयसे स्वयमेव होता रहता है। ये वर्गणाएं आप ही पर्याप्ति निर्माण अंगोपांग आदिके उदयसे औदारिक या वैक्रियिक शरीरके आकार परिणमन कर जाती हैं। जैसे जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर लोकमें सर्वत्र भरी हुई कार्माण वर्गणाएं स्वय ही ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप परिणमन कर जाती हैं, इसी तरह नाम व गोत्रके उदयसे भिन्न २ जातिकी वर्गणाएं स्वय ही अनेक प्रकारके देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यंचोंके शरीरोंके आकाररूप परिणमन कर जाती हैं। जैसे जीव द्रव्य कर्मोंका निश्चय नयसे उपादान या निमित्तकर्ता नहीं है तैसे यह जीव शरीरोंका भी उपादान या निमित्तकर्ता नहीं है। इसलिये मैं सब प्रकारके पौद्गलिक शरीरोंसे भिन्न होकर उनका किसी तरह कर्ता धर्ता नहीं हूं ऐसा अनुभव करके निज आत्माके शुद्ध स्वभावमें ही उपयुक्त रहना योग्य है।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें कहते हैं कि यह शरीररूप कैदखाना जीवका रचा नहीं है, कर्मोंका रचा है। जैसे—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटित नद्ध शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्त सुगुप्त खलै ॥
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्न शरीरालय-
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीति वृथा मा कृथा ॥ ० ॥

भावार्थ—यह शरीररूपी जेलखाना है जिसको दुष्ट कर्मरूपी शत्रुओंने बनाया है। यह शरीररूपी कारागार हड्डियोंसे बना हुआ, नसोंके जालोंसे वेष्ठित, चर्मसे ढका हुआ तथा रुधिर व गीले माससे लिप्त अति गुप्त बनाया गया है जिसमें रहनेवाले जीवके पैरमें आयुकर्मकी दृढ़ जंजीरें लगी हुई हैं। हे निर्बुद्धि! तू इस शरीरको कैदखाना जानकर इससे वृथा प्रीति मतकर।

उनके शिष्य अनेक गुणोंके धारी आचार्य **श्री सोमसेन** हुए। उनका शिष्य यह **जयसेन** तपस्वी हुआ। सदा धर्ममें रत प्रसिद्ध मालू साधु नामके हुए हैं। उनका पुत्र साधु महीपति हुआ है, उनसे यह चारुभट नामका पुत्र उपजा है, जो सर्व ज्ञान प्राप्तकर सदा आचार्योंके चरणोंकी आराधना पूर्वक सेवा करता है, उस चारुभट अर्थात् जयसेनाचार्यने जो अपने पिताकी भक्तिके विलोप करनेसे भयभीत था इस प्राभृत नाम ग्रन्थकी टीका की है। श्रीमान त्रिभुवनचन्द्र गुरुको नमस्कार करता हूं, जो आत्माके भावरूपी जलको बढ़ानेके लिये चंद्रमाके तुल्य हैं और कामदेव नामके प्रबल महापर्वतके सैकड़ों टुकडे करनेवाले हैं। मैं श्री त्रिभुवनचंद्रको नमस्कार करता हूं। जो जगतके सर्व संसारी जीवोंके निष्कारण बन्धु हैं और गुण रूपी रत्नोंके समुद्र हैं। फिर मैं महा संयमके पालनेमें श्रेष्ठ चंद्रमातुल्य श्री त्रिभुवनचन्द्रको नमस्कार करता हूं जिसके उदयसे जगतके प्राणियोंके अन्तरंगका अन्धकार समूह नष्ट होजाता है।

॥ इति प्रशस्ति ॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्त चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहण जीवमनिर्दिष्टसस्थान ॥ ८३ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ –(जीवम्) इस जीवको (अरस) पाच रसमे रहित (अरूवम्) पाच वर्णसे रहित (अगध) दो गधसे रहित तथा इन्हीके साथ आठ प्रकार स्पर्शसे रहित, (अव्वत्त) अप्रगट (असद्द) शब्द रहित, (अलिंगग्गहण) किसी चिह्नसे न पकड़ने योग्य (अणिदिट्ठसठाण) नियमित आकार रहि (चेदणागुणं) सर्व पुद्गलादि अचेतन द्रव्योंसे भिन्न और समस्त अन्य द्रव्योंसे विशेष तथा अपने ही अनन्त जीव जातिमें साधारण ऐसे चैतन्य गुणको रखनेवाला (जाण) जानो।

विशेषार्थ –अलिंग ग्रहण जो विशेषण दिया है उसके बहुतसे अर्थ होते है वे यहा समझाए जाते हैं। लिंग इद्रियोंको कहते हैं। उनके द्वारा यह आत्मा पदार्थोंको निश्चयसे नहीं जानता है क्योंकि आत्मा स्वभावसे अपने अतीन्द्रिय अखडज्ञान सहित है इसलिये अलिंग ग्रहण है अथवा लिंग शब्दसे चक्षु आदि इन्द्रियें लेना, इन चक्षु आदिसे अन्य जीव भी इस आत्माका ग्रहण नहीं कर सक्के क्योंकि यह आत्मा विकार रहित अतींद्रिय स्वसवेदन प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा ही अनुभवमें आता है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है। अथवा धूम आदिको चिह्न कहते हैं जैसे धुएके चिह्नरूप अनुमानसे अग्निका ज्ञान करते हैं ऐसे यह आत्मा जानने योग्य पर पदार्थोंको नहीं जानता क्योंकि स्वय ही चिह्न या अनुमान रहित प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानको रखनेवाला है उसे ही जानता है इसलिये भी अलिंग ग्रहण है अथवा कोई भी अन्य पुरुष जैसे

वर्तना चाहिये, जिससे प्राणियोंकी हिंसा न हो। जो यत्नसे व्यवहार करनेपर कदाचित् कोई प्राणीका घात हो भी जावे तो भी अप्रमादीको हिंसाका दोष नहीं होता है, परतु जो यत्नवान नहीं है और प्रमादी है तो वह निरतर हिंसामई भावसे न बचनेकी अपेक्षा हिंसाका भागी होता है। रागादि भाव ही हिंसा है। इसीसे ही कर्मबंध होता है। जो साधु किंचित् भी ममता परद्रव्योंमें रखता है तथा शरीरकी ममता करके थोडा भी वस्त्रादि धारण करता है तो वह अहिंसा महाव्रतका पालनेवाला नहीं होता है। इसलिये साधुको ऐसा व्यवहार पालना चाहिये जिससे अपने चारित्रका छेद न हो। साधुको चारित्रमें उपकारी पीछी, कमडलु अथवा शास्त्र सिवाय और परिग्रहको नहीं रखना चाहिये।

फिर दिखलाया है कि मुनिमार्ग तो शुद्धोपयोग रूप है। यही उत्सर्गमार्ग है। आहार विहार धर्मोपदेश करना आदि सर्व व्यवहार चारित्र है यह अपवाद मार्ग है। अपवाद मार्गमें भी नग्न रूपता अत्यन्त आवश्यक साधन है। विना इसके अहिंसा महाव्रत आदिका व ध्यानका योग्य साधन नहीं हो सक्ता है क्योंकि स्त्रिया प्रमाद व लज्जाकी विशेषता होनेसे नग्नपना नहीं धार सक्ती है इससे उनके मुनिपद नहीं होसक्ता है और इसीलिये वे उस स्त्री पर्यायसे मोक्षगामिनी नहीं हो सक्ती हैं।

मुनि महाराज यद्यपि शरीररूपी परिग्रहका त्याग नहीं कर सक्ते तथापि उसकी ममता त्याग देते हैं। उस शरीरको मात्र सयमके लिये योग्य आहार विहार कराकर व शास्त्रोक्त आचरण

इस दूसरेकी आत्माको जान सके हैं, इसलिये यह आत्मा अपने आपको आप ही अपने स्वसंवेदन ज्ञानसे ही जान सक्ता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह आत्मा शुद्ध ज्ञान चेतनामय सर्व पुद्गलादि द्रव्योंसे भिन्न लक्षणको रखनेवाला है। यद्यपि चेतना गुणकी अपेक्षा सर्व आत्माएं समान हैं तथापि सत्ताकी अपेक्षा भिन्न २ हैं तौभी हम मोक्षवांछक पुरुषको उचित है कि शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे सर्व ही आत्माओंको शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय, अविनाशी, अमूर्तीक अपने आत्माके समान देखकर सर्वसे रागद्वेष छोड़कर सामान्यतासे शुद्ध आत्माके अनुभवमें तन्मय हो परम समताको प्राप्त करे, जैसा श्री अमृतचंद्रस्वामीने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥ २२३ ॥
कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥ २२४ ॥

भावार्थ—यह आत्मा नित्य ही कर्मोंके लेपसे रहित है, अपने स्वरूपमें स्थित है, किसीके द्वारा घातसे रहित है, आकाशके समान अमूर्तीक है, परम पुरुष है, अत्यन्त शुद्ध, परम पदमें स्फुरायमान होनेवाला है, अपने निज पदमें कृतकृत्य है, सकल जानने योग्यका ज्ञाता स्वरूप है, यही परमात्मा है, परमानन्दमें डूबा हुआ है, तथा ज्ञानमई सदा ही प्रकाशमान होरहा है। इस तरह शुद्ध आत्माके शुद्ध स्वरूपपर दृष्टि रखकर इसी स्वरूपका एकाग्र होकर अनुभव करना चाहिये। यही स्वात्मानन्द मिलनेका कारण है ॥ ८३

मार्गका उपदेश करते हैं। श्रावकोंको पूजा पाठादि करनेका उपदेश करते हैं शिष्योंको साधु पद दे उनके चारित्रकी रक्षा करते हैं, दुःखी, थके, रोगी, बाल, वृद्ध साधुकी वैय्यावृत्य या सेवा इस तरह करते हैं जिससे अपने साधुके मूलगुणोंमें कोई दोष नहीं आवे। उनके शरीरकी सेवा अपने शरीरसे व अपने वचनोंसे करते हैं तथा दूसरे साधुओंकी सेवा करनेके लिये श्रावकोंको भी उपदेश करते हैं। साधु भोजन व औषधि स्वयं बनाकर नहीं देसक्ते हैं, न लाकर देसक्ते हैं–गृहस्थ योग्य कोई आरम्भ करके साधुजन अन्य साधुओंकी सेवा नहीं कर सक्ते हैं।

श्रावकोंको भी साधुकी वैयावृत्य शास्त्रोक्त विधिसे करनी योग्य है। भक्तिसे आहारादिका दान करना योग्य है। जो साधु शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी हैं वे ही दानके पात्र हैं।

फिर कहा है कि साधुओंको उन साधुओंका आदरसत्कार न करना चाहिये जो साधुमार्गके चारित्रमें भ्रष्ट या आलसी हैं, न उनकी संगति करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे अपने चारित्रका भी नाश हो जाता है। तथा जो साधु गुणवान साधुओंका विनय नहीं करता है वह भी गुणहीन हो जाता है। साधुओंको ऐसे लौकिक जनोंसे संसर्ग न करना चाहिये जिनकी संगतिसे अपने संयममें शिथिलता हो जावे। साधुको सदा ही अपनेसे जो गुणोंमें अधिक हों व बराबर हों उनकी ही संगति करनी चाहिये। इस तरह इस अधिकारमें साधुके उत्सर्ग और अपवाद दो मार्ग बताए हैं।

उत्थानिका–आगे आचार्य समाधान करते हैं कि किसी अपेक्षा व नयके द्वारा अमूर्तीक आत्माका पुद्गलसे बंध होजाता है–

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।
दव्वाणि गुणे य जधा तध बंधो तेण जाणीहि ॥ ८५

रूपादिकैः रहितः पश्यति जानाति रूपादीनि ।
द्रव्याणि गुणाश्च यथा तथा बन्धस्तेन जानीहि ॥ ८५ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ–(जधा) जैसे (रूवादिएहिं रहिदो) रूपादिसे रहित आत्मा (रूवमादीणि दव्वाणि गुणेय) रूपादि गुणधारी द्रव्योंको और उनके गुणोंको (पेच्छदि जाणादि) देखता जानता है (तध) तैसे (तेण) उस पुद्गलके साथ (बंधो) बंध (जाणीहि) जानो ।

विशेषार्थ–जैसे अमूर्तीक व परम चैतन्य ज्योतिमें परिणमन करनेके कारण यह परमात्मा वर्ण आदिसे रहित है, ऐसा होता हुआ भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसहित मूर्तीक द्रव्योंको और उनके गुणोंको मुक्तावस्थामें एक समयमें वर्तनेवाले सामान्य और विशेषको ग्रहण करनेवाले केवल दर्शन और केवलज्ञान उपयोगके द्वारा ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धसे देखता जानता है यद्यपि उन ज्ञेयोंके साथ इसका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है अर्थात् वे मूर्तीक द्रव्य और गुण भिन्न हैं और यह ज्ञाता दृष्टा उनसे भिन्न है । अथवा जैसे कोई भी संसारी जीव विशेष भेदज्ञानको न पाता हुआ काष्ट व पाषाण आदिकी अचेतन जिन प्रतिमाको देखकर यह मेरेद्वारा, पूजने योग्य है ऐसा मानता है। यद्यपि यहां सत्ताको देखने मात्र दर्शनके साथ उस प्रतिमाका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि

होकर निश्चय व्यवहार रत्नत्रयका साधन करता हुआ, निर्विकल्प समाधिरूप परम उत्सर्ग साधु मार्गमें आरूढ होकर पारपूर्ण श्रमण होजाता है। वह निश्चय रत्नत्रयमई स्वसंवेदनसे उत्पन्न परमानंदको भोगता हुआ तत्त्व होजाता है, अर्थात् वह नहुत जाघ्र निर्वाणका लाभ कर लेता है। फिर यह समझाया है कि ... तत्वका उपाय भले प्रकार पदार्थोंका श्रद्धान व ज्ञान प्राप्त करके बाहरी व भीतरी परिग्रहको त्यागकर जितेंद्रिय होकर यथार्थ साधु पदके चारित्रका अनुष्ठान करना है।

पश्चात् यह कहा है कि जो शुद्धोपयोगमें आरूढ होजाता है वही क्षपक श्रेणी चढ़कर मोहका नाशकर फिर अन्य घातिया कर्मोंका क्षयकर केवलज्ञानी अर्हंत् परमात्मा होजाता है, पश्चात् सर्व कर्मोंसे रहित हो परम सिद्ध अवस्थाका लाभ कर लेता है। यहांपर आचार्यने पुनः पुन उस परम समतामई शुद्धोपयोगको नमस्कार किया है जिसके प्रसादसे आत्मा स्वभावमें तन्मय हो परमानन्दका अनुभव करता हुआ अनंतकालके लिये संसार भ्रमणसे छूटकर अविनाशी पदमें शोभायमान होजाता है।

अंतमें यह आशीर्वाद दी है कि जो कोई इस प्रवचनसारको पढ़कर अपने परमात्म पदार्थका निर्णय करके, श्रावककी ग्यारह प्रतिमा रूप चर्याको पालता है वह स्वर्ग लाभकर परम्परा निर्वाणका भागी होता है तथा जो साधुके चारित्रको पालता है वह उसी भवमें या अन्य किसी भवसे मोक्ष हो जाता है।

वास्तवमें-यह प्रवचनसार परमागम ज्ञानका समुद्र है जो

र्मोको अशुद्ध उपयोग कहते हैं। इस अशुद्ध उपयोगका निमित्त पाकर कर्म वर्गणाऐं स्वय कर्मरूप हो आत्माके साथ सयोगरूप ठहर जाती हैं।

जिनके रागद्वेष नहीं होता वे मूर्तीक पदार्थोंको देखते जानते हुए भी बन्धको प्राप्त नहीं होते। शुद्ध आत्मामें रागद्वेष नहीं होते इसलिये वे मूर्तीक कर्मोंमे नहीं बधते हैं। यहा आचार्यने यह दिखाया है कि जैसे यह आत्मा स्वरूपसे अमूर्तीक होता हुआ भी मूर्तीक पदार्थोंको देखता जानता है इसी तरह मूर्तीकके साथ सयोग भी पालेता है। वास्तवमें जो आत्मा किसी भी समयमें अमूर्तीक शुद्ध कर्मबधसे रहित होता तो वह कभी भी बन्धमें नहीं पडता, क्योंकि बिना रागद्वेष मोहके आत्माके द्रव्यकर्मोंका बध नहीं होसक्ता। यह आत्मा इस ससारमें अनादिकालसे ही बधरूप ही चला आरहा है—स्वभावसे अमूर्तीक होनेपर भी इसका कोई भी अशरूप प्रदेश अनत द्रव्यकर्मवर्गणाओंके आवरणसे रहित नहीं है, इसलिये व्यवहारमें इस ससारी आत्माको मूर्तीक कहते हैं और इस मूर्तीक आत्माके ही मूर्तीक पुद्गलोंका बध होता है। जैसे मूर्तीक आत्मा राग द्वेष मोहपूर्वक पदार्थोंको देखता जानता है वैसे यह कर्मपुद्गलोंसे भी सयोग पा जाता है। जैसे देखने जानते हुए मूर्तीक द्रव्योंका आत्माके साथ न मिटनेवाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है किन्तु मात्र राग सहित ज्ञेय ज्ञायक सबध है वैसे मूर्तीक आत्माका द्रव्य कर्मोंके साथ तादात्म्य सबध नहीं है किंतु मात्र सयोग सम्बन्ध है। मूर्तीक आत्मापर प्रत्यक्ष मूर्तीक पदार्थोंका असर पडता दीखता है। जैसे मादक वस्तुको पीलेनेसे ज्ञान बिगड़

भाषाकारकी प्रशस्ति

कुन्दकुन्द आचार्यकृत प्राकृत प्रवचनसार
श्री जयसेन मुनीशकी संस्कृत वृत्ति उदार ॥ १ ॥
ताकी हिन्दी भाष्य, कहुँ—देख न देशमझार
भाष्य करण उद्यम किया स्वपरकाज चित धार ॥ २ ॥
विक्रम संवत एक नौ, आठ एक शुक्रवार।
आश्विन सुद पचम परम, कर समाप्त सुखकार ॥ ३९ ॥
अवध लक्ष्मणापुर वसे, भारतमें गुलजार।
अग्रवंश गोयल कुलहिं, मंगलसैन उदार ॥ ४ ॥
ता सुत मक्खनलालजी गृहपति धनकणधार।
नारायणदेई भई, शीलवती त्रियसार ॥ ५ ॥
पुत्र चार ताके भए निज निज कर्म सम्हार।
ज्येष्ठ अभी निज थानमें सतलाल गृहकार ॥ ६ ॥
तृतिय पुत्र मैं तुच्छ मति "सीतल" दास जिनेन्द्र।
श्रावक व्रत निज शक्ति सम, पालत सुखका केन्द्र ॥ ७ ॥
इस वर्षाके कालमें, रहा इटावा आय।
समय सफलके हेतु यह टीका लिखी बनाय ॥ ८ ॥
है प्राचीन नगर महा, पुरी इष्टिका नाम।
पथ इष्टिका कहत सोउ, लश्कर पथ मुकाम ॥ ९ ॥
जमुना नदी सुहावनी, तट एक दुर्ग महान।
नृप सुमेरपालहिं कियो, कहत लोक गुणवान ॥ १० ॥
ध्वस्त भ्रष्ट प्राचीन अति, उच्च विशाल सुहाय।
महिमा या [illegible] नगरकी, कहत बनाय बनाय ॥ ११

ग्वालियेका जो सच्चे बैलको अपना जानता है । यद्यपि दोनो ही तरहके बैल बालक या ग्वालियेसे जुदे है तथापि यदि कोई उनको नष्ट करे, बिगाडे व ले जावे तो बालक और ग्वालिये दोनोंको महा दु ख होगा क्योंकि उनका ज्ञान उन बैलोंके निमित्तसे उनके आकार राग सहित परिणमन कररहा है । यही उन परस्वरूप बैलोंके साथ उनके सम्बन्धका व्यवहार है । इसी तरह अमूर्तीक आत्माका जो अनादिकालसे प्रवाहरूपसे एक क्षेत्रावगाहरूप पुद्गलीक कर्मोके साथ सम्बन्ध चला आरहा है उनके उदयका निमित्त पाकर राग द्वेष मोहरूप अशुद्धोपयोग होता है यही भाव बध है । इसीसे आत्मा बधा हुआ है । पुद्गलीक कर्मोका बध व्यवहार मात्र है । यही भावबध द्रव्यबधका कारण है । भावबधसे नवीन द्रव्य कर्म उसी कर्म सहित आत्मामें सयोग पाते है । श्री तत्वार्थसारमें अमृतचद्रस्वामीने इसी प्रश्नको उठाकर कि अमूर्तीकका बध मूर्तीकके कैसे होता है ? इस तरह समाधान किया है —

न च बधाप्रसिद्धि स्यामूर्तै कर्मभिरात्मन ।
अमूर्तस्येत्यनेकान्तात्तस्य मूर्तित्वसिद्धित ॥ १६ ॥

अनादिनित्यसम्बन्धात्सह कर्मभिरात्मन ।
अमूर्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते ॥ १७ ॥

बध प्रति भवत्यैकमन्योन्यानुप्रवेशत ।
युगपद्द्रावित स्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणो ॥ १८ ॥

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात् ।
न ह्यमूर्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥ १९ ॥

अनउदव्या परमाद है, वद शिपरचद जान।
चद्रमन भी वैद्य है, कुनीलाल सुजान ॥ २४ ॥
गोलमिथाडोंमें लसे, नदर मोहनलाल।
पानीकिन अर लक्षपति, वैद्य सु छोटेलाल ॥ २५ ॥
खर–जौआकी जातिमें, रायेलाल हकीम।
वैद्य रूपचद्र पालश्री, मेवाराम मुनीम ॥ २६ ॥
पडित पुन्नूलालके, पुत्र सुलाल वसत।
जाति दमेचूमें वमे, तोताराम महत ॥ २७ ॥
सकटमलको आदि दे, धर्मीजन समुदाय।
सेवत निज निज धर्मको, मन वच तन उमगाय ॥ २८ ॥
सप्त सुजिन मदिर लसें, गृह चैत्यालय एक।
मुख्य पसारी टोलमें, कर्णपुरा मधि एक ॥ २९ ॥
ठाडे शेष सरायमें, कटरा नूतन नग्र।
गाडीपुरा सुहावना, नूतन अनुपम अग्र ॥ ३० ॥
पडित मुन्नालाल कृत, बहु धन सफल कराय।
धर्मशाल सुखप्रद रची, ठहरो तह मैं आय ॥ ३१ ॥
साधर्मीनिके सगमें, काल गमाय स्वहेत।
लिखो दीपिका चरण यह, स्वपर हेत जगहेत ॥ ३२ ॥
पढो पढावो भक्त जन, ज्ञान ध्यान चित लाय।
आतम अनुभव चित जगे, सशय सब मिट जाय ॥ ३३ ॥
नर भव दुर्लभ जानके, धर्म करहु सुख होय।
सुखसागर वर्धन करो, तत्त्वसार अवलोय ॥ ३४ ॥

इटावा (चातुर्मासमें) द ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

बंध होता है इस पूर्व पक्षरूपसे दूसरी, फिर उसका समाधान करते हुए तीसरी इस तरह तीन गाथाओंसे प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

उत्थानिका—राग द्वेष मोह लक्षणके धारी भावबन्धका स्वरूप कहते हैं—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसए जो हि पुणो तेहिं सबंधो ॥ ८६ ॥

उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि।
प्राप्य त्रिविधान् विषयान् यो हि पुनस्तैः सम्बन्धः ॥ ८६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(उवओगमओ जीवो) उपयोग मई जीव (विविधे विसये) नानाप्रकार इन्द्रियोंके पदार्थोंको (पप्पा) पाकर (मुह्यदि) मोह करलेता है, (रंज्जदि) राग कर लेता है (वा) अथवा (पदुस्सेदि) द्वेष कर लेता है। (पुणो) तथा (हि) निश्चयसे (जो) यही जीव (तेहिं सबंधो) उन भावोंसे बन्धा है यही भावबंध है।

विशेषार्थ—यह जीव निश्चय नयसे विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोगका धारी है तौभी अनादि कालसे कर्मबंधकी उपाधिके वशसे जैसे स्फटिकमणि उपाधिके निमित्तसे अन्य भावरूप परिणमती है इसी तरह कर्मकृत औपाधिक भावोंमें परिणमता हुआ इन्द्रियोंके विषयोंसे रहित परमात्म स्वरूपकी भावनासे विपरीत नाना प्रकार पंचेंद्रियोंके विषयरूप पदार्थोंको पाकर उनमें राग द्वेष मोह कर लेता है। ऐसा होता हुआ यह जीव राग द्वेष मोह रहित अपने शुद्ध वीतरागमई परम धर्मको न अनुभवता हुआ इन राग द्वेष मोह भावोंमें बद्ध होता है। यहां पर जो इस जीवके यह राग द्वेष मोह रूप परिणाम है सो ही भावबन्ध है।

इस तरह भावबधके कथनकी मुख्यतासे दो गाथाओंमें दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–आगे बध तीन प्रकार है। एक तो पूर्ववद्ध कर्म पुद्गलोंका नवीन पुद्गल कर्मोके साथ बध होता है। दूसरा जीवका रागादि भावके साथ बध होता है। तीसरा उसी जीवका ही नवीन द्रव्यकर्मोसे बध होता है, इस तरह तीन प्रकार बन्धके स्वरूपको कहते हैं–

फासेहिं पोग्गलाण बधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण अवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥८८॥
स्पर्शै पुद्गलाना बधो जीवस्य रागादिभि।
अन्योन्यमवगाह पुद्गलजीवात्मको भणित ॥ ८८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(पुग्गलाण) पुद्गलोंका (बधो) बन्ध (फासेहिं) स्निग्ध रूक्ष स्पर्शोसे, (जीवस्स) जीवका बन्ध (रागमादीहिं) रागादि परिणामोसे तथा (पोग्गलजीवप्पगो) पुद्गल और जीवका बन्ध (अण्णोण्ण अवगाहो) परस्पर अवगाहरूप (भणिदो) कहा गया है।

विशेषार्थ–जीवके रागादि भावोंके निमित्तसे नवीन पुद्गलीक द्रव्यकर्मोका पूर्वमें जीवके साथ बधे हुए पुद्गलीक द्रव्यकर्मोके साथ अपने यथायोग्य चिकने रूखे गुणरूप उपादान कारणसे जो बध होता है उसको पुद्गल बध कहते हैं। वीतराग परम चैतन्यरूप निज आत्मतत्वकी भावनासे शून्य जीवका जो रागादि भावोंमें परिणमन करना सो जीवबन्ध है। निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान रहित हो स्निग्ध ९　　　रागद्वेषमें परिणमन होते हुए जीवका

उत्थानिका-प्रथम ही यह दिखलाते हैं कि पात्रकी विशेषतासे शुभोपयोगीको फलकी विशेषता होती है-

गगो पमत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणि हि बीयाणिव सस्सकालम्मि ॥ ७६ ॥
राग प्रशस्तभूतो वस्तुविशेषेण फलति विपरीत।
नानाभूमिगतानि हि बीजानीव सस्यकाले ॥ ७६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(पसत्थभूदो रागो) धर्मानुराग रूप दान पूजादिका प्रेम (वत्थुविसेसेण) पात्रकी विशेषतासे (विवरीदं) भिन्न भिन्न रूप (सस्सकालम्मि) धान्यकी उत्पत्तिके कालमें (णाणाभूमिगदाणि) नाना प्रकारकी पृथ्वियोंमें प्राप्त (बीयाणिव हि) बीजोंके समान निश्चयसे (फलदि) फलता है॥

विशेषार्थ-जैसे ऋतुकालमें तरह तरहकी भूमियोंमें बोए हुए बीज जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भूमिके निमित्तसे वे ही बीज भिन्न२ प्रकारके फलोंको पैदा करते हैं, तैसे ही यह बीजरूप शुभोपयोग भूमिके समान जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्रोंके भेदसे भिन्न२ फलको देता है। इस कथनसे यह भी सिद्ध हुआ कि यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक शुभोपयोग होता है तो मुख्यतासे पुण्यबन्ध होता है परन्तु परम्परा यह निर्वाणका कारण है। यदि सम्यग्दर्शन रहित होता है तो मात्र पुण्यबन्धको ही करता है।

भावार्थ-इस गाथामें शुभोपयोगका फल एकरूप नहीं होता है ऐसा दिखलाया है। जैसे गेहूंका बीज बढ़िया जमीनमें बोया जावे
पैदा होता है, मध्यम भूमिमें बोया जावे तो मध्यम
होता है और जो भूमि जघन्य हो तो

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया ।
पविसंति जहाजोग्गं तिट्ठंति य जंति वज्झंति ॥ ८९ ॥

सप्रदेशः स आत्मा तेषु प्रदेशेषु पुद्गलाः कायाः ।
प्रविशन्ति यथायोग्यं तिष्ठन्ति च यान्ति बध्यन्ते ॥ ८९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(सपदेसो) असंख्यात प्रदेशवान (सो) वह (अप्पा) आत्मा है (तेसु पदेसेसु) उन प्रदेशोंमें (पोग्गला काया) कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल पिंड (जहा जोग्ग) योगोंके अनुसार (पविसंति) प्रवेश करते हैं, (तिट्ठंति) ठहरते हैं, (य जंति) तथा उदय होकर जाते हैं (वज्झंति) तथा फिर भी बंधते हैं।

विशेषार्थ–मन, वचन, कायवर्गणाके आलम्बनसे और वीर्यांतरायके क्षयोपशमसे जो आत्माके प्रदेशोंमें सकम्पपना होता है उसको योग कहते हैं। इस योगके अनुसार कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलकाय आश्रवरूप होकर अपनी स्थिति पर्यंत ठहरते हैं तथा अपने उदयकालको पाकर फल देकर उड़ जाते हैं तथा केवल ज्ञानादि अनन्त चतुष्टयकी प्रगटनारूप मोक्षसे प्रतिकूल बन्धके कारण रागादिकोंका निमित्त पाकर फिर भी द्रव्यबन्धरूपमें बंध जाते हैं। इससे यह बताया गया कि रागादि परिणाम ही द्रव्य-बंधका कारण है। अथवा इस गाथामें दूसरा अर्थ यह कर सके हैं कि प्रविशन्ति शब्दसे प्रदेशबंध, तिष्ठन्तिसे स्थितिबंध, जंतिसे फल देकर जाते हुए अनुभागबंध और बध्यन्तेसे प्रकृतिबंध ऐसे चार प्रकार बंधको समझना।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने कर्मोंके बंधकी व्यवस्था बताई है कि योगके अधिक या अल्प प्रमाणके अनुसार अधिक या

यदि दातारस्वयं सम्यक्तरहित हो, परन्तु व्यवहारमे श्रद्धावान हो तो वह उत्तम सुपात्र दानमे उत्तम भोगभूमि, मध्यम सुपात्र दानमे मध्यम भोगभूमि तथा जघन्य सुपात्रदानमे जघन्य भोगभूमिमे जाने योग्य पुण्य बाध लेता है, यह सामान्य कथन है। और यदि ऐसा दातार कुपात्रोको दान करे तो कुभोगभूमिमे जानेलायक पुण्य बाध लेता है। परिणामोकी विचित्रतासे ही फलमे विचित्रता होती है। यहा अभिप्राय यह है कि मुनि हो वा गृहस्थ हो उस हरएकको यह योग्य है कि वह शुद्धोपयोगकी भावना सहित व शुद्धोपयोगकी रुचि सहित उदासीनभावसे मात्र शुद्धोपयोग धर्मके प्रेमसे ही पात्रोंकी सेवा करे—कुछ अपनी बडाई पूजा लाभादिकी वाछा नहीं करे, तब इससे यथायोग्य ऐसा पुण्यबध होगा जो मोक्षमार्गमे बाधक न होगा।

पात्र तीन प्रकार है, ऐसा पुरु०में अमृतचद्रजी कहते है—

पात्र त्रिभेदयुक्त स योगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टिर्विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥

भावार्थ—मोक्षमार्गके गुणोकी जिनमे प्रगटता है ऐसे पात्र तीन प्रकार है जघन्य व्रत रहित सम्यग्दृष्टी, मध्यम देशव्रती, उत्तम सर्व व्रती।

दानके फलमें श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरड श्रा०मे कहते है—

क्षितिगतमिव वटबीज पात्रगत दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभव बहुफलमिष्ट शरीरभृताम् ॥ ११६ ॥

भावार्थ—जैसे वटका बीज पृथ्वीमें प्राप्त होनेपर खूब छायादार फलता है, वैसे समयके ऊपर थोडा भी दान पात्रको दिया हुआ ससारी प्राणियोको बहुत मनोज्ञ फलको देता है।

वैराग्य सहित आत्मा (कम्मेहिं मुच्चदि) कर्मोंसे छूटता ही है—वह वैरागी शुभ अशुभ कर्मोंसे बंधता नहीं है (एसो बंधसमासो) यह प्रगटबंध तत्त्वका संक्षेप (जीवाण) संसारी जीव सम्बन्धी हे शिष्य ! (णिच्छयदो जाण) निश्चय नयसे जानो ।

विशेषार्थ—इस तरह राग परिणामको ही बंधका कारण जान करके सर्व रागादि विकल्प जालोंका त्याग करके विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी निज आत्मतत्वमें निरन्तर भावना करनी योग्य है ।

भावार्थ—इस गाथामें बहुत ही सरलतासे आचार्यने बता दिया है कि जो जीव रागद्वेषसे पूर्ण हैं वे अवश्य कर्मोंसे बंधते हैं तथा जो रत्नत्रयके प्रभावसे वीतरागताको धारते हैं वे नए कर्मोंको न बांधकर पुराने कर्मोंसे छूटते हैं । इससे यह बताया गया कि रागद्वेष संसारके कारण हैं व वीतरागभाव मोक्षका कारण है । इसलिये मुमुक्षु जीवको निरन्तर रागादि भावोंके रङ्गको हटानेके लिये निजात्माकी विभूतिको ही अपनी समझ उसीमें तन्मय हो वीतराग भावकी निरंतर भावना करनी चाहिये ।

श्री पूज्यपाद स्वामीने इष्टोपदेशमें भी ऐसा ही कहा है—

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ २६ ॥

भावार्थ—ममतावाला जीव कर्मोंसे बंधता है जब कि ममता रहित जीव मुक्त होता है इसलिये सर्व तरह उद्यम करके निर्ममत्व भावका चिन्तवन करना चाहिये ॥ ९० ॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यबंधका साधक जो जीवका रागादिरूप परिणाम है उसके भेदको दिखाते हैं

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(छदुमत्थविहिदवत्थुसु) अल्प ज्ञानियोंके द्वारा कल्पित देव गुरु शास्त्र धर्मादि पदार्थोंमें (वदणियमज्झयणझाणदाणरदो) व्रत, नियम, पठनपाठन, ध्यान तथा दानमें रागी पुरुष (अपुणब्भाव) अपुनर्भव अर्थात् मोक्षको (ण लहदि) नहीं प्राप्त कर सक्ता है, किन्तु (सादप्पग भाव) सातामई अवस्थाको अर्थात् सातावेदनीके उदयमें देव या मनुष्यपर्यायको (लहदि) प्राप्त कर सक्ता है।

विशेषार्थ-जो कोई निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गको नहीं जानते हैं केवल पुण्यकर्मको ही मुक्तिका कारण कहते हैं उनको यहां छद्मस्थ या अल्पज्ञानी कहना चाहिये न कि गणधरदेव आदि ऋषिगण। इन अल्पज्ञानियों अर्थात् मिथ्याज्ञानियोंके द्वारा-जो शुद्धात्माके यथार्थ उपदेशको नहीं देसक्ते ऐसे-जो मनोक्त देव, गुरु, शास्त्र, धर्म क्रियाकांड आदि स्थापित किये जाते हैं उनको छद्मस्थ विहितवस्तु कहते हैं। ऐसे अयथार्थ कल्पित पात्रोंके सम्बन्धमें जो व्रत, नियम, पठनपाठन, दान आदि शुभ कार्य जो पुरुष करता है वह कार्य यद्यपि शुद्धात्माके अनुकूल नहीं होता है और इसी लिये मोक्षका कारण नहीं होता है तथापि उससे वह देव या मनुष्यपना पासक्ता है।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने निष्पक्षभावसे यह व्याख्यान किया है कि जैसा कारण या निमित्त होता है वैसा उसका फल होता है। निश्चयधर्म तो स्याद्वादनयके द्वारा निर्णय किये हुए सामान्य विशेष गुण पर्यायके समुदायरूप अपने ही शुद्धात्माके ज्ञान तथा अनुभवरूप निर्विकल्प समाधिभाव

न्याधिके निमित्तसे होता है। मोहनीयकर्म दर्शनमोह और चरित्रमोहके भेदसे दो प्रकार है। दर्शनमोहके उदयसे मिथ्या-श्रद्धानरूप मिथ्यारुचिमई भाव होता है जिससे यह जीव मोक्षकी रुचि न रखकर ससारकी रुचि रखता हुआ ससारके सुखोंमें व उनके कारणोमें तथा उन सुखोंके सहकारी धर्माभासोमें रुचि करता है। यह महा अशुभ भाव है। इसी भावसे जीव मिथ्यात्वकी स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर बाधता है। चारित्र मोहके उदयसे रागद्वेषभाव होता है। क्रोध व मान कषाय तथा अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इनके उदयजनित भावको द्वेष कहते हैं। यह द्वेष परिणामोंको सक्लेश या दुःखी व मलीन करनेवाला है इसलिये अशुभ भाव है। लोभ व माया कषाय तथा रति, हास्य, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुसकवेद इनके उदयसे होनेवाले भावको राग कहते हैं। यह रागभाव जो पाचों इन्द्रियोंके भोगनेमें व अभिमानादिकी पुष्टिके लिये होता है वह अशुभ राग है। जब कभी इन ही कषायोंकी मदतामें श्री अरहत सिद्ध आदि पाच परमेष्टियोंमें भक्तिरूप पूजा, दान, परोपकार, जप तथा स्वाध्याय करनेकी आकाक्षारूप भाव होता है वह शुभ राग है। इनमेंसे शुभ राग तो पुण्यबध करता है और परम्पराय मोक्षका कारण है जब कि अशुभ राग, मोह और द्वेष भाव तो मात्र पाप कर्मोको बाधते हैं इससे सर्वथा त्यागने योग्य हैं। प्रयोजन यह है कि इन सर्व बधके कारणभावोंको त्यागनेके लिये हमें नित्य शुद्धोपयोगकी ही भावना करनी योग्य है। [illegible] परिणाम ही बधका कारण है जैसा श्री [illegible]

परमरम्णामय है। श्रावकका चारित्र भी साम्यभावकी उपासना रूप है, आरम्यारम्भमें शोभायमान है। इसलिये सर्वज्ञ कथित निश्चयधर्ममें अन्तरंग आरूढ होनेसे उसी भवमें मोक्ष होसक्ती है, परन्तु जो अन्तरंग-जितना चाहिये उतना-निश्चयधर्ममें नहीं ठहर सके उनको निश्चय और व्यवहार धर्म दोनों साधने पड़ते हैं इससे वे अतिशयकारी पुण्य बांध उत्तम देवगतिको पाकर फिर कुछ भवोंमें मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये वास्तवमें जिनेन्द्र कथित ही मार्ग सच्चा मोक्षमार्ग है। अन्य मिथ्याज्ञानियोंने जो धर्म मार्ग चलाए हैं वे यथार्थ नहीं हैं, क्योंकि उनमें आत्मा, परमात्मा, पुण्य पाप, मुनि व गृहस्थके आचरणका यथार्थ स्वरूप नहीं बतलाया गया है। जिसकी परीक्षा प्रमाणसे की जा सक्ती है। न्यायशास्त्रमें जो युक्तियें दी हैं वे इसीलिये हैं कि जिनसे यथार्थ पदार्थकी परीक्षा होसके।

आत्माको ब्रह्मका अंश मानकर फिर अशुद्ध मानना अथवा सर्वथा नित्य मानना व सर्वथा अनित्य मानना, अथवा सर्वथा शुद्ध मानना व सर्वथा अशुद्ध मानना, व उसको कर्ता न मानकर केवल भोक्ता मानना, आत्मा व अनात्माको परिणाम स्वरूप न मानना, केवल एक आत्मा ही मानकर व केवल एक पुद्गल ही मानकर बन्ध व मोक्षकी व्यवस्था करना, अहिंसाके स्वरूपको यथार्थ न समझकर हिंसा करके भी पुण्यबन्ध मानना अथवा हिंसासे मोक्ष बताना अथवा ज्ञानमात्रसे या श्रद्धाभावसे या आचरण मात्रसे मुक्ति होना कहना, गुण और गुणीको किसी

लेना फिर उनका जुड़ना मानना, दूसरे

रूप भाव मोक्षका कारण होनेसे शुद्ध भाव है ऐसा परमागममें कहा है अथवा ये भाव यथासभव लब्धिकालमें होते हैं। विस्तार यह है कि मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानोंमें तारतम्यसे अर्थात् कमती कमती अशुभ परिणाम होता है ऐसा पहले कहा जा चुका है। अविरत सम्यक्त, देशविरत तथा प्रमत्तसयत इन तीन गुणस्थानोंमें तारतम्यसे शुभ परिणाम कहा गया है। तथा अप्रमत्त गुणस्थानसे क्षीणकषाय नाम बारहवें गुणस्थानतक तारतम्यसे शुद्धोपयोग ही कहा गया है। यदि नयकी अपेक्षासे विचार करें तो मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे क्षीणकषाय तकके गुणस्थानोंमें अशुद्ध निश्चय नय ही होता है। इस अशुद्ध निश्चय नयके विषयमें शुद्धोपयोग कैसे प्राप्त होता है ऐसी पूर्वपक्ष शिष्यने की। उसका उत्तर देते हैं कि वस्तुके एक देशकी परीक्षा जिसमें हो वह नयका लक्षण है। तथा शुभ अशुभ व शुद्ध द्रव्यके आलम्बनरूप भावको शुभ, अशुभ व शुद्ध उपयोग कहते हैं। यह उपयोगका लक्षण है। इस कारणसे अशुद्ध निश्चयनयके मध्यमें भी शुद्धात्माका आलम्बन होनेसे व शुद्ध ध्येय होनेसे व शुद्धका साधक होनेसे शुद्धोपयोग परिणाम प्राप्त होता है। इस तरह नयका लक्षण और उपयोगका लक्षण यथासभव सर्व जगह जानने योग्य है। यहा जो कोई रागादि विकल्पकी उपाधिसे रहित समाधि लक्षणमई शुद्धोपयोगको मुक्तिका कारण कहा गया है सो शुद्धात्मा द्रव्य लक्षण जो ध्येय-रूप शुद्ध पारिणामिक भाव है उससे अभेद प्रधान द्रव्यार्थिक नयसे अभिन्न होनेपर भी भेद प्रधान पर्यायार्थिक नयसे भिन्न है। इसका कारण यह है कि यह जो समाधिलक्षण शुद्धोपयोग है वह एक-

कषायकी मंदता होनेसे इन पाप प्रकृतियोंमें भी स्थिति व अनुभाग उतना तीव्र न डालेंगे जितना वे ही प्राणी उस समय डालते जब वे पूजा, पाठ, जप, तप, दानादि न करके द्यूत रमन, मांस भक्षण, वेश्या सेवन व परस्त्री सेवन व प्राणीघात व असत्य भाषण व चोरी करना आदिमें फंसकर टालते तथा कषायोंके मंद झलकावमें अशुभ लेश्याके स्थानमें पीत, पद्म या शुक्ल लेश्याके परिणामोंके कारण वे ही जीव असाता वेदनीयके स्थानमें पुण्यरूप साता वेदनीय बांधते, नीच गोत्रके स्थानमें पुण्यरूप उच्च गोत्र कर्म बाधते, अशुभ नामके स्थानमे शुभ नाम कर्म बांधते तथा अशुभ आयुके स्थानमें शुभ आयु बाध लेते। उन पुण्य कर्मोंके उदयसे वे प्राणी मरकर स्वर्गादिमें जाकर देव पद पाते व मनुष्य जन्ममें जाकर राजा महाराजा, धनवान, रूपवान, बलवान व प्रभावशाली व्यक्ति होते, तथापि उन पदोंको नहीं पाते जिन पदोंको यथार्थ धर्मानुरागी अपने यथार्थ धर्मानुरागसे पुण्यकर्म बांध प्राप्त करता। अल्पज्ञानी प्रणीत तत्वोंका मननकर्ता अत्यंत मंदकषायी साधु भी स्वर्गों तक जा सक्ता है। इससे आगे नहीं।

वास्तवमें यहांपर आचार्यने कोई भी पक्षपात नहीं किया है जैसे भाव जिसके हैं उसको वैसे फलकी प्राप्ति बताई है। जो जैन धर्मके तत्वोंके श्रद्धानी नहीं हैं और परोपकार करते, दान करते व कठिन २ तपस्या करते तो उनका यह मंद कषायरूप कार्य निरर्थक नहीं होसक्ता, वे अवश्य कुछ पुण्यकर्म बांधते हैं जिसका फल सांसारिक विभूतिका लाभ है परन्तु संसारके बंधनोंसे उनकी कभी मुक्ति नहीं होसक्ती है। ऐसा तात्पर्य है।

है क्योंकि वहा निरावरण ज्ञान होगया है। अशुद्ध निश्चयनयसे अप्रमत्तमे क्षीणकषायतक होता है। क्योंकि यहा यद्यपि शुद्धात्मा ध्येय है तथापि ज्ञान निर्मल नहीं है, सावरण है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान होनेके लिये हमको निर्विकल्प समाधि लक्षण शुद्धोपयोगमई भावका उपाय करना चाहिये। इसी कारणसे बाह्य पदार्थका मोह त्यागकर देना चाहिये। जैसा स्वामी अमितिगतिने बड़े सामायिक पाठमें कहा है—

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषय स्नेह स्थिरो वर्तते।
तावन्नश्यति दु खदानकुशल कर्मप्रपच कथ ॥
आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटा शुष्यति किं पादपा।
मृत्स्नातापनिपातरोधनपरा शाखोपशाखान्विता ॥ ९६ ॥

भावार्थ—जबतक चित्तमें बाहरी पदार्थ सम्बन्धी स्नेह स्थिर है तबतक दु खोंके देनेमे कुशल कर्मोंका प्रपच कसे नष्ट होसक्ता है? पृथ्वीतलके जल सहित होनेपर धूपके रोकनेवाले अनेक शाखाओंसे वेष्टित जटावाले वर्गतके वृक्ष कैसे सूख सक्ते हैं? इसलिये रागद्वेष भावोंका मिटाना ही हितकारी है ॥ ९२ ॥

इस तरह द्रव्य बधका कारण होनेसे मिथ्यात्व रागादि विकल्परूप भाव बन्ध ही निश्चयसे बन्ध है ऐसे कथनकी मुख्यतासे तीन गाथाओंके द्वारा चौथा स्थल समाप्त हुआ।

उत्थानिका—आगे इस जीवको अपने आत्मद्रव्यमे प्रवृत्ति और परद्रव्योंसे निवृत्तिके कारण छ प्रकार जीवकायोंसे भेदविज्ञान दिखलाते हैं —

हे छोड़कर उनकी सेवा करते हैं। इसीसे भावोंमें कठोरता नहीं
ती है। सेवाके कार्यमें लगे हुए जो भावोंकी कोमलता होती है
द कुछ पुण्य भी बाध देती है। वास्तवमें जो मनुष्य द्यूतरमण,
स्यागमन, मद्यपान, मांसाहार आदि पाप कर्मोंमें आधीन हैं वे ही
दि इनको छोड़कर अपने २ अयथार्थ धर्मकी सेवामें लग जावें
। उनके पहलेकी अपेक्षा अवश्य कषाय मंद होगी, इसी कारण
क पापरूप भावोंसे जन नरक या पशुगति पाते हैं
न अल्प पुण्यरूप भावोंसे देव या मनुष्यगति पाते हैं। इनके
न्द जो सच्चे देव गुरु धर्मके भक्त हैं वे बहुत अधिक पुण्य
धकर उत्तम देव तथा मनुष्य होते हैं। इतना ही नहीं जो सुदे-
दिके भक्त हैं वे मोक्षमार्गी हैं, परन्तु जो कुदेवादि भक्त हैं वे
सारमार्गी हैं, क्योंकि जिनकी भक्ति करता है वे ससारमार्गी हैं।

यहापर आचार्यने रञ्चमात्र भी पक्षपात न कर वस्तुका
ाथ स्वरूप बतला दिया है कि मिथ्यात्व होते हुए
ा भी जहा परोपकार या सेवाभाव है वहा कुछ मंदकषाय है।
नन जग कषाय मंद है वहीं पुण्यबंधका कारण है। दूसरा अर्थ
लोका यह भी लिया जासक्ता है कि जो जन साधु होनरके भी
री ठीक आचरण पालते हैं परन्तु मिथ्यादृष्टी हैं—जिनके पर-
र आत्माका व परमात्माका अनुभव नहीं है व भीतर मोक्षके
नराग अनीन्द्रियसुखके स्थानमें इंद्रियजनित बहुत सुखकी लालसा
, ऐसे सम्यक्तरहित कुपात्रोंको जो दान किया जावे वह नीच
ोम व कुभोगभूमिके मनुष्योंमें फलता है। श्री तत्वार्थसारमें अमृ-

णिका ग्रहण त्याग अपने ही परिणामोंमें होता है। यह जीव
तो ज्ञानावरणादि कर्मोको ग्रहण करता है, न छोडता है और
घट पट आदिको करता है। व्यवहारमें जीवको इन कर्मोका
र्ता भोक्ता व नाशकर्ता तो इस कारणसे कहते हैं कि इस
वका भाव इन कर्मोंके कर्मरूप होनेमें व कर्मदशा छोड पुद्गलपिंड
नेमें निमित्त कारण है व कुम्हारका भाव हस्तपग हिलानेमें व
म्के बनानेमें निमित्त कारण है। व्यवहारमें जीवको पुद्गलकी
रिणतिका व पुद्गलको जीवकी अशुद्ध परिणतिका निमित्तकारण
ह सके हैं परन्तु उपादानकारण कभी नहीं कह सके। इस
लेये वास्तवमें जीव अपनी परिणतिका ही ग्रहण त्याग करता है।
दे विज्ञानी पुरुषको शुद्ध निश्चयनयके द्वारा देखना चाहिये तब
र्व ही जीव व अपना जीव सर्व पुद्गलादि द्रव्योंसे पृथक् ही परम
ुद्ध ज्ञानानंदमय अपने शुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावके कर्ता ही दीख
ड़ेंगे। यही दृष्टि जैसे क्षीरनीरके मिश्रणमें क्षीरनीरको भिन्न देखती
ै वैसे जीव पुद्गलके मिश्रणमें जीवको जीव और पुद्गलको पुद्गल
ेखती है। श्री समयसारकलशमें स्वामी अमृतचंद्राचार्य कहते हैं—

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो ।
जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषं ॥
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो ।
जानीत एव हि करोति न किंचनापि ॥ १४–२ ॥

भावार्थ—जैसे हंस दूध पानी मिले होनेपर भी दूध और
पानीके भिन्न २ भेदको जानता है वैसे ही ज्ञानी ज्ञानके द्वारा
विवेक बुद्धिसे पुद्गल [illegible] को भिन्न २ जानता है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्य यह बताते हैं कि इस जगतमें पापबन्धके कारण स्पर्शनादि पांच इन्द्रियोंकी इच्छाएं व उनके निमित्त अनेक पदार्थोंका राग व उनका भोग है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय हैं, इस बातको बालगोपाल सब मानते हैं। इन्हींके आधीन संसारके जीव पापकर्मोंको बांधकर संसारमें दुःख उठाते हैं। तथा यह बात भी बुद्धिमें जगकर जाने लायक है कि जो इन विषयकषायोंके सर्वथा त्यागी हैं वे ही पूजने योग्य देव व गुरु हो सक्ते हैं, तथा वही धर्म है जो विषयकषायोंसे छुड़ाने और वही शास्त्र है जिसमें इन विषय कषायोंके त्यागनेका उपदेश हो। संसार विषय कषायरूप है व मुक्ति विषय कषायोंसे रहित परम निस्पृहभाव व कषाय रहित है। इसलिये जिनके स्वरूपमें यह मोक्षतत्व झलक रहा हो वे ही अपने भक्तोंको अपना आदर्श बताकर संसारसे तरजानेमें निमित्त होसक्ते हैं। इसलिये उनहीका शरण ग्रहण करने योग्य है, परन्तु जो देव या गुरु संसारमें आशक्त हैं, इन्द्रियोंकी चाहमें फसकर विषयभोग करते हैं व अपनी प्रतिष्ठा करानेमें लवलीन हैं, अपनेसे विरुद्ध व्यक्ति पर क्रोध करनेवाले हैं ऐसे देव, गुरु स्वयं संसारमें आशक्त हैं अतः इनकी भक्ति करनेवाले व इनको दान करनेवाले किस तरह उनकी संगतिमें वीतराग धर्मको पासक्ते हैं? अर्थात् किसी भी तरह नहीं पासके। और न संसारसे कभी मुक्ति पासक्ते हैं। इसलिये ऐसे कारणोंका सम्बन्ध नहीं मिलाना चाहिये जिससे संसार बढ़े, किन्तु ऐसे कारण मिलाने चाहिये जिनसे संसारके दुःखोंसे छूटकर यह आत्मा निज स्वाधीन सुखका विलासी हो जावे। .

धूलमें बंध जाता है। और जब कभी पूर्वोक्त कारण समयसारकी परिणतिमें परिणमन करता है तब उन्हीं कर्मकी रजोंसे विशेष करके छूटता है। इससे यह कहा गया कि यह जीव अशुद्ध परिणामोंसे बंधता है तथा शुद्ध परिणामोंसे मुक्त होता है।

भावार्थ–इस गाथामें आचार्यने संसार तथा मोक्ष अवस्था जीवके किस तरह होती है इस बातको स्पष्ट किया है कि यह आत्मा जो अपने ही भावोंका उपादानकर्ता है संसारमें अनादि कालसे कर्मोंके साथ बंधा हुआ है। उस बन्धके कारण मोहके उदयसे जब इसके आप ही मिथ्यादर्शन व रागद्वेषरूप विभाव-भाव होते हैं तब इस जीवके न चाहते हुए भी न उनको प्रेरणा करके ग्रहण करते हुए भी स्वभावसे ही वे लोकमें भरी कर्मवर्गणा-रूपी धूलें आकर जीवके प्रदेशोंमें तिष्ठ जाती हैं ऐसा कोई निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसे तैलसे चुपड़ा हुआ शरीर जहां होता है वहां न चाहते हुए भी मिट्टी शरीरपर चिपक जाती है वैसे ही जब यह आत्मा वीतरागभावमें परिणमन करता है तब भी स्वभावसे ही वह कर्मरज आप ही विशेषपने आत्मासे छूट जाती है। जैसे जब तेल शरीरमें प्रवेश कर जाता है–ऊपर चिकनई नहीं रहती है तब धूल स्वयं शरीरसे गिर जाता है। जगतमें कर्मबंधका और आत्माके अशुद्ध भावका ऐसा ही कोई विलक्षण संबंध है। यदि विचार करके देखोगे तो मालूम पड़ेगा कि आत्मा सिवाय अपने ही भावोंके और कुछ नहीं करता है। अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर वे कर्म आप ही बन्ध जाते हैं तथा शुद्ध भावोंका निमित्त पाकर वे कर्म आप ही छूट जाते हैं। इस निमित्त

कुहेतुनयदृष्टान्तगरलोद्गारदारुणैः ।
आचार्यव्यंजनैः सङ्गः भुजंगैर्जातु न व्रजेत् ॥ ९८ ॥
रागाद्यैर्वा विषाद्यैर्वा न हन्यादात्मवत्परम् ।
ध्रुवं हि प्राणवधेऽनन्त दुःखं भाज्यमुदग्वधे ॥ १०० ॥

भावार्थ–जो आचार्यरूप अपनेको मानते हैं, परन्तु खोटे हेतु नय व दृष्टान्तरूपी विषको उगलने हैं ऐसे सर्पके समान आचार्योंकी संगति कभी न करे। जो मिथ्याचारित्रवान अपना घात विषादिवत् रागादि भावोंमें कर रहे हैं उनसे दूसरोंका घात नहीं करना चाहिये, क्योंकि विषादि देनेमें विपीका नाश हो, किसी नाग णमोकार आदिके प्रतापसे न हो, परन्तु रागादिसे तो अनन्त दुःख प्राप्त होगा। अर्थात जिनकी संगतिमे रागादिकी वृद्धि हो उनकी संगति नहीं नहीं करनी चाहिये।

इसलिये उन सुदेव, सुगुरु व सुधर्म व उनके भक्तोंकी सेवा व संगति करनी चाहिये जिससे मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो ॥ ७९ ॥

उत्थानिका–आगे उत्तम पात्ररूप तपोधनका लक्षण कहते हैं–

उपरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥८०॥

उपरतपापः पुरुषः समभावो धार्मिकेषु सर्वेषु ।
गुणसमितितोपसेवी भवति स भागी सुमार्गस्य ॥ ८० ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(स पुरिसो) वह पुरुष (सुमग्गस्स भागी) मोक्षमार्गका पात्र (हवदि) होता है जो (उपरदपावो) सर्व विषय कषायरूप पापोंसे रहित है, (सव्वेसु धम्मिगेसु समभावो) सर्व धर्मात्माओंमें समानभावका धारी है तथा (गुणसमिदिदोवसेवी) गुणोंके समूहोंको रखनेवाला है।

परिणमति यदात्मा शुभेऽशुभे रागद्वेषयुत ।
त प्रविशति कर्मरजो ज्ञानावरणादिभावै ॥ ९८ ॥

अन्वयसहित सामान्यार्थ –(जदा) जब (रागदोसजुदो) राग द्वेष सहित (अप्पा) आत्मा (सुहम्मि असुहम्मि) शुभ या अशुभ भावमें (परिणमदि) परिणमन करता है तब (कम्मरय) कर्मरूपी रज स्वय (णाणावरणादिभावेहिं) ज्ञानावरणादिकी पर्यायोंमे (पविसदि) जीवमें प्रवेश कर जाती है ।

विशेषार्थ–जब यह राग द्वेषमें परिणमता हुआ आत्मा सर्व शुभ तथा अशुभ द्रव्यमें परम उपेक्षाके लक्षणरूप शुद्धोपयोग परिणामको छोड़कर शुभ परिणाममें या अशुभ परिणाममें परिणमन कर जाता है उसी समयमें जैसे भूमिके पुद्गल मेघजलके संयोगको पाकर आप ही हरी घास आदि अवस्थामें परिणमन कर जाते हैं इसी तरह कर्मपुद्गलरूपीरज नानाभेदको धरनेवाले ज्ञानावरणादि मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंकी पर्यायोंमें स्वय परिणमन कर जाते हैं । इससे जाना जाता है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंकी उत्पत्ति उन्हींके द्वारा होती है तथा उनमें मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी विचित्रता भी उन्हींकृत है, जीवकृत नहीं है ॥ ९८ ॥

भावार्थ–रागी द्वेषी आत्मा कभी शुभोपयोग कभी अशुभोपयोग भावोंसे करता है, तब ही उस आत्माके विना चाही हुई भी पुद्गलकर्मवर्गणाएं आत्माके प्रदेशोंमें प्रवेशकर आत्माके भावोंके [illegible] क प्रकार मूल या उत्तर प्रकृतिरूप परिणमन [illegible] ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है [illegible] न उनको ग्रहण करता है और [illegible] है ॥ ९८ ॥

घृतिभावनया युक्ता शुभभावनयान्विता ।
तत्वार्थाहितचेतस्कास्ते पात्रं दातुरुत्तमा ॥ १६८ ॥

भावार्थ-जो परिग्रह आरम्भसे रहित हैं वीर हैं, रागद्वेषादि दोषोंसे शून्य हैं, शान्त हैं, जितेन्द्रिय हैं, तपरूपी आभूषणको रखनेवाले हैं, मुक्तिकी भावनामें तत्पर हैं, मन वचन काय योगोंकी गुप्तिमें लीन हैं, चारित्रवान हैं, ध्यानी हैं, त्यागवान हैं, धैर्यकी भावनामें युक्त हैं, शुभ भावनाके प्रेमी हैं तत्वार्थोंके विचारमें प्रवीण हैं वे ही दातारके लिये उत्तम पात्र हैं ॥ ८० ॥

उत्थानिका-आगे और भी उत्तम पात्र तपोधनोंका लक्षण अन्य प्रकारसे कहते हैं—

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ ८१ ॥

अशुभोपयोगरहिताः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ता वा ।
निस्तारयन्ति लोकं तेषु प्रशस्तं लभते भक्तः ॥ ८ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(असुभोवयोगरहिदा) जो अशुभ उपयोगसे रहित हैं, (सुद्धवजुत्ता) शुद्धोपयोगमें लीन हैं (वा सुहोवजुत्ता) या कभी शुभोपयोगमें वर्तते हैं वे (लोगं णित्थारयंति) जगतको तारनेवाले हैं (तेसु भत्तो) उनमें भक्ति करनेवाला (पसत्थं) उत्तम पुण्यको (लहदि) प्राप्त करता है।

विशेषार्थ-जो मुनि शुद्धोपयोग और शुभोपयोगके धारी हैं वे ही उत्तम पात्र हैं। निर्विकल्प समाधिके बलसे जब शुभ और अशुभ दोनों उपयोगोंसे रहित हो जाते हैं तब वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोगके धारी होते हैं। इस भावमें जब ठहरनेको

आत्माको बधरूप कहते हैं। जैसे वस्त्रको लाल कहना व्यवहार है वैसे आत्माको बधाहुआ कहना व्यवहार है। जैसे वस्त्रमें लोध फिटकरीके द्वारा कषायित होनेपर मजीठका रग चढ़ता है वैसे आत्मामें उसके रागद्वेष मोह भावोंके निमित्तसे कर्मपुद्गलोंका प्रवेश होकर बंध होता है। प्रयोजन यह है कि यह बध ही ससारभ्रमणका कारण है ऐसा जानकर इस बधके कारण रागद्वेष मोह भावोंका निवारण करना चाहिये जिससे यह जीव अबध और मुक्त होजावे। श्री समयसारकलशमें स्वामी अमृतचद्रजी कहते हैं—

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूति ,
कतरदपि परेषा दूषण नास्ति तत्र ।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्त यात्वबोधोऽस्मि बोध ॥ २७ ॥ १० ॥

भावार्थ—जो ये रागद्वेषकी उत्पत्ति आत्मामें होती है इसमें दूसरोंका कोई दोष नहीं है। यह आत्मा स्वय ही अपराधी होता है तब इसके अज्ञान वर्तन करता है। यह बात विदित हो कि अज्ञानका नाश हो और सम्यग्ज्ञानका लाभ हो। अर्थात् यह आत्मा निज स्वरूपके श्रद्धान ज्ञानचारित्रको न पाकर रागद्वेष मोहमें वर्तता है, यही इसका अपराध है अतएव इस आत्माको उचित है कि श्री गुरुके सम्यक उपदेशको हृदयमें धारणकरके सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे वीतराग विज्ञानभावमें रमण करे ॥ १०० ॥

उत्थानिका—आगे निश्चय और व्यवहारका अविरोध दिखाते हैं—

एसो ... [illegible] जीवाण णिच्छयणण णिदिट्ठो ।
... [illegible] ...हारो अण्णहा भणिदो ॥ १...

एव विध हि यो दृष्ट्वा स्वगृहाङ्गणमागतम् ।
मात्सर्यं कुरुते मोहात् क्रिया तस्य न विद्यते ॥ २०७ ॥
गुरुशुश्रूषया जन्म चित्त सद्ध्यानचिंतया ।
श्रुत यस्य समे याति विनियोग स पुण्यभाक् ॥ १६ ॥

भावार्थ–जो निन्दा स्तुतिमें समान है, धीर है, अपने शरीरसे भी ममता रहित है, जितेन्द्रिय है, क्रोध विजयी है लोभरूप महायोद्धाको वश करनेवाला है, रागद्वेषसे रहित है, मोक्षकी प्राप्तिमे उत्साही है, ज्ञानके अभ्यासमें नित्य रत है तथा नित्य ही शात भावमे ठहरा हुआ है, ऐसे साधुको अपने घरके आगणकी तरफ आते हुए देखकर जो भक्ति न करके उनसे ईर्षा रखता है वह चारित्रसे रहित है। जिसका जन्म गुरुकी सेवामें, चित्त निर्मल ध्यानकी चिन्तामें, शास्त्र समताकी प्राप्तिमे बीतता है वही नियममे पुण्यात्मा है। अभिप्राय यही है कि परि-ग्रहासक्त आत्मज्ञानरहित साधुओंकी भक्ति त्यागने योग्य है और निर्ग्रथ आत्मज्ञानी व ध्यानी साधुओंकी भक्ति ग्रहण करने योग्य है ॥ ८१ ॥

इस तरह पात्र अपात्रकी परीक्षाको कहनेकी मुख्यतामे पाच गाथाओंके द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

इसके आगे आचारके कथनके ही क्रममे पहले कहे हुए कथनको और भी दृढ करनेके लिये विशेष करके साधुका व्यवहार कहते हैं।

उत्थानिका–आगे दर्शाते हैं कि जो कोई साधु सघमें आवे उनका तीन दिन तक सामान्य सन्मान करना चाहिये। फिर विशेष करना चाहिये।

मल्मा करता है द्रव्यकर्मोंको नहीं करता है तथा ये रागादि भाव ही बंधके कारण हैं, तब यह रागादि विकल्पजालको त्यागकर रागादिके विनाशके लिये अपने शुद्ध आत्माकी भावना करेगा। इस भावनासे ही रागादि भावोंका नाश होगा। रागादिके विनाश होनेपर आत्मा शुद्ध होगा। इसलिये परम्परायसे शुद्धात्माका साधक होनेसे इस अशुद्ध नयको भी उपचारसे शुद्ध नय कहते हैं यह वास्तवमें निश्चयनय नहीं कही गई है तैसे ही उपचारसे इस अशुद्ध नयको उपादेय कहा है यह अभिप्राय है।

भावार्थ-इस गाथामें निश्चय और व्यवहार नयको अपेक्षाके भेदसे वर्णन करके दोनोंके कथनका अविरोध दिखलाया है। निश्चय नय स्वाश्रित है-एक ही पदार्थको दूसरेके आश्रयसे वयान करती है। जब कि व्यवहारनय पराश्रित है-एक पदार्थको दूसरेके आश्रयसे बयान करती है। अशुद्ध निश्चयनयसे रागादिभावसे रंजित आत्मा ही बंध स्वरूप है क्योंकि यही रागादिभाव जीवके अपने ही औपाधिक भाव हैं और ये ही कर्मोंके बांधनेमें कारण हैं। कर्मवर्गणाओंका और आत्माके प्रदेशोंका परस्पर बन्ध होना व्यवहारनयसे बंध है। रागादिरूप होनेसे मेरी ही वीतरागता नष्ट होती है ऐसा समझकर भेदविज्ञानी जीवको उचित है कि वह इनरूप परिणमन न करके शुद्ध ज्ञानस्वभावमें परिणमन करे जिससे आत्मा कर्मबंधसे छूटकर मुक्त हो जावे।

श्री अमृतचन्द्र स्वामी समयसारकलशमें कहते हैं-

(?) रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः॥

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं,
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।

नतर उनका इष्ट धर्मकार्य सम्पादन करते हैं। श्री मूलाचार समाचार अधिकारमें इसका वर्णन है—कुछ गाथाएं हैं—

आएसं पज्जंत सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे ।
वच्छल्लाणागहसपणमणहेदु समुट्ठन्ति ॥ १६० ॥

भावार्थ—किसी साधुको आते हुए देखकर सर्व साधु उसी समय धर्म प्रेम, सर्वज्ञकी आज्ञा पालन, स्वागत करन तथा प्रणामके लिये उठ खडे होते हैं।

पच्चुग्गमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च ।
पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥ १६१ ॥

भावार्थ—फिर वे साधु सात पग आगे बढकर परस्पर नमस्कार करते हैं—आनेवाले साधुको ये स्वागत करनेवाले साधु साष्टांग नमस्कार करते हैं तथा आगतुक साधु भी इन साधुओंको इसी तरह नमन करते हैं। इस पाहुणागतिके पीछे परस्पर रत्नत्रयकी कुशल पूछते हैं।

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दादव्वो ।
किरियासंथारादिसु सहवासपरिक्खणाहेदु ॥ १६२ ॥

भावार्थ—आगुन्तुक साधुका नियमसे तीन दिन रात तक रखना, स्वाध्याय आदि छ आवश्यक क्रियाओंमें, शयनके समय, भिक्षा कालमें तथा मल मूत्रादि करनेके कालमें साथ देना चाहिये, जिससे साथ रहनेसे उनकी परीक्षा हो जावे कि यह साधु शास्त्रोक्त साधुका चारित्र पालता है या नहीं।

आवासयठाणादिसु [illegible] ।
सज्झायएगविहारे [illegible] परिच्छन्ति ॥ १६४ ॥

लाकी प्राप्तिकी भावनाके फलसे दर्शनमोहकी गाठ नष्ट होजाती है तैसे ही चारित्रमोहकी गाठ नष्ट होती है व क्रमसे दोनोंका नाश होता है ऐसे कथनकी मुख्यतासे 'जो एव जाणित्ता' इत्यादि दूसरे स्थलमें गाथाए तीन हैं । फिर केवलीके ध्यानका उपचार है ऐसा कहते हुए "णिहदघणघाइकम्मा" इत्यादि तीसरे स्थलमें गाथाए दो हैं। फिर दर्शनाधिकारके सकोचकी प्रधानतासे "एव जिणा जेणिन्दा" इत्यादि चौथे स्थलमें गाथाए दो हैं । पश्चात् "दसण-सुद्धाण" इत्यादि नमस्कार गाथा है । इसतरह बारह गाथाओंमे चार स्थलोंमें विशेष अन्तराधिकारमें समुदाय पातनिका है ।

उत्थानिका—आगे अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माका लाभ ही होता है ऐसा उपदेश करते हैं—

> ण जहदि जो दु ममत्ति अह ममेदत्ति देहदविणेसु ।
> सो सामण्ण चत्ता पडिवण्णो होइ उम्मग्ग ॥ १०२ ॥
>
> न जहाति यस्तु ममतामह ममेदमिति देहद्रविणेषु ।
> स श्रामण्य त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम् ॥ १०२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ -(जो दु) जो कोई (देहदविणेसु) शरीर तथा धनादिमें (अह ममेदत्ति) मैं उन रूप हू व वे मेरे हैं ऐसे (ममत्ति) ममत्वको (ण जहदि) नहीं छोड़ता है । (सो) वह (सामण्ण) मुनिपना (चत्ता) छोड़कर (उम्मग्ग पडिवण्णो होइ) उन्मार्गको प्राप्त होजाता है ।

विशेषार्थ—जो कोई ममकार अहकार आदि सर्व विभावोंसे रहित सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानादि अनन्तगुणस्वरूप निज आत्मपदार्थका निश्चल अनुभवरूप निश्चयनयके विषयसे रहित

अमुट्ठाण किदिकम्म णवण अजलीय मुडाण ।
पच्चूगच्छणमेदे पच्छिदस्सणुसाधण चेव ॥ १७६ ॥
णीच ठाण णीच गमण णीच च आसण सयण ।
आसणदाण उवगरणदाण ओगासदाण च ॥ १७७ ॥
पडिरूवकायस फासणदा पडिरूवकालकिरियाय ।
पेसणकरण स थरकरण उवकरणपडिलिहण ॥ १७८ ॥
पूयावयण हिदभासण च मिदभासण च मधुर च ।
सुत्ताणुवीचिवयण अणिट्ठुरमक्कस वयण ॥ १८० ॥
उवसतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलण वयण ।
एसो वाइयविणओ जहारिह होदि कादव्वो ॥ १८१ ॥

भावार्थ—ऋषियोंके लिये आदर पूर्वक उठ खडा होना, सिद्ध भक्ति श्रुतभक्ति गुरुभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि करना, प्रणाम करना, हाथ जोडना, आते हुए सामने लेनेको जाना, जाते हुए उनके पीछे जाना, देव तथा गुरुके सामने नीचे खडे होना गुरुके बाए तरफ या पीछे चलना, उनसे नीचे बैठना, सोना, गुरुको आसन देना, पीछी कमडल शास्त्र देना, बैठने व ध्यान करनेको गुफा आदि बना देना, गुरु व साधुके शरीर व बलके योग्य शरीरका मर्दन करना, ऋतुके अनुसार सेवा करनी, आज्ञानुसार सेवा करनी, आज्ञानुसार वर्तना, तिनकोंका सथारा बिछा देना, उनके मडल पुस्तकको भले प्रकार पीछीसे झाड देना इत्यादि विनय करना योग्य है आदर पूर्वक वचन कहना अर्थात् बहुवचनका व्यवहार करना, इस लोक परलोकमें हितकारी वचन कहना, अल्प अक्षरोंमें मर्यादारूप बोलना, मीठा वचन कहना, शास्त्रके अनुसार वचन कहना, कठोर व कर्कशवचन न कहना, शात वचन कहना,

स्थमें रहता है वैसा ही आत्मा इस देहमें विराजित परमब्रह्म स्वरूप है ऐसा अनुभव करना चाहिये । जो कोई नोकर्मसे रहित, केवलज्ञानादि गुणोंसे पूर्ण है सो ही मैं शुद्ध सिद्ध, अविनाशी, एक तथा परालम्ब रहित हू । मै सिद्ध हू, शुद्ध हू, अनन्तज्ञानादि गुणोंसे भरा हुआ हू, शरीर प्रमाण हू, नित्य हू, लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी हू तथा अमूर्तीक हू । इस तरह विचारते हुए सर्व विकल्प रुक जायगे, इंद्रियोंके विषय व्यापार बंद होजावेंगे और योगीके भीतर इस आत्मध्यानसे परम ब्रह्मस्वरूप परमात्मा प्रगट होजावेगा । ऐसा जानकर निज शुद्धात्माका ही मनन करना चाहिये इसीसे शुद्धात्मलाभ होगा ॥ १०३ ॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि शुद्ध आत्मा ध्रुव है इसलिये मैं शुद्ध आत्माकी ही भावना करता हू ऐसा ज्ञानी विचारता है ।

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥ १०४ ॥

एवं ज्ञानात्मानं दर्शनभूतमतीन्द्रियमहार्थम् ।
ध्रुवमचलमनालम्बं मन्येऽहमात्मकं शुद्धम् ॥ १०४ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ (एवं) इस तरह (णाणप्पाणं) ज्ञान स्वरूप (दंसणभूदं) दर्शनस्वरूप (अदिंदियम्) इंद्रियोंके अगोचर अतीन्द्रियस्वरूप (धुवम्) अविनाशी (अचलम्) अपने स्वरूपमें निश्चल (अणालंबं) परालम्ब रहित (सुद्धं) शुद्ध (महत्थं) महान पदार्थ ऐसे [illegible] अपने आत्माको (अहं मण्णे) मैं अनुभव करता हू ।

है, परम चैतन्य ज्योतिमई परमात्म पदार्थके ज्ञानके लिये
की परम भक्तिसे सेवा करते हैं तथा उनको नमस्कार करते हैं।
कोई चारित्र व तपमें अपनेसे अधिक न हो तौ भी सम्य-
नमें बड़ा समझकर श्रुतकी विनयके लिये उनका आदर करते
यहां यह तात्पर्य है कि जो कि बहुत शास्त्रोंके ज्ञाता हे, परन्तु
त्रमें अधिक नहीं हैं तौभी परमागमके अभ्यासके लिये उनको
योग्य नमस्कार करना योग्य है। दूसरा कारण यह है कि वे
दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानमें पहलेसे ही दृढ हैं। जिसके सम्यक्त
ज्ञानमें दृढ़ता नहीं है वह साधु वन्दना योग्य नहीं है। आग-
जो अल्पचारित्रवालोंको वन्दना आदिका निषेध किया है
इसी लिये कि मर्यादाका उल्लंघन न हो।

भावार्थ-इस गाथामें आचार्यने और भी स्पष्ट कर दिया है
जो सच्चे श्रमण हैं वे ही विनयके योग्य हैं। जो श्रमणाभास
वे वन्दना योग्य नहीं हैं। सच्चे साधुओंके गुण यही हैं कि
जिन सिद्धान्तके भावके मर्मी हो और संयम तपमें सावधान रहते
आत्मीक तत्त्वज्ञानमें भीगे हुए हों। जिसमें सम्यग्दर्शन तथा
ज्ञान है तथा अपनेसे अधिक तप व चारित्र नहीं है अर्थात्
कठिन तप व चारित्र नहीं पालते हैं तौभी अपने मूलगुणोंमें
धान हैं उनकी भी भक्ति अन्य साधुओंको करनी योग्य है।
साधुओंमें जो बड़े विद्वान हैं उनकी तो अच्छी तरह सेवा
नी योग्य है, अर्थात् उनकी भक्ति करके उनसे सूत्रका भाव
य लेना योग्य है। विनय करना धर्मात्मामें प्रेम बढ़ानेके
वाय धर्ममें अपना प्रेम बढ़ा देता है। स्वयं श्रद्धा, ज्ञान व

सद्दहण वेदंतो णिच्चलचित्तो विमुक्कपरभावो ।
सो जीवो णायव्वो दसणणाण चरित्त च ॥ ५६ ॥

जो अप्पा त णाण ज णाण त च दसण चरण ।
सा सुद्धचेयणावि य णिच्छयणयमस्सिए जीवे ॥ ५७ ॥

भावार्थ–जो अपने स्वभावको अनुभव करता हुआ परभावोंसे मुक्त होकरें निश्चलचित्त होजाता है वही जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप जानना चाहिये । जो जीव शुद्ध निश्चयनयका आश्रय करता है इसके अनुभवमें जो आत्मा है वही ज्ञान है, जो ज्ञान है वही दर्शन है, वही चारित्र है, वही शुद्ध ज्ञान चेतना है ऐसा एकीभाव होजाता है । यही स्वानुभव भावमोक्षका साधक है। ऐसा जानकर निरतर इस प्रकार आत्मध्यानका पुरुषार्थ करना आवश्यक है यही सार है ।

उत्थानिका –आगे कहते हैं कि ये शरीरादि आत्मासे भिन्न विनाशीक हैं इस लिये इनकी चिन्ता न करनी चाहिये ।

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाऽध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥ १०५ ॥

देहा वा द्रविणानि वा सुखदुःखे वाथ शत्रुमित्रजना ।
जीवस्य न सति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा ॥ १०५ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ -(जीवस्स) जीवके (देहा) शरीर (वा दविणा) या द्रव्य (वा सुहदुक्खा) या सासारिक सुखदुःख (वाऽध सत्तुमित्तजणा) तथा शत्रु मित्र आदि मनुष्य (धुवा ण संति) अविनाशी नहीं हैं । (उवओगप्पगो अप्पा) केवल आत्मा (धुवो

अन्वय सहित सामान्यार्थः-(संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि) म, तप तथा शास्त्रज्ञान सहित होनेपर भी (जदि) जो कोई जिणक्खादे) जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए (आदपधाणे अत्थे) आत्माको व्यकर पदार्थोंको (ण सद्दहदि) नहीं श्रद्धान करता है (समणो- ाणहवदि मत्तो) वह साधु नहीं हो सक्ता है ऐसा माना गया है।

विशेषार्थ—आगममें यह बात मानी हुई है कि जो कोई ु संयम पालता हो, तप करता हो व शास्त्रज्ञान सहित भी हो, न्तु जिसके तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषरहित सम्यक्त न हो र्थात् जो वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रगट दिव्यध्वनिके कहे अनुसार णधर देवोंद्वारा ग्रन्थोंमें ग्रथित निर्दोष परमागमको लेकर पदार्थ पूरी रुचि नहीं रखता है, वह श्रमण नहीं है।

भावार्थ—साधुपद हो या श्रावकपद हो दोनोंमें सम्यग्दर्शन ान है। सम्यक्तके विना ग्यारह अंग, दस पूर्वका ज्ञान भी मिथ्या न है, तथा घोर मुनिका चारित्र भी कुचारित्र है। वही श्रमण जिसको अंतरङ्गमें आत्माका अनुभव होता है और जो जीव ीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा मोक्ष, पुण्य, पाप इन नौ ार्थोंके स्वरूपको जिनागमके अनुसार निश्चय और व्यवहार यके द्वारा यथार्थ जानकर श्रद्धान करता है। भावके विना मात्र व्यलिंग एक नाटकके पात्रकी तरह भेषमात्र है। वास्तवमें सच्चा ान आत्मानुभव है व सच्चा चारित्र स्वरूपाचरण है। इन नोंका होना [illegible] के होते हुए ही संभव है। सम्यक्तके विना- त्र बाहरी [illegible] होता है।

[illegible]भद्र आचार्य कहते

स्वयं नष्ट हो जायगे या हम शरीर छोडते हुए इनको छोड जायगे। कर्मोंके उदयसे जो दुःख या सुख होते हैं ये भी एकसे नहीं रहते-होते हैं व छुटते हैं। जिनको हम अपना शत्रु समझकर द्वेष करते हैं व जिनको अपना मित्र समझकर प्रेम करते हैं वे शत्रु व मित्र भी हमसे छूटनेवाले हैं। हमारा अपना यदि कोई सदा साथ देने-वाला है तो एक अपना ही ज्ञानदर्शनोपयोगधारी आत्मा ही है। इसलिये निज आत्माके सिवाय सर्व सम्बन्धको क्षणिक मानकर हमें परम ध्रुव स्वभावधारी निज आत्माहीका मनन करना चाहिये। स्वामी अमितिगतिने बड़े सामायिकपाठमें कहा है—

> कान्तासद्मशरीरजप्रभृतयो ये सर्वथाऽप्यात्मनो,
> भिन्ना कर्मभवा समीरणचला भावा बहिर्भाविनः ।
> तै सम्पत्तिमिहात्मनो गतधियो जानन्ति ये शर्मदा,
> स्व सङ्कल्पवशेन ते विदधते नाकीशलक्ष्मी स्फुटं ॥ ८५ ॥

भावार्थ—जो कोई निर्बुद्धि स्त्री, मकान, पुत्र, धन आदि बाहरी पदार्थोंके सम्बंध होनेपर जो पदार्थ सर्वथा अपनी आत्मासे भिन्न हैं, पवनके समान अथिर हैं तथा कर्मोंके उदयसे होनेवाले हैं, अपने आत्माकी सुखदाई सम्पत्ति जानते हैं वे मानो प्रगटपने अपने संकल्पसे स्वर्गकी लक्ष्मीको धारण कररहे हैं। मतलब यह है कि जैसे मनमे यह संकल्प करना कि मैं स्वर्गकी सम्पदाका धनी हूं, वृथा है, झूठा है। तैसे ही अपनेसे भिन्न स्त्री पुत्र धनादि साम-ग्रीके चचल कर्मजनितसम्बन्धको अपना मानना झूठा है, मूर्खता है। इससे सर्व [illegible] उपादेय निज शुद्ध स्वरूपमे ही प्रेम रखना चाहिये [illegible] सिवाय सर्व भावोंसे वैराग्य भजना चाहिये ॥ १०५

जह तारायणसहिय ससहरविंबं खमंडले विमले ।
भाविय तववयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥ १४६ ॥

भावार्थ—जैसे निर्मल आकाश मंडलमें तारागण सहित चंद्रमाका बिम्ब शोभता है ऐसे ही सम्यग्दर्शनमें विशुद्ध व तप तथा व्रतोंमें निर्मल जिनलिंग या मुनिलिंग शोभता है।

उत्थानिका—आगे जो रत्नत्रय मार्गमें चलनेवाला साधु है उसको जो दूषण लगाता है उसके दोषको दिखलाते हैं—

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥८९॥

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि ।
क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्रः ॥ ८९ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ—(जो) जो कोई साधु (हि) निश्चयसे (सासणत्थं) जिनमार्गमें चलते हुए (समणं) साधुको (दिट्ठा) देखकर (पदोसदो) द्वेषभावसे (अववददि) उसका अपवाद करता है, (किरियासु) उसके लिये विनयपूर्वक क्रियाओंमें (णाणुमण्णदि) नहीं अनुमति करता है (सो) वह साधु (हि) निश्चयसे (णट्ठचारित्तो) चारित्रमें भृष्ट (हवदि) हो जाता है।

विशेषार्थ—जो कोई साधु दूसरे साधुको निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गमें चलते हुए देखकर भी निर्दोष परमात्माकी भावनासे शून्य होकर द्वेषभावसे या कषायभावसे उसका अपवाद करता है इतना ही नहीं उसको यथायोग्य वंदना आदि कार्योकी अनुमति नहीं करता है वह किसी अपेक्षासे मर्यादाके उल्लंघन करनेसे चारित्रमें भृष्ट हो जाता है। जिसका भाव यह है कि यदि रत्नत्रय

ने अपने ही आत्माको अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभादि सर्व
नाथ जालसे रहित विशुद्ध आत्मा होता हुआ ध्याता है सो
ना गुणी जीव शुद्धात्माकी रुचिको रोकनेवाली दर्शनमोहकी
की गांठको क्षय कर डालता है। इससे सिद्ध हुआ कि जिनको
न आत्माका लाभ होता है उन्हींकी मोहकी गाठ नाश होजाती
। यही फल है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने दर्शनमोहकी गाठके क्षयका
पाय यह बताया है कि जो कोई शुद्ध निश्चयनयसे अपने ही
द्ध आत्माको निश्चयकरके कि वह सर्व रागादि परद्रव्योंसे
यारा है, परद्रव्योंसे रागद्वेष मोह छोड़ उसी निज आत्माका
चिन्तन करता है उसके विशुद्ध परिणामोंके प्रतापसे दर्शनमोहकी
गांठका आत्मासे वियोग होजाता है और क्षायिक सम्यक्त पैदा
होजाता है। मुनि हो या गृहस्थ हो शुद्ध आत्माके अनुभवसे
दर्शनमोहका नाश कर सक्ता है। जिसने इस मोहकी गाठको
नष्ट कर डाला उसको निज स्वाधीन पदका लाभ अतिशय निकट
हो जाता है। आत्मध्यान करनेका फल सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होना है।

श्री अमृताशीतिमें श्री योगेन्द्रदेव कहते हैं—

> बहिरन्तरङ्ग[illegible]
>
> [illegible] यदि [illegible] नामिपद्मे [illegible] ।
>
> अस्तगत [illegible] मोहयोगाधकार—
>
> [illegible] ॥ ७४ ॥

भावार्थ यदि तू चारित्रमें चतुर है व मोक्षलक्ष्मीके देख
नेकी इच्छा रखता है [illegible] नाभिपद्ममें ठहरे हुएके भीतर

जह तारायणसहिय ससहरबिंबं खमंडले विमले ।
भाविय तवयविमलं जिणलिंग दसणविसुद्धं ॥ १४६ ॥

भावार्थ–जैसे निर्मल आकाश मंडलमें तारागण सहित चंद्रमाका बिम्ब शोभता है ऐसे ही सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध व तप तथा व्रतोंसे निर्मल जिनलिंग या मुनिलिंग शोभता है।

उत्थानिका–आगे जो रत्नत्रय मार्गमें चलनेवाला साधु है उसको जो दूषण लगाता है उसके दोषको दिखलाते हैं–

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥८६॥

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि ।
क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्रः ॥ ८६ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(जो) जो कोई साधु (हि) निश्चयसे (सासणत्थं) जिनमार्गमें चलते हुए (समणं) साधुको (दिट्ठा) देखकर (पदोसदो) द्वेषभावसे (अववददि) उसका अपवाद करता है, (किरियासु) उसके लिये विनयपूर्वक क्रियाओंमें (णाणुमण्णदि) नहीं अनुमति रखता है (सो) वह साधु (हि) निश्चयसे (णट्ठचारित्तो) चारित्रसे भ्रष्ट (हवदि) हो जाता है।

विशेषार्थ–जो कोई साधु दूसरे साधुको निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्गमें चलते हुए देखकर भी निर्दोष परमात्माकी भावनासे शून्य होकर द्वेषभावसे या कषायभावसे उसका अपवाद करता है इतना ही नहीं उसको यथायोग्य वंदना आदि कार्योंकी अनुमति नहीं करता है वह किसी अपेक्षासे मर्यादाके उल्लंघन करनेसे चारित्रसे भ्रष्ट हो [illegible] इसका भाव यह है कि यदि रत्नत्रय

इतोंप ग्रहण व परनिन्दा करनेकी आदत पट जाती है वे साधु अपने भाव साधुपनेसे छूटकर केवल द्रव्यलिंगी ही रह जाते हैं, अतएव इस भावको दूरकर साधुओंको साम्य भावरूपी बागमें रमण करना योग्य है। अनगारभावना मूलाचारमें कहा है—

भास विणयविहूण धम्मविरोही विवज्जये वयण।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा णवि ते भासति सप्पुरिसा ॥८७॥
जिणवयणभासिदत्थ पत्थ च हिद च धम्मसजुत्त।
समओवयारजुत्त पारत्तहिद कध करेंति ॥ ८८ ॥

भावार्थ—साधुजन विनयरहित, धर्मविरोधी वचनको कभी नहीं कहते हैं तथा यदि कोई पूछे वा न पूछे वे कभी भी धर्मरहित वचन नहीं कहते हैं। साधुजन ऐसी कथा करते हैं जो जैन वचनोंमें प्रगट किये हुए पदार्थोंको बतानेवाली हो, पथ्य हो अर्थात् समझने योग्य हो, हितकारी हो व धर्मभाव सहित हो, आगमकी विनय सहित हो तथा परलोकमें भी हितकारी हो।

मूलाचारके पचाचार अधिकारमें कहा है कि सम्यग्दृष्टी साधुओंको वात्सल्यभाव रखना चाहिये—

चादुव्वण्णे सघे चदुगतिससारणित्थरणभूदे।
वच्छल्ल कादव्व वच्छे गावी जहा गिद्धो ॥ ६६ ॥

भावार्थ—जैसे गौ अपने बच्चेमें प्रेमालु होती है उसी तरह चार प्रकार मुनि, आर्जिका, श्रावक, श्राविकाके सघमें—जो चार गतिरूप ससारसे पार होनेके उपायमें लीन हैं—परम प्रेमभाव रखना चाहिये।

अनगारधर्मामृत द्वि० अध्यायमें कहा है—

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(णिहदघणघादिकम्मो) सर्व घातिया कर्मोको नाश करनेवाले (पचक्ख) प्रत्यक्षरूपसे (सव्वभावतच्चण्हू) सर्व पदार्थोके जाननेवाले (णेयतगदो) सर्व ज्ञेय पदार्थोके पार पहुचनेवाले (असदेहो) तथा सशयसहित (समणो) केवलज्ञानी महामुनि (कम्मट्ठ) किस पदार्थको (झादि) ध्याते है।

विशेषार्थ-पूर्वसूत्रमें कहे प्रमाण निश्चल अपने परमात्मा तत्त्वमें परिणमन रूप शुद्ध ध्यानके बलसे घातिया कर्मोके क्षयकर्ता, प्रत्यक्षज्ञानी, सर्व ज्ञेयोंको जाननेकी अपेक्षा उनके पार होनेवाले ऐसे तीन विशेषण सहित जीवन मरण आदिमें समताभाव रखनेवाले महा श्रमण श्री सर्वज्ञ भगवान जो सशयादिसे रहित है वह किस पदार्थको ध्याते है यह प्रश्न है अथवा किसी पदार्थको भी नहीं ध्याते हैं यह आक्षेप है? यहा यह अर्थ है कि जैसे कोई भी देवदत्त विषयोंके सुखके निमित्त किसी विद्याकी आराधनारूप ध्यानको करता। है जब वह सिद्ध होजाती है तब उस विद्याके फलरूप विषयसुखको सिद्ध करलेता है फिर उस विद्याकी आराधनारूप ध्यानको नहीं करता है। तैसे ही भगवान भी केवलज्ञान रूपी विद्याके निमित्त तथा उसके फलरूप अनन्त सुखके निमित्त पहले छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञकी अवस्थामें शुद्ध आत्माकी भावना रूप ध्यानको करते थे अब उस ध्यानसे केवलज्ञानरूपी विद्या सिद्ध होगई तथा उसका फलरूप अनन्त सुख भी सिद्ध होगया तब किस लिये ध्यान करते हैं ऐसा प्रश्न है या आक्षेप है? दूसरा कारण यह है कि [illegible] परोक्ष होनेपर उसका ध्यान किया जाता है भगवानके [illegible] तब उनके ध्यान किस तरह

एक ही वीतराग चारित्ररूप आराधना होती है तैसे ही भेद-नयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र रूपसे तीन प्रकार मोक्ष मार्ग है सो ही अभेद नयसे एक श्रमणपना नामका मोक्ष मार्ग है जिसका अभेद रूपसे मुख्य कथन "एयग्गगदो समणो" इत्यादि चौदह गाथाओंमें पहले ही किया गया। यहां मुख्यतासे उसीका भेदरूपसे शुभोपयोगके लक्षणको कहते हुए व्याख्यान किया गया इसमें कोई पुनरुक्तिका दोष नहीं है ॥ ८६ ॥

इस प्रकार समाचार विशेषको कहते हुए चौथे स्थलमें गाथाएं आठ पूर्ण हुईं।

उत्थानिका–आगे कहते हैं कि जो स्वयं गुणहीन होता हुआ दूसरे अपनेसे जो गुणोंमें अधिक हैं उनसे अपना विनय चाहता है उसके गुणोंका नाश हो जाता है–

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जोवि होमि समणोत्ति।
होज्ज गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥ ८७ ॥

गुणतोऽधिकस्य विनयं प्रत्येषको योपि भवामि श्रमण इति।
भवन् गुणाधरो यदि स भवत्यनन्तसंसारी ॥ ८७ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ–(यदि) यदि (जोवि) जो कोई भी (समणोत्ति होमि) मैं साधु हूं ऐसा मानके (गुणदोधिगस्स) अपनेसे गुणोंमें जो अधिक हैं उसके द्वारा (विणय) अपना विनय (पडिच्छगो) चाहता है (सो) वह साधु (गुणाधरो) गुणोंसे रहित (होज्ज) होता हुआ (अणंतसंसारी होदि) अनन्त संसारमें भ्रमण करनेवाला होता है।

विशेषार्थ–मैं श्रमण हूं इस गर्वसे–जो साधु अपनेसे व्यवहार साधनमें अधिक है–उससे

हुए उसी समयसे वे भगवान जिनकी आत्मा दूसरोंके इन्द्रियोंका विषय नहीं है किसी परम उत्कृष्ट सर्व आत्माके प्रदेशोंमें आह्लाद देनेवाले अनन्त सुखरूप एकाकार समता रसके भावसे परिणमन करते रहते हैं अर्थात् निरन्तर अनन्त सुखका स्वाद लेते रहते हैं। जिस समय यह भगवान एक देश होनेवाले सांसारिक ज्ञान और सुखकी कारण तथा सर्व आत्माके प्रदेशोंमें पैदा होनेवाले स्वाभाविक अतींद्रिय ज्ञान और सुखको नाश करनेवाली इन इंद्रियोंको निश्चय रत्नत्रयमई कारण समयसारके बलसे उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् उन इंद्रियोंके द्वारा प्रवृत्तिको नाश करदेते हैं उसी ही क्षणमें वे सर्व बाधासे रहित होजाते हैं, तथा अतींद्रिय और अनंत आत्मामें उत्पन्न आनन्दका अनुभव करते रहते हैं अर्थात् आत्म सुखको ध्याते हैं व आत्मसुखमें परिणमन करते हैं। इससे जाना जाता है कि केवलियोंको दूसरा कोई चिन्तानिरोध लक्षण ध्यान नहीं है, किन्तु इसी परम सुखका अनुभव है अथवा उनके ध्यानका फलरूप कर्मकी निर्जराको देखकर ध्यान है ऐसा उपचार किया जाता है। तथा जो आगममें कहा है कि सयोग केवलीके तीसरा शुक्लध्यान व अयोग केवलीके चौथा शुक्लध्यान होता है वह उपचारसे जानना चाहिये ऐसा सूत्रका अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथामें वास्तवमें केवली भगवानका स्वभाव बताया है। आचार्य कहते हैं कि केवली भगवानका आत्मा ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंसे रहित होकर अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त व क्षायिक सम्यक्त व क्षायिक यथाख्यात चारित्र तथा अनन्त सुखमें परिपूर्ण होजाता है। उनके आत्मामें ज्ञान व

सचा साधुपना है। भाव विना बाहरी क्रिया फलदाई नहीं होसक्ती है। जैसा भावपाहुडमें स्वामीने कहा है—

भावविसुद्धिणिमित्त बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अभंतरगंथजुत्तस्स ॥ ३ ॥
भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडाओ।
जम्मतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥ ४ ॥
परिणाममि असुद्धे गंथे मुच्चेइ बाहरे य जइ।
बाहिरगंथचाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥ ५ ॥
जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण।
पथिय सिवपुरिपंथ जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥ ६ ॥
भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाइं ॥ ७ ॥

भावार्थ—भावोंकी विशुद्धताके लिये ही बाहरी परिग्रहका त्याग किया जाता है। जिसके भीतर रागादि अभ्यंतर परिग्रह विद्यमान है उसका बाहरी त्याग निष्फल है। यदि कोई वस्त्र त्याग हाथ लम्बेकर कोड़ाकोडी जन्मों तक भी तप करे तोभी भाव रहित साधु सिद्धि नहीं पासक्ता। जो कोई परिणामोंमें अशुद्ध है और बाहरी परिग्रहोंको त्यागता है—भाव रहितपना होनेसे बाहरी ग्रन्थका त्याग उसका क्या उपकार कर सक्ता है। हे मुने! भावको ही मुख्य जान, इसीको ही जिनेन्द्रदेवने मोक्षमार्ग कहा है। भाव रहित भेषसे क्या होगा? हे सत्पुरुष! भाव रहित होकर इस जीवने इस अनादि अनन्त संसारमें वस्तुतने बाहरी निर्ग्रंथरूप वार-वार ग्रहण किये हैं और छोडे हैं। और भी कहा है—

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीय-णियर णासइ भावेण दव्वेण ॥ ५४

प्राणमे चित्तको रोकनेरूप ध्यान नहीं है । वे सदा ही आत्मध्यानी व आत्मानन्दी है–उनकी महिमा वचन अगोचर है । यहा यह तात्पर्य है कि जिस आत्मध्यानसे ऐसा अपूर्व अरहतपद प्राप्त होता है उस ध्यानका पुरुषार्थ कर्तव्य है । आप्तस्वरूप नाम ग्रन्थमें अरहतभगवानका स्वरूप कहते हैं —

नष्ट छद्मस्थविज्ञान नष्ट केशादिवर्धनम् ।
नष्ट देहमल कृत्स्न नष्टे घातिचतुष्टये ॥ ८ ॥

नष्ट भयादिविज्ञान नष्ट मानसगोचरम् ।
नष्ट कर्ममल दुष्ट नष्टो वर्णात्मको ध्वनि ॥ ९ ॥

नष्टा क्षुत्तृड्भयस्वेदा नष्ट प्रत्यकबोधनम् ।
नष्ट भूमिगतस्पर्श नष्ट चेंद्रियसुख ॥ १० ॥

यनाम परमैश्वर्य परानदसुखास्पदम् ।
बोधरूप कृतार्थोऽसावीश्वर पटुभि स्मृत ॥ २३ ॥

भावार्थ–जिसने चार घातिया कर्म नष्ट कर दिये, छद्मस्थ ज्ञान दूर कर दिया, केश नखकी वृद्धि बन्द की व सर्व शरीरका मल भी हटा दिया । जिसमें मन सम्बन्धी व इंद्रिय सम्बन्धी व क्षयोपशम रूप मर्यादित ज्ञान भी नहीं रहा जिसके दुष्ट कर्ममल नष्ट हुआ व अक्षररूप ध्वनि भी नहीं रही । जिसके क्षुधा, तृषा, भय, स्वेद आदि अठारह दोष नष्ट होगए, प्रत्येक प्राणीको समझानेकी क्रिया भी नष्ट हुई, भूमिमें स्पर्श भी न रहा व इंद्रियोंके द्वारा सुख भोग भी न रहा–जिन्होंने अनत ज्ञानरूप परमानद सुखके स्थान परमई [illegible] प्राप्त कर लिया व जो परमकृतकृत्य है उसीको ।

लीन अनेक मुनि हुए जो तद्भव मोक्षगामी न थे तथा सामान्य केवली जिन हुए व तीर्थंकर परमदेव हुए ये सब सिद्ध परमात्मा हुए हैं। उन सबको तथा उस विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षके मार्गको हमारा अनन्तज्ञानादि सिद्ध गुणोंका स्मरणरूप भाव नमस्कार होहु। यहां अचरम शरीरी मुनियोंको सिद्ध मानकर इस लिये नमस्कार किया है कि उन्होंने भी रत्नत्रयकी सिद्धि की है। जैसा कहा है—

" तव सिद्धे णयसिद्धे सजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य। णाणम्मि दसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमस्सामि ' अर्थात जिन्होंने तपमें सिद्धि पाई है, नयोंके सरूप ज्ञानमें सिद्धि पाई है, सयममें सिद्धि की है, चारित्रमें सिद्धि पाई है तथा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानमें सिद्धि पाई है उन सबको मैं सिर झुकाकर नमस्कार करता हूं। इससे निश्चय किया जाता है कि यही मोक्षका मार्ग है अन्य कोई नहीं है।

भावार्थ—इस गाथामें आचार्यने यह स्पष्ट कह दिया है कि मोक्षका कारण निज शुद्धात्माका सर्व परद्रव्योंसे भिन्न श्रद्धान ज्ञान तथा चारित्ररूप तल्लीनता है—अर्थात् निश्चय रत्नत्रयमई निर्विकल्प समाधि है या स्वानुभव है या कारण समयसार है या स्वसमयरूप प्रवृत्ति है। इसी मोक्षमार्गको सेवन करके महामुनि हुए हैं जो यद्यपि तद्भव मोक्ष न प्राप्त हुए किंतु कुछ भवोंमें प्राप्त करेंगे। तथा इसी मार्गपर चलकर अनेक मुनि सामान्य-केवली हुए, अनेक साधु तीर्थंकर केवली हुए और ये सब नीव सिद्ध परमात्मा [illegible] क्योंकि मैं कुन्दकुन्द मुनि भी इसी शुद्धा-
त्माकी [illegible] [illegible]रना चाहता हूं इसलिये मैं शुद्ध आत्मा-

सत्सगो हि बुधै कार्य सर्वकालसुखप्रद ।
तेनैव गुरुता याति गुणहीनोऽपि मानव ॥ २७० ॥
रागादयो महादोषा खलास्ते गदिता बुधै ।
तेषा समाश्रयास्त्याज्यस्तत्त्वविद्भि सदा नरै ॥ २७२ ॥

भावार्थ—सर्व दोषोंको बढानेवाले कुसगको सदा ही छोड देना चाहिये, क्योंकि कुसगसे गुणवान मानव भी शीघ्र ही लघुताको प्राप्त होजाता है। बुद्धिमानोंको चाहिये कि सर्व समयोंमें सुख देनेवाले सत्सगको करें इसीके प्रतापसे गुण हीन मनुष्य भी बडेपनेको प्राप्त होजाता है। आचार्योंने रागादि महा दोषोंको दुष्ट कहा है इसलिये तत्वज्ञानी पुरुषोंको इन दुष्टोंका आश्रय बिलकुल त्याग देना चाहिये।

उत्थानिका—आगे लौकिक जनोंकी सगतिको मना करते हैं—

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसायो तवोधिगो चावि ।
लौगिगजणससग्ग ण जहदि जदि सजदो ण हवदि ॥८८॥
निश्चितसूत्रार्थपद समितकषायस्तपोधिकश्चापि
लौकिकजनससर्ग न जहाति यदि सयतो न भवति ॥८९॥

अन्वय सहित सामान्य —(णिच्छिदसुत्तत्थपदो) जिसने सूत्रके अर्थ और पदोंको निश्चय पूर्वक जान लिया है, (समिदकसाओ) कषायोंको शात कर लिया है (तवोधिगो चावि) तथा तप करनेमे भी अधिक है ऐसा साधु (जदि) यदि (लौगिगजणससग्ग) लौकिक जनोंका अर्थात् असयमियोंका या भ्रष्टचारित्र साधुओंका सग (ण जहदि नहीं त्यागता है (सजदो ण हवदि) तो वह सयमी नहीं रह सकता है।

विशेषार्थ—जिसने अनेक धर्ममई अपने शुद्धात्माको आदि

तम्हा तध जाणित्ता अप्पाणं जाणग समावेण।
परिवज्जामि ममत्ति उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि ॥ ११२ ॥

तस्मात्तथा ज्ञात्वात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन ।
परिवर्जयामि ममतामुपस्थितो निर्ममत्त्वे ॥ ११२ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ-(तम्हा) इसलिये (तध) तिसही प्रकार (समावेण) अपने स्वभावसे (जाणग) ज्ञायक मात्र (अप्पाण) आत्माको (जाणित्ता) जानकर (णिम्ममत्तम्मि) ममतारहित भावमें (उवट्ठिदो) ठहरा हुआ (ममत्ति) ममता भावको (परिवज्जामि) मैं दूर करता हू।

विशेषार्थ-क्योंकि पहले कहे हुए प्रमाण शुद्धात्माके लाभ रूप मोक्ष मार्गके द्वारा जिन, जिनेन्द्र तथा महामुनि सिद्ध हुए हैं इसलिये मैं भी उसी ही प्रकारसे सर्व रागादि विभावसे रहित शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके द्वारा उस केवलज्ञानादि अनतगुण स्वभावके धारी अपने ही परमात्माको जान करके सर्व परद्रव्य सम्बन्धी ममकार अहंकारसे रहित होकर निर्ममता लक्षण परम साम्यभाव नामके वीतराग चारित्रमें अथवा उस चारित्रमें परिणमन करनेवाले अपने शुद्ध आत्मस्वभावमें ठहरा हुआ सर्व चेतन अचेतन व मिश्ररूप परद्रव्य सम्बन्धी ममताको सब तरहसे छोडता हू। भाव यह है कि मैं केवलज्ञान तथा केवलदर्शन स्वभावरूपसे ज्ञायक एक टंकोत्कीर्ण स्वभाव हू ऐसा होता हुआ मेरा परद्रव्योंके साथ अपने स्वामीपने आदिका कोई सम्बन्ध नहीं है। मात्र ज्ञेय ज्ञायक सबध है, सो भी व्यवहार नयसे है। निश्चयसे यह ज्ञेय ज्ञायक सबध भी नहीं मैं सर्व परद्रव्योंके ममत्त्वसे रहित होकर

गति है। जैसा बाहरी निमित्त होता है वैसे अपने भाव बदल जाते हैं। इसी निमित्त कारणसे बचनेके लिये ही साधुजनोको स्त्री पुत्रादिका सम्बन्ध त्यागना होता है। धनादि परिग्रह हटानी पड़ती, वन गुफा आदि एकान्त स्थानोमे वास करना पड़ता, जहा स्त्री, नपुंसक व लौकिक जन आकर न घेरें। अग्निके पास जल रक्खा हो और यह सोचा जाय कि यह जल तो बहुत शीतल है कभी भी गर्म न होगा तो ऐसा सोचना बिलकुल असत्य है, क्योकि थोड़ीसी ही सगतिसे वह जल उष्ण होजायगा ऐसे ही जो साधु यह अहकार करे कि मैं तो बडा तपस्वी हू, मैं तो बडा ज्ञानी हू, मैं तो बड़ा ही शात परिणामी हू, मेरे पास कोई भी बैठे उठे उसकी सगतिसे मैं कुछ भी भ्रष्ट न हूगा वही साधु अपने समान गुणोसे रहित भ्रष्ट साधुओंकी व ससारी प्राणियोंकी प्रीति व सगतिके कारण कुछ कालमे स्वय सयम पालनमें ढीला होकर असयमी बन जाता है। इसलिये भूलकर भी लौकिक जनोकी सगति नहीं रखनी चाहिये। श्री मूलाचार समाचार अधिकारमें लिखा है —

णो कप्पदि विरदाण विरदीणमुवासयम्हि चिट्ठेदं।
तत्थ णिसेज्जउवट्ठणसज्झायाहारभिक्खवोसरणं ॥ १८० ॥
कण्ण विधव अंतेउरिय तह सइरिणी सलिंगं वा।
अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥ १८२ ॥

भावार्थ—साधुओंको उचित नहीं है कि आर्जिकाओके उपाश्रयमे ठहरे। न वहा उनको बैठना चाहिये, न लेटना चाहिये, न स्वाध्याय करना चाहिये, न उनके साथ आहारके लिये भिक्षाको जाना चाहिये, न [illegible] करना चाहिये, न मल मूत्रादि करना

मुख्य श्रोता श्री शिवकुमार महाराज हैं दोनों पचम कालमें हुए इस लिये इसी भवसे मोक्षगामी नहीं हैं। इसलिये इनके साम्यभाव ग्रहणकी प्रतिज्ञा आयु क्षयके पीछे नहीं रह सक्ती है, क्योंकि ये शरीर छोड़कर स्वर्गादि गतियोंमें गए होंगे। प्रतिज्ञाकी पूर्णता उनहीकी होती है जिन्होने रत्नत्रय साधनकर तद्भव मोक्ष प्राप्त की है। वे अनतकाल तक साम्यभावमें लीन रहेंगे।

यहा इस प्रवचनसारके दो अधिकार कहकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यजीने अपने कथनकी प्रतिज्ञाको अच्छी तरह निर्वाहा है। यह भाव है।

वास्तवमें निर्ममत्वभाव ही परमानद दायक है जैसा श्री कुलभद्र आचार्यने सारसमुच्चयमें कहा है—

निममत्वं पर तत्व निर्ममत्व पर सुखम् ।
निर्ममत्वं पर बीज मोक्षस्य कथित बुधै ॥ २३४ ॥

निममत्वे सदा सौख्य ससारस्थितिच्छेदनम् ।
जायते परमोत्कृष्टमात्मन सस्थित सति ॥ २३५ ॥

समता सर्वभूतेषु य करोति सुमानस
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ॥ २१३ ॥

भावार्थ—ममतासे दूर रहना परम तत्त्व है। ममता रहितपना परम सुख है, निर्ममताहीको बुद्धिमानोंने मोक्षका उत्तम बीज कहा है। निर्ममता होते हुए निज आत्मामें जो स्थिर होता है उसको ससारकी स्थितिका छेदक परम उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है। जो भव्य मन सम्यक्ती जीव सर्व प्राणियोंमें समता करके ममता भावसे छूट [illegible] ही अविनाशीपदको प्राप्त करता है।

इस तरह ज्ञानदर्शन अधिकारकी समाप्ति करते हुए चौथे स्थलमें दो गाथाएं पूर्ण हुईं ।

उत्थानिका–इस तरह निज शुद्धात्माकी भावनारूप मोक्षमार्गके द्वारा जिन्होंने सिद्धि पाई है और जो उस मोक्षमार्गके आराधनेवाले हैं उन सबको इस दर्शन अधिकारकी समाप्तिमें मंगलके लिये अथवा ग्रन्थकी अपेक्षा मध्यमें मंगलके लिये उस ही पदकी इच्छा करते हुए आचार्य नमस्कार करते हैं–

दंसणसंसुद्धाण सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं ।
अव्वाबाधरदाण णमो णमो सिद्धसाहूण ॥ ११३ ॥

सम्यग्दर्शनशुद्धेभ्य सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तेभ्य ।
अव्याबाधरतेभ्यो नमो नमो सिद्धसाधुभ्य ॥ ११३ ॥

अन्वय सहित सामान्यार्थ –(दंसणसंसुद्धाण) सम्यग्दर्शनसे शुद्ध (सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताण) व सम्यग्ज्ञानमई उपयोगसे युक्त तथा (अव्वाबाधरदाण) अव्याबाध सुखमें लीन (सिद्धसाहूण) सिद्धोंको और साधुओंको (णमो णमो) वारवार नमस्कार हो ।

विशेषार्थ–जो तीन मूढ़ता आदि पचीस दोषोंसे रहित शुद्ध सम्यग्दृष्टी हैं, व संशयादि दोषोंसे रहित सम्यग्ज्ञानमई उपयोग धारी हैं अथवा सम्यग्ज्ञान और निर्विकल्प समाधिमें वर्तनेवाले वीतराग चारित्र सहित हैं तथा सम्यग्दर्शन आदिकी भावनासे उत्पन्न अव्याबाध तथा अनन्त सुखमें लीन हैं ऐसे जो सिद्ध हैं अर्थात् अपने आत्माकी प्राप्ति करनेवाले अर्हंत और सिद्ध हैं तथा जो साधु हैं अर्थात् मोक्षके साधक आचार्य, उपाध्याय तथा साधु हैं उन सबको

स्पर बधकी मुख्यतासे दूसरा विशेष अन्तर अधिकार है। फिर "अरसमरूव" इत्यादि उन्नीस गाथा तक जीवका पुद्गल कर्मोंके साथ बंध कथनकी मुख्यतासे तीसरा विशेष अंतर अधिकार है फिर "ण चयदि जो दु ममत्ति" इत्यादि बारह गाथाओं तक विशेष भेदभावनाकी चूलिकारूप व्याख्यान है ऐसा चौथा चारित्र विशेषका अंतर अधिकार है इस तरह इक्यावन गाथाओंसे चार विशेष अंतर अधिकारोंसे विशेष भेदभावना नामक चौथा अंतर अधिकार पूर्ण हुआ।

इस तरह श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्तिमें "तम्हा दंसण माई" इत्यादि पैंतीस गाथाओं तक सामान्य ज्ञेयका व्याख्यान है फिर "दव्व जीव" इत्यादि उन्नीस गाथाओं तक जीव पुद्गलधर्मादि भेदसे विशेष ज्ञेयका व्याख्यान है फिर "सपदेसेहिं समग्गो" इत्यादि आठ गाथाओं तक सामान्य भेदभावना है पश्चात् "अत्थित्तणिच्छिदस्सहि" इत्यादि इक्यावन गाथाओं तक विशेष भेदभावना है इस तरह चार अंतर अधिकारोंमें एकसौ तेरह गाथाओंसे सम्यग्दर्शन नामका अधिकार अथवा ज्ञेयाधिकार नामका दूसरा महाधिकार समाप्त हुआ ॥

इस ज्ञेयाधिकारका कुछ सार।

पहले अधिकारमें आचार्यने ज्ञान और सुखकी महिमा बताई थी कि स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सुख आत्माकी ही संपत्ति है-ये ही उपादेय है। इस दूसरे अधिकारमें उस स्वभावकी प्राप्तिके लिये जिन२ तत्वोंका श्रद्धान करना जरूरी है उनका स्वरूप कहा है क्योंकि विना वस्तुके स्वरूपको जाने त्यागने योग्यका त्याग और ग्रहण करने योग्यका ग्रहण नहीं हो सक्ता है। इस ज्ञेय अधिकारमें पहले ही द्रव्यका सामान्य स्वरूप है कि द्रव्य सत् स्वरूप है, सत्तासे अभिन्न है इससे अनादि अनंत है-न कभी पैदा हुआ व न कभी नष्ट होगा। इस कथनसे इस जगतकी द्रव्य अपेक्षा नित्यता व अकृत्रिमता दिखाई है। फिर बताया है कि वह सत् रूप द्रव्य कूटस्थ नित्य नहीं है उसमें गुण और पर्यायें होते हैं। गुण सदा बने रहते हैं इससे ध्रौव्य है। गुणोंमें जो अवस्थाएं पलटती हैं वे अनित्य हैं अर्थात् उत्पाद व्ययरूप हैं। जिस समय कोई अवस्था पैदा होती है उसी समय पिछली अवस्थाका व्यय या नाश होता है-मूल द्रव्य बना रहता है। इससे द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप भी है। फिर यह बताया है कि द्रव्य और गुणोंका तथा पर्यायोंका प्रदेशोंकी अपेक्षा एकपना है। जितना बडा द्रव्य है उसीमें ही गुणपर्यायें होती हैं-उनकी सत्ता द्रव्यसे जुदी नहीं मिल सक्ती है तथापि सना सख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा द्रव्य गुणीमें और उसके गुण पर्यायोंमें परस्पर भेद है। इस लिये द्रव्य भेदाभेद स्वरूप है। फिर जीवका दृष्टांत देकर स्पष्ट किया

होनेसे कायवान हैं ऐसा बताया है। फिर कालद्रव्यके गुण पर्यायको अच्छी तरह स्पष्ट किया है तथा सिद्ध किया है कि एक समय कालाणु द्रव्यकी पर्याय है। यदि कालाणु न होता तो समयरूप व्यवहार काल नहीं होसक्ता था। फिर तिर्यक् प्रचय तथा ऊर्ध्व प्रचयका स्वरूप बताया है कि जो द्रव्य बहु प्रदेशी हैं उनके विस्तार-रूप प्रदेशोंके समूहको तिर्यक् प्रचय कहते हैं। सब द्रव्योंमें समय समय जो पर्यायें होती हैं उन पर्यायोंके समूहको ऊर्ध्व प्रचय कहते हैं। फिर यह बताया है कि जिसके एक भी प्रदेश न होगा वह द्रव्य नहीं होसक्ता वह शून्य होगा। आकार विना किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं रह सक्ती है। इस तरह छ द्रव्योंका स्वरूप दिखाते हुए विशेष ज्ञेयोंका कथन किया-आगे दिखलाया है कि ससारी जीव किसी भी शरीरमें आयु श्वासोश्वास इंद्रिय तथा बल ऐसे चार व्यवहार प्राणोंके निमित्तसे जीते रहते हैं। इन प्राणोंके द्वारा मोह रागद्वेषसे वर्तन करते हुए कर्मोंके फलको भोगते हैं फिर नवीन द्रव्यकर्मोंको बांध लेते हैं। फिर यह बताया है कि जबतक यह ससारी आत्मा शरीरादिसे ममता नहीं छोडता है तबतक प्राणोंका वारवार ग्रहण करना मिटता नहीं अर्थात् यह जीव एक भवसे दूसरे भवमें भ्रमण किया करता है। परन्तु जो इंद्रियविजयी होकर इन कर्मोंके शुभ अशुभ फलमें रजायमान न हो और अपने आत्माको ध्यावे तो द्रव्य प्राणोंका सबध अवश्य छूट जावे। इस तरह सामान्य भेदज्ञानको कहकर विशेष भेदज्ञानको कहा है कि नरनारकादि अवस्थाएं नाम कर्मके उदयसे होती हैं-जीवका स्वभाव नहीं है। जो इस तरह वस्तुके स्वभावको समझता है वह अन्य अशुद्ध अवस्थाओंमें व

परद्रव्योंमें मोह नहीं करता है। फिर आत्माके उपयोगकी तीन अवस्थाओंको बताया है कि यदि इसका उपयोग अरहतादिकी भक्तिमें व दया दान आदिमें लीन होता है तो इसके शुभोपयोग होता है जिससे यह जीव मुख्यतासे पुण्यकर्मोंसे बन्ध जाता है। जब इसका उपयोग इद्रिय विषयोंमें--क्रोधादि कषायोंमें उलझा होता है तथा दुष्ट चित्त, दुष्ट वचन, दुष्ट कायचेष्टा, हिंसा आदि पापोंमें फसा होता है तब उसके अशुभोपयोग होता है जिससे यह जीव पापकर्मोंको बांधता है और जब इसके ये दोनों ही उपयोग नहीं होते तब यह सर्व परद्रव्योंमें मध्यस्थ होकर अपने शुद्धात्माको ध्याता हुआ यह विचारता है कि मैं शरीर वचन मनसे भिन्न हू--न मैं निश्चयसे उनका कर्ता हू, न करानेवाला हू, न अनुमोदक हू ये पुद्गलसे बने हुए हैं, मैं पुद्गलसे भिन्न हू तब इसके निर्विकल्प समाधि होती है उस समय यह जीव शुद्धोपयोगी होता है। यही शुद्धोपयोग बधसे छुड़ानेवाला है। यहा प्रकरण पाकर यह कहा है कि पुद्गलके परमाणुओंका दो गुणाश अधिक स्निग्धता या रूक्षताके होनेपर परस्पर बध होजाता है। इसी बंधके कारणसे औदारिक, कार्माण आदि शरीरोंके स्कध बनते हैं। यह लोक सूक्ष्म कार्माण वर्गणाओंसे सर्व तरफ भरा हुआ है। वे स्वय जीवके अशुद्ध उपयोगका निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्म रूप होजाते हैं। उन्हीं कर्मोंके उदयसे चार गतियोंमें शरीर व इद्रियें आदि बनती । इस कारण यह आत्मा किसी भी तरह स्वभावसे शरीर व द्रव्य कर्मोंका कर्ता नहीं है-वे भिन्न हैं, आत्मा भिन्न [illegible] अमूर्तीक है, चेतन्य गुणमई है. इद्रियोंके द्वारा [illegible] है, किन्तु स्वानुभवगम्य है

फिर यह बताया है कि आत्माके साथ जो कर्मोका बंध होता है सो असम्भव नहीं है । जैसे आत्मा रागद्वेषपूर्वक मूर्तीक द्रव्योंको जानकर ग्रहण करता है वैसे रागद्वेषसे बन्ध भी होजाता है। जैसे मादक पदार्थ जड होनेपर भी आत्माके ज्ञानमें विकार कर देता है वैसे मूर्तीक कर्म भी अशुद्ध आत्मामें विकार कर देते हैं। वास्तवमें बंधके तीन भेद हैं। जीवके रागादि निमित्तसे पूर्वबद्ध पुद्गलोंके साथ नए कर्मपुद्गलोंका स्निग्ध रूक्ष गुणके द्वारा बंध होता है इसको पुद्गलबंध कहते हैं। जीवका रागादिरूप परिणमन सो जीवबंध है। तथा आत्माके प्रदेशोंमें अनन्तानन्त कर्म पुद्गलोंका परस्पर अवगाहरूप रहना सो जीव पुद्गलबन्ध या उभयबन्ध है। यदि यह जीव रागी, द्वेषी, मोही न हो तो कोई भी बन्ध न हो। रागी कर्मोको बांधता है व वीतरागी कर्मोंसे छूटता है। इस जीवको वैराग्यभाव लानेके लिये शुद्ध निश्चयनयके द्वारा विचारना चाहिये कि पृथ्वी आदि छ कायके जीवोंकी पर्यायें आत्माके स्वभावसे भिन्न हैं अर्थात् मैं निश्चयसे पृथ्वी आदि स्थावर काय तथा त्रसकायसे भिन्न शुद्ध चैतन्यमय हूं। जो अज्ञानी आत्माके शुद्ध स्वभावको नहीं पहचानते हैं वे अहंकार व ममकार करते हुए अपने रागद्वेष मोह भावके कर्ता हो जाते हैं–आत्मा कभी भी पुद्गल कर्मोंका कर्ता नहीं होता है। जब यह अपने अशुद्ध भाव करता है तब कर्मकी धूल स्वयं चिपट जाती है और जब यह शुद्धभाव करता है तब कर्मकी धूल आप ही छूट जाती है। जो मुनि होकर भी शरीरादिमें ममता न छोडे वह कभी भी समताभावरूप भावमुनिपनेको नहीं पासक्ता है,

रन्तु जो ऐसा अनुभव करता है कि न मैं पर रूप हू, न पर मुझ रूप है, न मैं परका हू, न पर मेरा है–मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव र वही आत्मध्यानी होता है और वही अपने आत्माको अतींद्रिय, नेरालम्ब, अविनाशी, वीतरागी, ज्ञानदर्शनमय अनुभव करता है। यह अपने एक शुद्ध आत्माको ध्रुव मानके सर्व सासारिक सुख दुःख, रुपया पैसा, भाई, पुत्र, मित्र, स्त्री, शरीरादिको अपनेसे भिन्न अनित्य जानता है। इस तरहँ शुद्ध आत्माका भेदज्ञानपूर्वक अनुभव करते हुए श्रावक या मुनि दर्शनमोहका क्षयकरके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होजाता है। फिर यदि श्रावक है तो श्रावकके व्रतोंसे स्वानुभवकरके चारित्रमोहका बल घटाता है व फिर मुनि होकर समताभावमें लीन हो जाता है। मुनि महाराज पहले धर्मध्यानसे फिर क्षपकश्रेणी चढ शुक्लध्यानसे परम वीतरागी होते हुए चारित्रमोहका क्षय कर देते हैं पश्चात् तीन घातिया कर्मोंका भी नाशकर अनन्त दर्शन, ज्ञान, वीर्य तथा अनन्त सुखको पाकर अरहत परमात्मा होजाते है। अरहत भगवानको अब ध्यानका फल परमात्मपद प्राप्त होगया। उनको अब चित्त निरोध करके किसी ध्यान करनेकी जरूरत नहीं रहती है–वे निरन्तर आत्माके शुद्ध स्वभावके भोगमें मगन रहते हुए अतींद्रिय आनन्दका ही स्वाद लिया करते हैं–उनके शेष कर्मोकी निर्जरा होती है इससे उनके उपचारसे ध्यान कहा है।

अन्तमें आचार्यने बताया है कि जो रागद्वेष छोडकर व वीतरागमई मुनिपदमें ठहरकर निश्चय रत्नत्रयमई निज शुद्ध आत्माके ध्यान करनेवाले हैं वे मुनि सामान्यकेवली या तीर्थंकर

होकर सिद्ध परमात्मा होजाते हैं तब वे अनन्तकालके लिये परमसुखी होजाते हैं। उन सर्व भूत भविष्य व वर्तमान सिद्धोंको मैं उनकी भक्ति करके इसलिये नमस्कार करता हूं कि मैं उनके पदपर पहुच जाऊ तथा मैं उस मोक्षमार्गको भी वारवार भाव और द्रव्य नमस्कार करता हू जिससे भव्य जीव सिद्धपद पाते हैं।

इस ज्ञेय अधिकारका तात्पर्य यह है कि हरएक भव्य जीवको उचित है कि वह अपने आत्माको व जगतके भीतर विद्यमान छ द्रव्योंके स्वभावोंको समझे फिर यह जाने कि मेरा आत्मा क्यों ससारमें भ्रमण करता है। भ्रमणका कारण कर्मका बध है। कर्मका बध अपने अशुद्ध रागद्वेष मोह भावोंसे होता है तथा कर्मोंसे मुक्ति वीतराग भावसे होती है और वह वीतराग भाव भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रूप सर्व कर्मोंसे भिन्न शुद्ध आत्माके अनुभवसे पैदा होता है, ऐसा जानकर भेदविज्ञानका अभ्यास करे कि मैं भिन्न हू और ये रागादि सब भिन्न हैं। इस भेद विज्ञानके अभ्याससे ही परिणामोंमें विशुद्धता बढ़ जायगी और धीरे २ सर्व मोहका क्षय होकर यह आत्मा शुद्ध हो जायगा। भेदविज्ञानसे ही स्वात्मानुभव या स्वात्मध्यान होता है। आत्मध्यान ही कर्मोंको जलाकर आत्माको शुद्ध परमात्मा कर देता है। सिद्धिका उपाय एक भेद विज्ञान है जैसा समयसारकलशमें आचार्य अमृतचन्द्र महाराजने कहा है —

भावयद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ ५ ॥ ६ ॥
भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥ ७ ॥

मेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्वोपलम्भा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
विभ्रतोष परमममलालोकमम्लानमेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥ ८ ॥

भावार्थ-धारावाही लगातार मेदविज्ञानकी भावना करते रहना चाहिये, उस वक्त तक जबतक कि ज्ञान ज्ञानमें न प्रतिष्ठित हो जावे अर्थात जबतक केवलज्ञान न हो, बराबर मेदविज्ञानकी भावना करता रहे। आजतक जितने जीव सिद्ध हुए हैं सो सब मेदविज्ञानके प्रतापसे सिद्ध हुए हैं और जिनको मेद विज्ञानका लाभ नहीं हुआ है वे सब बंधे पड़े हैं। भेदज्ञानके बारबार दृढ़तासे अभ्यास करनेसे शुद्ध आत्मतत्वका लाभ या ध्यान होता है-शुद्धात्मध्यानसे रागद्वेषका ग्राम नष्ट होजाता है। तब नए कर्मोंका संवर हो जाता है तथा पूर्वकर्मकी निर्जरा होकर परम संतोषको रखता हुआ निर्मल प्रकाशमान शुद्ध एक उत्कृष्ट केवलज्ञान निरंतर अविनाशीरूपसे स्वाभाविक ज्ञानमें उद्योतमान रहता है। इस लिये हरएक भव्यजीवको अपना नरजन्म दुर्लभ जान इसको सफल करनेके लिये स्याद्वादनयके द्वारा अनंत स्वभाववाले जीवादि पदार्थोंका स्वरूप जिनवाणीके हार्दिक अभ्यास व मननसे जान लेना चाहिये व जानकर उनपर अटल विश्वास रखकर उनका मनन करनेके लिये निरन्तर देवभक्ति, सामायिक, स्वाध्याय, गुरुजन संगति, संयम व दानका अभ्यास करना चाहिये। इसीके प्रतापसे जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त होजाता है तब आत्माका भीतर झलकाव होता है और अतीन्द्रियआनन्दका स्वाद आता है।

इस आनन्दकी वृद्धिके लिये वह सम्यग्दृष्टी निराकुल होनेके लिये श्रावकके चारित्रको पालता हुआ स्वानुभवके अभ्यासको बढाता रहता है। जब उस आत्मानदके सम्यक् भोगमें परिग्रहका सम्बन्ध बाधक प्रतीत होता है तब सर्व वस्त्रादि परिग्रहको छोड अट्ठाईस मूल गुणको धारकर साधु होजाता है। साधुपदमें शरीर मात्रको आहारपानका भाडा दे उसके द्वारा अनेक कठिन २ तप करके ध्यानकी शक्तिको बढ़ाता जाता है। आत्मध्यानके प्रतापसे ही यदि तद्भव मोक्ष होना होता है तो उसी भवसे मुक्त होजाता है, नहीं तो स्वर्गादिमें जाकर परम्पराय मुक्तिका लाभ करता है। यद्यपि इस पञ्चमकालमें यहा भरतक्षेत्रमें मुक्ति नहीं है तथापि हम धर्मके प्रतापसे विदेहक्षेत्रमें मनुष्य होकर शीघ्र ही मुक्त हो सक्ते हैं। अब भी इस भरतक्षेत्रमें सातवा गुणस्थान है, मुनि योग्य धर्मध्यान है। इसलिये प्रमाद छोड़ सयमकी रस्सी पाकर आत्म-ध्यानके बलसे मोक्षके अविनाशी महलमें पहुचनेका पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। श्री समयसारकलशमें कहा है —

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्याम् ।
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ॥
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥२१॥११॥

भावार्थ—जो स्याद्वादके ज्ञानमें कुशल होकर सयम पालनेमें निश्चल होता हुआ निरन्तर उपयोग लगाकर अपने आत्माको ... है, वही एक ज्ञान और चारित्रकी परस्पर मित्रताका पात्र होता हुआ इस मोक्षमार्गकी भूमिका आश्रय करता है।

इसलिये इस ग्रन्थके पाठकोंको उचित है कि तत्त्वज्ञान प्राप्तकर श्रद्धासहित चारित्र पालते हुए निज आत्माका अनुभव करें इसीसे ही वर्तमानमें भी सुख शांति मिलेगी और भविष्य जीवन भी सुखदाई होगा।

इस प्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य कृत प्राकृत ग्रन्थकी श्री जयसेनाचार्य कृत संस्कृत टीकाके अनुसार इस प्रवचनसार महा ग्रंथके दूसरे अध्यायकी भाषाटीका ज्ञेयतत्वप्रदीपिका नाम पूर्ण हुई।

मिती कार्तिक वदी ८ वि० स० १९८० गुरुवार ता० १-११-१९२३।

भाषाकारका कुछ परिचय ।

इन्द्रप्रस्थके निकट है, गुड़गावा शुभ देश ।
फर्रुखनगर सुहावना, धर्मी बसत हमेश ॥ १ ॥
अग्रवाल क्षत्री सुकुल, वैश्य कर्मवश जान ।
गोयल गोत्र महानमें, रायमल्ल गुणवान ॥ २ ॥
अवध देश लक्ष्मणपुरी, धन कण कंचन पूर ।
वाणिज हित आए जहां, रायमल्ल चल दूर ॥ ३ ॥
बसे तहा उन्नति करी, धन गृह कीर्ति अपार ।
तिन सुत मंगलसेनजी, विद्यागुणभंडार ॥ ४ ॥
जैनतत्त्वमर्मी बड़े, अध्यातम रस सार ।
पीवत हरदम अध्यात्ममय, समयसार सुखकार ॥ ५ ॥
तिनसुत मक्खनलालजी, गृहकारजमें लीन ।
भार्या परम पतिव्रता, गृहरक्षण परवीन ॥ ६ ॥
चार पुत्र तिनके भए, सतलाल वर जान ।
वर्तमान व्यापाररत, सुत दारा युत मान ॥ ७ ॥
तृतीय पुत्र लेखक यही, सना सीतल धार ।
मात नारायण देविको, अतिप्रिय सेवक सार ॥ ८ ॥
विक्रम उन्निस पैतिसा, जन्म सु कार्तिक मास ।
मात पिताकी कृपासे, धर्मप्रेम कुछ भास ॥ ९ ॥
किंचित् विद्या पायके, भानो जिनमत सार ।
रचि वाढी अध्यात्मरी, सुख शांति भंडार ॥ १० ॥
बत्तिस वय अनुमानमें, गृह तजि श्रावक होय ।

धर्म कार्य्यमें चित दियो, आतम गुण अवलोय ॥ ११ ॥
विक्रम अस्सी उनविसा, वरषाकाल विचार।
यहां धर्मसाधन बने, यह विचार उर धार ॥ १२ ॥
इन्द्रप्रस्थके निकट ही, पानीपथ सुखदाय ॥
जल्पथ भी याको कहैं, पाडुपुराण बताय ॥ १३ ॥
पाडुतनय राजा नकुल, राज करैं इस धाम।
जैन धर्म परभावना, करत अर्थ वृष काम ॥ १४ ॥
प्रजा मगन आनन्दमें, व्याधि शोक नहिं होय।
श्री नेमिनाथके तीर्थमें, निर्वाणा सब लोय ॥ १५ ॥
पानीपथ बहु कालसे, रह्यो नग्र आबाद।
जैन नृपति हिन्दू धनी, हुए बेमरजाद ॥ १६ ॥
कालचक्रके फेरसे, मुसलमान अधिकार।
वीर युद्ध या क्षेत्रमें, हुए सुयशकरतार ॥ १७ ॥
पन्द्रासे छव्वीस सन्, सुलतां इब्राहीम।
बाबरशाहसे युद्ध कर, मरो यहा अति भीम ॥ १८ ॥
सन् पन्द्रासे छप्पना, हीमू हिन्दू वीर।
सज्ञा विक्रमजीत धर, घेरो जल्पथ धीर ॥ १९ ॥
अकबर सेना भिड़ गई, खूब लड़ी मदधार।
अन्त सबल भागत भयो, अकबर पुन अधिकार ॥ २० ॥
सन सत्रासे इकसठा, मरहटा दल आय।
पानीपथमें अड़ गया, बहुविध सैन्य जमाय ॥ २१ ॥
शाह अहमदादुर्रानी, लड़ो बहुत रिसवाय।
मरहटा भागे तभी, छोड़ खेत अकुलाय ॥ २२ ॥

माहदजी सिंधिया, था बलवान अपार ।
मरहटा दल लेयकर, फिर आयो इकबार ॥ २३ ॥
कर अधिकार वासा लियो, दिल्ली नृप वश कीन ।
बहुतकाल इस देशमें, राखी शक्ति प्रवीन ॥ २४ ॥
अठारहसे तीनमें, बृटिश कियो अधिकार ।
जैनी जन ह्यां बहु रहैं, धन कण कंचनधार ॥ २५ ॥
बाईस जिन मंदिर भले, पूजा शास्त्र सुहाय ।
कालदोष सब क्षय गए, नूतन चार लगाय ॥ २६ ॥
इनमें भी प्राचीन अति, दुर्ग समान अनघ ।
पंचनकृत श्री पार्श्वको, धाम जजत सब संघ ॥ २७ ॥
तिनमें उन मंदिरनकी, प्रतिमा हैं प्राचीन ।
कोईएक संवत बिन रचैं, अति प्राचीन स्वलीन ॥ २८ ॥
द्वितीय लघु दिल्ली धनी, सुगनचंद सतलाल ।
कियो भद्रा रचि पायके, सफल हुओ धन काल ॥ २९ ॥
तृतीय बनो बाजारमें, अति सुहाय शुभ दाय ।
बनवारी हैं चौधरी, लक्ष्मी सफल कराय ॥ ३० ॥
चौथा शुभ मंदिर रचो, हुन्दीलाल सुजान ।
नरनारी सब देहरे, सेवत धर्म महान ॥ ३१ ॥
तीनशतक गृह बसरहे, जैनी अग्गरवाल ।
परम दिगम्बर सब सुखी, नर नारी अर बाल ॥ ३२ ॥
मुखिया बद्रीदासके, सुत हैं लक्ष्मीचन्द ।
वीरराय पदवी धरैं, धर्मातम सुखकन्द ॥ ३३ ॥
द्वितीय चिरंजीलाल है, सरल चित्त धनवान ।

लाला परमानन्दजी, रावेलाल महान ॥ ३४ ॥
लाला मन्सूदन सुधी, सुगन्धचन्द वृषधार ।
लाला बनवारी रहें, सुलतासिंह सुकार ॥ ३५ ॥
धर्मी पडित बुद्धिमय, सिंह रूवूल सुहाय ।
भ्राता पडित रामजी, लाल सबहिं सुखदाय ॥ ३६ ॥
पंडित श्री अरदासजी, जीयालाल प्रवीण ।
पडित फुलमारी भले, भीखमचन्द अदीन ॥ ३७ ॥
फूलचन्द पंडित सुधी, आदिक जैनीलाल ।
विद्यारत रूपचन्दजी, मुनिसुव्रत श्रीपाल ॥ ३८ ॥
जय भगवान सुतत्त्व विद, धर्मी बी०ए० सार ।
जयकुमार उपकार कर, बड इस्कूल मझार ॥ ३९ ॥
इन आदिकके प्रेमवश, जलपथ वर्षाकाल ।
धर्मकथा गोष्टी शुभग, सतसगतिमें टाल ॥ ४० ॥
अवसर पाय सुहावनो, भाषा रची बनाय ।
ज्ञेयतत्त्वकी दीपिका प्रवचनसार सुहाय ॥ ४१ ॥
श्री कुन्दकुन्द ज्ञाता बडे, सूत्र सुप्राकृत कीन ।
श्री सूरी जयसेनकृत, सम्कृतवृत्ति प्रवीन ॥ ४२ ॥
ताकी धर अनुकूलता, बालबोध लिख सार ।
निज आतमकी भावना, करी सुमिस यह धार ॥ ४३ ॥
कार्तिक वदि अष्टम दिना, दिवस गुरु सुखकार ।
कर समाप्त हर्षित हुओ, रुचि अध्यातम धार ॥ ४४ ॥
पढ सुनें नरनारि , रुचि अध्यात्म ।
चढ नौका निज आत्म ॥ ४५ ॥

हो प्रकाश या रत्नका, घर घर सब संसार ।
जासें सब निज आत्मको, पावें रहस विचार ॥ ४६ ॥
वृद्धि होय या थानकी, जहां ग्रन्थ उत्पाद ।
ईत भीति सब ही टलें, क्लेश होय सब बाद ॥ ४७ ॥
मंगल श्री अरहंत हैं, मंगल सिद्ध महान ।
नमस्कार मन वच करूं, तन नमाय कर ध्यान ॥ ४८ ॥
आचारज उवझायवर, सर्व साधु चित लाय ।
परमयमी निमके रमी, गुणसागर उर ध्याय ॥ ४९ ॥
परम भावना यह करूं, सुखी होय संसार ।
सुखसागरमें रमनकर, निज गुण परखें सार ॥ ५० ॥
तत्त्वज्ञान सुहावना, परमशांति दातार ।
'शीतल' जिनका शरण ले, राखूं हिय सुखकार ॥ ५१ ॥

इति ॥　　　ता० १-११-२३

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद,
पानीपत, जि० करनाल (पंजाब)